'आधुनिक हिन्दी काव्य में भक्ति चेतना का स्वरूप : निराला के विशेष सन्दर्भ में ।'

डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
प्रो० राजेन्द्र कुमार वर्मा
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय.
इलाहाबाद

अनुसंधाता
दिवाकर मिश्र
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

1995

:: **अर्पण** ::

जीवन के मरूस्थल में

कविता सी संवेदना

वत्सल – निर्झर

मां, पार्वती को – और सत्य – संघर्ष

दिया जिन पूज्य पिता ने

उनके श्री चरणों में

अर्पित

सत्व, स्वेद यह ---------।

दिवाकर मिश्र (बचना)

भूमिका

– : भूमिका :–

"भक्ति–तत्व" मानवीय - आत्म चेतना की परानुरक्ति का ऐसा सहज प्रकाशन है, जो अखिल विश्व सर्जना के कारण भूत परमात्म–तत्व के प्रति रागात्मक सम्बन्ध के विविध पक्षों द्वारा अभिव्यंजित किया जाता है। भक्ति–मार्ग का भारतीय धर्म साधना नें अपना विशिष्ट सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक महत्व रहा है। भक्ति में सर्व प्रथम सेवा भावना जागृत होती है, जिसका सम्बन्ध हृदय से है। भक्ति - शास्त्र के आचार्यों ने भी भक्त के लिए जिन तत्वों का निरूपण किया उसमें परमअनुरक्ति, परमप्रेम के साथ अहेतुकी भाव को ही महत्व प्रदान किया है। भारतीय धर्म -चेतना के इतिहास में भक्ति का स्थान सर्वोपरि है। क्योंकि भक्ति मुक्तिदायिनी है। परम सत्य से एकाकार भी इसी पथ पर चलते रहने से सम्भव है। भक्ति ही हृदय को निर्मल, निःस्वार्थ तथा पवित्र बनाती है, और सबमें धर्म, क्षमा, आज्ञाकारिता, कष्ट सहन और साहस तथा सद्‌भावना के गुणों का विकसित करने वाली संजीवनी शक्ति है।

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। विज्ञान प्रजनित इस नई सभ्यता में जहाँ एक ओर रूढ़िवादिता का पतन हुआ, वहीं दूसरी तरफ अनेकों सामाजिक समस्याओं का जन्म भी हुआ। फलस्वरूप सामाजिक संबंध विघटित होने लगे। मानसिक और सामाजिक तनाव के कारण आक्रोश, निराशा, संघर्ष, विसंगति, आत्महत्या आदि अपराध समाज और जीवन को विघटित करने लगे, जिसके कारण परस्पर स्नेह, सौहार्द्र. परोपकार, त्याग, दया, सहयोग तथा सहानुभूति जैसे मानवीय विचारों का अवमूल्यन होने लगा। मानव से मानव के बीच बढ़ती ये दूरी एक कुरूप समस्या थी इसी समस्या पर विचार करते हुए गुप्त जी ने कहा है कि "हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी।" स्पष्ट है आधुनिक काल जातिगत विरोधों एवं जीर्ण–शीर्ण मान्यताओं के अनुपालन से टूटता जा रहा था।

भक्ति ही मनुष्य को सब बन्धनों से मुक्त कर जीवन की साधना का अमृतोपम फल प्रदान करती है। भक्ति के क्षेत्र में न कोई बड़ा है न छोटा। वह जाति बन्धनों से परे साम्य मूलक है। उसे साधने का सबको समान अधिकार है। उसका एक मात्र आधार प्रेम है। जिसकी व्याप्ति सर्वत्र है। यही कारण है कि धर्म मानव समाज के जीवन स्तर

को उदात्त बनाने तथा सकीर्ण भावनाओ को हटाकर उदार एवं उन्नत तथा विशाल भावनाओ का उद्रेक करने में समर्थ होता है।

आधुनिक कवियों न भारत की इसी औपनिषदिक ज्योति के प्रकाश तथा "वसुधैवकुटुम्बकम्" की विशाल सांस्कृतिक परम्परा को आधार भूमि बनाकर देशवासियों को चाहे वह किसी भी वर्ण या जाति के हो, को एकीकरण के सूत्र में आबद्ध करने का प्रयत्न किया। भक्ति से सम्बद्ध इतनी सामग्री विद्वानों ने प्रस्तुत कर दी है कि उस पर नये सिरे से कुछ कह पाना कठिन है। लेकिन आधुनिक युग के कवियो में भक्ति चेतना के सन्दर्भित विषय पर अध्येताओं की दृष्टि सामान्य रही है, इस प्रबन्ध में मेरा यह प्रयास रहा है कि सही ढंग से आधुनिक कवियों की भक्ति परक चेतना को समझा जा सके।

"प्रस्तुत प्रबन्ध में आधुनिक हिन्दी काव्य में व्याप्त भक्ति चेतना" की विवेचना प्रस्तुत है। अध्ययन की सुविधा के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध को छ. अध्यायों में विभक्त किया है।

प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में मैंने भक्ति चेतना का स्वरूप और विकास निश्चित करते हुए, भक्ति के प्रकार तथा मध्यकाल में स्वीकृत स्वरूप को रेखांकित किया है। जिसमें भक्ति की परिभाषा और हिन्दी साहित्य में उसकी विवृत्ति किस प्रकार हुई, इसकी चर्चा है। अन्त में भारतेन्दु पूर्व भक्ति के स्वरूप विकास की कथा को व्यक्त करने के लिए वेद, उपनिषद्, पुराण आदि ग्रन्थों में भक्ति तत्व को खोजने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक है "भारतेन्दु युग में भक्ति चेतना का स्वरूप" इसमें भारतेन्दु के युग, प्रवाह और परिवेश के बीच भक्ति के स्वरूप को ढूढने का प्रयास किया गया है। साथ ही साथ भारतीय नवजागरण के प्रभाव स्वरूप परम्परागत भक्ति के स्वरूप में हुए परिवर्तन एवं उसके नवीन स्वरूप की व्याख्या की गयी है।

तृतीय अध्याय में द्विवेदी युगीन काव्य और भक्ति चेतना पर प्रकाश डाला गया है। इसके मूल में भक्ति के सन्दर्भ में द्विवेदी युगीन कवियों का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया

गया है, जो आधुनिक परिवर्तित भक्ति के नवीन स्वरूप को समझने में सहाय्य है। प्रस्तुत अध्याय में भारतेन्दु युग में जन्मी आधुनिक राष्ट्रीय चेतना पर भी चर्चा की गयी है जा द्विवेदी युग में अपना विशेष महत्व रखती है।

चतुर्थ अध्याय का शीर्षक है ''छायावादी काव्य में भक्ति चेतना का स्वरूप'' इस अध्याय में छायावाद की भूमिका तथा इस युग में भक्ति के परम्परागत स्वरूप का सम्यक अनुशीलन किया गया है। साथ ही यहां छायावादी कवियों की भक्ति चेतना के आलम्बन और उसके आयामों को भी दर्शाने का प्रयास किया गया है। आधुनिक काव्य में भक्ति चेतना की विभिन्न युगों में आलम्बन के क्या-क्या रूप रहें हैं इसे भी इस अध्याय में स्पष्ट किया गया है।

पंचम अध्याय विवेच्य कवि निराला से सम्बन्धित है। इस अध्याय में निराला के व्यक्तित्व एवं संस्कार पर प्रकाश डालते हुए उनके काव्य विकास को स्पष्ट किया गया है। निराला के काव्य में पड़े विविध प्रभावों की भी चर्चा की गयी है, साथ ही साथ छायावाद की भक्ति चेतना और पूरे आधुनिक सन्दर्भ को भक्ति का संस्कार देने में निराला का क्या योगदान रहा है इसे भी स्पष्ट करने का प्रयास सम्मिलित है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का षष्ठ अध्याय ''उपसंहार'' के अन्तर्गत संक्षेप में आधुनिक हिन्दी काव्य में भक्ति चेतना की विभिन्न युगों में परिवर्तित धारा को स्पष्ट किया गया है। इसी प्रसंग में महाकवि निराला की भक्ति के सभी आयामों को सारबद्ध रूप में अंकित करने का प्रयास भी किया गया है। अन्त में निराला का वैशिष्ट्य को इंगित करते हुए इसे पूर्णता प्रदान की गयी है।

इस प्रबन्ध के अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत प्रतिनिधि काव्य रचनाएँ, सहायक ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाएँ आदि की अकारादि क्रम से एक सूची भी दी गयी है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध श्रद्धेय गुरूवर प्रो0 राजेन्द्र कुमार वर्मा के निर्देशन में पूर्ण करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसके अन्तिम रूप तक की समस्त प्रक्रिया उनके

स्नेह तथा आशीर्वाद का ही प्रतिफलन है। उनके प्रति शिष्टाचार और कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए लेखनी पूर्णतया अक्षम है और न मैं औपचारिक तथा व्यावहारिक शब्दो के माध्यम से आभार व्यक्त कर परम्परा–पालन का कार्य पूर्ण करना चाहता हूँ।

प्रारम्भ में प्रो० मीरा श्रीवास्तव ने भी समय–समय पर जो स्नेह एवं सुझाव दिया है। उनके प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। इनके अतिरिक्त इस प्रबन्ध को पूरा करने में मेरे पिता श्री अखिला नन्द मिश्र और माँ श्रीमती पार्वती मिश्रा के स्नेहिल योगदान को भी अस्वीकार नहीं कर सकता।

कुमारी सन्ध्या शर्मा शोध छात्रा जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय दिल्ली ने भी इस कार्य में मेरी सहायताएं की हैं। अतः उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। मैं उन समस्त सुहृदों के प्रति भी हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इस कार्य के लिए निरन्तर प्रेरित किया।

अनुसन्धान कार्य में अनेक विद्वानों के ग्रन्थों और लेखों से शोधकर्ता ने लाभ उठाया है वह उन सभी विद्वानों का अनुगृहीत है।

दिवाकर मिश्र
16/11/9[illegible]
दिवाकर मिश्र
शोध–छात्र, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

-: विषय सूची :-

चतुर्थ अध्याय **पृष्ठ संख्या**

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

प्रथम अध्याय

भक्ति चेतना का स्वरूप विकास

1. भक्ति का अर्थ और स्वरूप
2. भक्ति के प्रकार
3. मध्यकाल तक भक्ति का विकास
4. भक्तिकालीन भक्ति काव्य की धारायें–निर्गुण और सगुण
5. भक्ति काव्य की चेतना का स्वरूप–आधुनिक युग तक

1. भक्ति का अर्थ और स्वरूप

चिन्तन का क्रम निरन्तर प्रवाहमान धारा के अनुरूप होता है। इसलिए उसका रूप सदैव एक–सा नहीं होता। अनेक ऐसे शब्द होते हैं, जिन्हें एक निश्चित अर्थ का वाहक स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु समय के बदलाव के साथ उनके आशय मे "भक्ति" शब्द को भी लिया जा सकता है। "भक्ति" शब्द संस्कृत के भज् धातु से लिया गया है जिसका अर्थ है सेवा करना। इसी में "क्ति" प्रत्यय जोड़कर भक्ति शब्द बनाया गया "क्ति" से आशय है – प्रेम। स्पष्ट है कि भक्ति भज् (सेवा) और क्ति (प्रेम) के योग का परिणाम है और यह शब्द धातु तथा प्रत्यय के सम्मिश्रण से अपने अर्थ को ध्वनित करता है। इस सूत्र को सर्वप्रथम पाणिनि ने विवेचित किया।[1] "भजनं भक्तिः" भज्यते अनया इति भक्ति, भजन्ति अनया इति भक्तिः, भजसेवायाम् भक्तिः आदि इसकी व्युत्पत्तियाँ हैं।

भक्ति का स्वरूप और विकास :–

भक्ति के स्वरूप को निर्धारित करते समय अनेकों प्रश्न उठते हैं। भक्ति भाव है या विचार, ज्ञान, कर्म से पृथक है या उन्हीं के साथ संपृक्त? क्या भक्ति ज्ञान से निरपेक्ष होते हुए भी ज्ञानमय है? भक्ति नितान्त अनावृत्त है या रहस्यमय है। अतः भक्ति जितनी ही सहज है उतनी ही कठिनाई से साध्य है। सम्भवतः सेवा को मानसिक आध्यात्मिक आधार प्रदान करने के लिए उसमें प्रेम भावना को आवश्यक माना गया । क्योंकि सेवा स्वयं में सर्वोपरि गुण नहीं, उसके प्रयोजन में अन्तर हो सकता है इसलिए उस सेवा भाव को महत्व प्रदान किया गया जिसमें प्रेम केन्द्रीय भावना हो। के0डी0 भारद्वाज ने रामानुज के दर्शन पर विचार करते हुए लिखा है कि "भक्ति ईश्वर में हमारे समस्त शारीरिक और मानसिक क्रिया व्यापारों का केन्द्रीयकरण

है।[1] रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि 'जहाँ से कर्म मे हृदय तत्व को कुछ अधिक देने की प्रवृत्ति हुई, वहीं से भक्तिमार्ग का आरम्भ मानना चाहिए।[2]

भक्ति की विस्तृत एवं शास्त्रीय व्याख्या प्राचीन मनीषियों ने की है। भगवद्गीता के रचयिता तथा भक्तिशास्त्र के आचार्यो - शांडिल्य, नारद एव अन्यान्य चिन्तकों ने भक्ति के स्वरूप को अपने अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयास किया। शांडिल्य ने भक्ति उसे कहा जिसमें सतत एकान्त भाव से ध्यान लगा हो -

ध्याननियमस्तु दृष्ट सौकर्यात् ।[3]

गीता को ही प्रमाणित ग्रंथ मानते हुए 'सैकान्त भावो गीता प्रत्यभिज्ञानात्[4] ईश्वर के प्रति समर्पण भाव को ही सच्ची भक्ति कहते हैं। 'अबन्धोऽर्पणस्यमुखम्[5] आगे भक्ति के स्वरूप को और अधिक सपष्ट करते हुए उनका कहना है कि ईश्वर के महत्व का ध्यान और अपनी समस्त क्षमताओं को उसी की प्राप्ति में लगा देना और प्रभु तथा प्रभु के भक्त की सेवा करना ही भक्ति है। ऐसी अवस्था के प्राप्त होते ही भक्ति कर्म, ज्ञान और योग से भी उच्च हो जाती है।

तदेव कर्मिज्ञानियोगिम्य आधिक्यशब्दात् ।[6]

नारद के अनुसार भक्ति का स्वरूप गुणरहित, कामना और आकांक्षा रहित प्रतिक्षण विकसित होने वाली अविच्छिन्न और सूक्ष्मतर अनुभव है

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमान विच्छिन्नं सुक्ष्मतर मनुभवरूपम्।[7]

ऐसी भक्ति प्राप्त हो जाने के पश्चात् मनुष्य सिर्फ उसे ही देखता है, उसी का श्रवण करता है, उससे ही कहता है, उसका ही चिन्तन करता है।[8] नारद द्वारा प्रतिपादित

---

1. के0डी0 भारद्वाज- द फ़िलासफ़ी ऑफ रामानुज - पृ0 138
2. रामचन्द्र शुक्ल - सूरदास - पृ0 - 18
3. शांडिल्य, भक्तिसूत्र - 65
4. शांडिल्य, भक्तिसूत्र - 83
5. शांडिल्य, भक्तिसूत्र - 64
6. शांडिल्य, भक्तिसूत्र - 22
7. नारद, भक्तिसूत्र - 54
8. तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेवश्रृणोति, तदेवभाषयति तदेवचिन्तयति
   - नारद, भक्तिसूत्र - 55

भक्ति के स्वरूप से सम्बन्धित उनके प्रारम्भिक पांच सूत्र इस सन्दर्भ में विशेष महत्व रखते हैं। जिससे भक्ति का स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

1. सात्वस्मिन परम प्रेमरूपा।[1]

2. अमृत स्वरूपा च।[2]

3. यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धोभवति, अमृतोभवति, तृप्तोभवति।[3]

4. यत्प्राप्य न किंचिद्वांछति न शोचति नद्वेष्टि नरमतेनोत्साही भवति।[4]

5. यज्ज्ञात्वा भक्तो भवतिस्तब्धो भवति आत्मारामो भवति।[5]

उपरोक्त सूत्रों से स्पष्ट है, कि भक्ति एक ऐसा अनुभव है जो प्रेममय है, अमृत रूप है और जिसके उत्पन्न हो जाने के पश्चात कोई कामना शेष नहीं बचती।

'विष्णु पुराण' में भक्ति के उज्वल स्वरूप को पाने के लिए भक्त ऐसी कामना करता है, कि जिस प्रकार अविवेकी मनुष्य की प्रीति विषयों में होती है, कामी जनों की अनुरक्ति नारी में, वैसे ही मेरा मन तुममें अनुरक्त हो।

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्पनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सामे हृदयान्मापसपेतु।
युवतीनां या यूनि यूनां च युवतीष्वपि।
मनोभिरमते तद्वन्मनो मे रमतांत्वयि।[6]

'विष्णु पुराण' की ही भांति भक्त प्रवर तुलसीदास ने भी ईश्वर के प्रति परानुरक्ति जन्य भक्ति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है –

कामिहिं नारी पिआरि जिमि, लोभिहिं पिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम।।[7]

---

1. नारद भक्ति सूत्र – 2
2. नारद भक्ति सूत्र – 3
3. नारद भक्ति सूत्र – 4
4. नारद भक्ति सूत्र – 5
5. नारद भक्ति सूत्र – 6
6. विष्णु पुराण – 1/20/19
7. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस – उत्तरकाण्ड – 130

'विष्णुपुराण' के इस कथन के आलोक में स्पष्ट है कि भक्ति के लिए ज्ञान का होना आवश्यक नहीं है। अनुरक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, बल्लभाचार्य भी इसी अनुरक्ति को भक्ति का श्रेष्ठ स्वरूप घोषित करते हैं। उनका कहना है कि भगवान में महात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृढ़ और सत्य स्नेह ही भक्ति है। इसके इतर मुक्ति का कोई अन्य सरल रास्ता संभव नहीं।

महात्म्य ज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ सर्वतोऽधिकः
स्नेहोभक्तीरिति प्रोक्तस्तया मुक्ति ने चान्यथा।[1]

बल्लभाचार्य द्वारा स्वीकृत इस भक्ति में माधुर्यभाव की प्रधानता थी, कालान्तर मे उसमें परिवर्तन आया और उनकी माधुर्य भक्ति कान्ताभाव की ओर झुक गयी। कान्ताभाव की भक्ति का सर्वश्रेष्ठ रूप वैसे तो चैतन्य सम्प्रदाय में दिखायी देता है। चैतन्य प्रतिपादित नाम स्मरण और कीर्तन प्रणाली को माधुर्य के उज्जवल पक्ष से जोड़कर दाम्पत्य भाव की स्थिर भूमि पर स्थित करने का जो प्रयास रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी ने किया। वह भी कम महवपूर्ण नहीं है। चैतन्य का भक्तिभाव अत्यधिक संवेगात्मक था। प्रेमातिरेक एवं भावावेश की स्थिति में कीर्तन और नृत्य भी उनके अनुसार भक्ति का स्वरूप है।

'भक्ति रसामृतसिंधु' में भी भक्ति को कामनाओं से रहित बताया गया।[2] भक्ति समस्त क्लेशों का शमन कर अपूर्व सुख प्रदायिनी है।[3] भक्ति मोक्ष को भी तुच्छ सिद्ध करने वाली, सहज प्राप्य होते हुए दुर्लभ होती है। आधुनिक विज्ञ जनों ने जो भक्ति के स्वरूप के सन्दर्भ में अपनी बात कही है वह श्रीमद्भागवत् पर ही आधारित है।

निष्कर्षतः यह कहना कि भक्ति अपने स्वरूप में तन को अनुरागमय ओर तन्मयता प्रदान करने वाली है। लेकिन मानव-मन में उपासना के जो भाव हैं, उनमें स्वभावतः वैयक्तिक है। प्राकृतिक अन्तर के कारण भक्ति के स्वरूपों में भिन्नता पाई जाती है। इन भिन्नताओं के होने पर भी भक्ति का रागमय स्वरूप को मान्य है।

---

1. बल्लभाचार्य – तत्वदीप निबन्ध – पृ0 46
2. भक्तिरसामृतसिंधु – 1/11 (अन्याभिलाषिता शून्यं --1)
3. भक्तिरसामृत सिंधु – 1/17 (क्लेशहनी शुभदा -- 1)

भक्ति के प्रकार :

भक्ति का स्वरूप सर्वत्र जैसे एक नहीं उसी प्रकार सभी भक्तों को भी एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। क्योंकि सभी भक्त स्वभाव और प्रयोजन से पृथक-पृथक होते है, या हो सकते है। गीता में चार प्रकार के भक्तों की चर्चा की गयी है – आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। प्रकारान्तर से ये वर्गीकरण भक्ति के भेद भी माने जा सकते है।[1] यहीं पर श्री कृष्ण ने यह भी कहा है कि ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम है, क्योंकि एक मात्र वहीं भक्त अनन्य निष्काम भाव रखता है। वह स्थिर बुद्धिज्ञानी साक्षात् मेरा स्वरूप है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्ण शिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽयर्थमहं सचमम प्रियः।[2]

कारण स्पष्ट है कि अर्थार्थी अपने स्वार्थ भावना से किसी विशेष प्रयोजन से इश्वर भक्ति करते हैं। तो जिज्ञासु ज्ञान प्राप्ति का उद्देश्य रखता है और आर्त्त भव कष्टो के निवारणार्थ ईश भजन करता है। जहां भक्ति के भेद का प्रश्न है गीता में नहीं मिलता। क्योंकि गीता में भक्ति को परा ही माना गया है।

मद्भक्ति लभते पराम्।
भक्तिं मयि परां कृत्वां।[3]

श्रद्धा के तीन भेद प्राप्त होते हैं – सात्विकी, राजसी, तामसी।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेतितां श्रुणु।।[4]

भक्ति के प्रकार को सर्वप्रथम शांडिल्य ने प्रस्तुत किया। उनके द्वारा भक्ति के दो भेद निर्धारित किये गये – मुख्या और दूसरा–इतरा। इतरा को ही शांडिल्य ने गौणी नाम भी दिया। और गौणी भक्ति को तीन भागों में विभाजित किया आर्त - भक्ति, जिज्ञासा - भक्ति ,

---

1. चर्तुविधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जन ।
   आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभा। – गीता, 7/16
2. गीता – 7/17
3. गीता – 18/54, गीता – 18/68
4. गीता – 17/2

अर्थार्थिता भक्ति। नारद ने भी गौणी भक्ति को स्थापित किया और उसके ग्यारह प्रकार बताये।

गुण माहत्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यसक्ति, साख्य-सक्ति, वात्सल्यसक्ति, कान्तासक्ति, आत्म निवेदन सक्ति, तमन्यता सक्ति, परम विरहा सक्ति। श्रीमद्भागवत् में भक्ति के नौ प्रकारों की चर्चा की गयी।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मानिवेदनम्।।[1]

इसके अतिरिक्त भक्ति के अन्य प्रकार से भी भेद भागवत में मिलते है। इनके अनुसार भक्ति तीन प्रकार की बतायी गयी – सात्विकी[2] राजसी[3] और तामसी[4] भागवत् में वर्णित भक्ति के ये तीनों प्रकार गौणी भक्ति के ही अन्तर्गत आते है। इन वर्गीकरणों के अतिरिक्त भी भागवत में भक्ति के कई और प्रकारों की चर्चा की गयी है। जैसे निष्काम भक्ति[5] अहैतुकी भक्ति[6] नैष्ठिकी भक्ति[7] अकिंचन भक्ति[8] निरपेक्ष भक्ति[9] आदि।

'भक्ति रसामृतसिंधु' में रूप गोस्वामी ने भक्ति के जो भेद-विभेद प्रस्तुत किया है, उनके अनुसार भक्ति के तीन प्रकार सिद्ध होते है – साधन भक्ति, भावभक्ति और प्रेमाभक्ति।[10] साधन भक्ति के दो भेद है – वैधी भक्ति, रागानुगा भक्ति।[11] जो भक्ति शास्त्रों के विधि निषेधों का अनुपालन करती हुई विविध विधानों से संपादित की जाती है उसे वैधी भक्ति कहते है। रागात्मिका भक्ति वह है जो रस का अनुभव प्रदान करती है। वैधी भक्ति वह धारा है, जो अपने दोनो किनारों से बंधी होती है, पर रागानुगा वह बाढ़ है जो किनारों का बंधन स्वीकार नहीं करती। रागात्मिका भक्ति को भी रूप गोस्वामी जी ने दो भागों में विभाजित किया। कामानुगा और सम्बन्धानुगा।

तन्मयी या भवदे् भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता।
सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद्द्विधा।।[12]

---

1. भागवत् – 7/5/23
2. भागवत् – 3/29/10
3. भागवत् – 3/29/9
4. भागवत् – 3/29/8
5. भागवत् – 5/18/21
6. भागवत् – 1/2/18
7. भागवत् – 1/2/18
8. भागवत् – 5/18/12
9. भागवत् – 11/20/35
10. सा भक्तिः साधनंभावः प्रेमाचेति त्रिधोदिता। भक्ति रसामृत सिन्धु – 2/1
11. वैधी रागानुगा चेतिसा द्विधासाधनामिधा भक्ति रसामृत सिंधु 2/5
12. भक्ति रसामृत सिंधु – 2/272, 273

कामानुगा भक्ति उसे कहते हैं जो संयोग तृष्णा को प्रेममय बनाती है। यहाँ काम शब्द का अभिप्राय अभीष्ट विषयक प्रेम विशेष से है। सम्बन्धानुगा भक्ति उसे कहते है जिसके द्वारा भक्त भगवान में पिता, माता, राजा, सखा आदि सम्बन्धों को आरोपित करता है।

मध्यकालीन संतो एवं भक्तों ने भी भक्ति के प्रकार से सम्बन्धित अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। गुरू गोरखनाथ केवल "भाव-भक्ति" को महत्व देते हुए कहते हैं कि –

भगत गोरखनाथ मछींद्र नां दासा।

भाव भगति और आस न पासा।।[1]

कबीर ने भी इसी "भावभगति" को माना। लेकिन इनकी भक्ति में कान्तासक्ति, दास्या–सक्ति, आत्म निवेदन आदि के साथ श्रवण, कीर्तन का रूप भी मिलता है।

निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई

अविगत की गति लखी न जाई।

× × ×

भाव भगति सों हरि न अराधा जनम मरन की मिटी न साधा।।[2]

संत सुन्दर दास ने नवधा भक्ति स्वीकार किया। सगुण भक्तों में सूरदास भक्ति को अनेक भेदवाली मानते है।

भक्ति एक, पुनि बहु विधि होइ, ज्यों जल रंग मिलि रंग सु होई।[3]

'सूरसागर' में भक्ति के विभिन्न भेद मिलते हैं कहीं भक्ति सकामी और निष्कामी बताइ गयी, तो कहीं भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग को भक्ति के त्रिविध रूप में स्वीकृति दिखाई देती है। सूरसागर के नवम् स्कंध में तो नवधा भक्ति भी वर्णित है।

अंबरीष राजा हरि भक्त । रहे सदा हरि–पद अनुरक्त।

स्रवन कीरतन सुमिरन धेरै । पद सेवन अरचन उर धरै।

बंदन दासपनो सो करै । भक्तनि सख्य भाव अनुसरै ।

काय निवेदन सदा बिचारे । प्रेम सहित नवधा विस्तारै।[4]

---

1. डॉ0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल (सं) गोरखबानी – राग आसावरी – 35
2. डॉ0 माताप्रसाद गुप्त – कबीर ग्रन्थावती – राग गौड़ी – 49 और – रमैनी –1
3. सूरसागर – 3/394
4. सूरसागर – 3/394

इसी प्रकार का कुछ भेद गोस्वामी तुलसी दास ने भी किया है। 'रामचरित मानस' के प्रारम्भ में तुलसी ने चार प्रकार के भक्तों की चर्चा की –

राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।

चहुँ चतुर कहुँ नाम अधारा । ग्यानी प्रभुहिं विसेषे पियारा ।।[1]

तुलसी कई प्रकार की भक्ति की चर्चा प्रसंगानुसार करते है। गुह के सन्दर्भ में गुह की भक्ति को "विमल भक्ति" शरभंग के प्रसंग में "भेद भगति ' इस "भेद भगति" की चर्चा गरूण प्रसंग में भी की है। काकभुशुण्डि की भक्ति को "अविरल भक्ति" आदि, लेकिन तुलसी को भी भागवत् की ही "नवधा भक्ति" विशेष रूप से मान्य थी। वह इस भक्ति को "श्रवनादिक नव भक्ति" की संज्ञा देते है।

नवधा भगति कहऊँ तोहि पाहीं । सावधान सुनु धरू मन माहीं।

प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंग।।

गुरूपद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।

चौथी भगति मम गुनगन करइ कपट तजि गान।

मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा । पंचम भजन सो वेद प्रकासा।

छठ दम सील बिरति बहु करमा । निरत निरंतर सज्जन धरमा ।

सातवं सम मोहिमय जग देखा । मोतें संत अधिक करिलेखा ।

आठवं जथालाभ संतोषा । सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा।

नवम सरल सब सन छलहीना मम भरोस हियं हरषन दीना।[2]

अखण्ड आनन्द प्रदायिनी भक्ति प्रेम की चरम परिणति है। इस उच्च शिखर को प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रयोजनों का सहारा लिया जाता है। यद्यपि भक्ति एक ही है। किन्तु भक्त की भाव दशा के अनुरूप वह विविध रूप धारण करती है। गीता से लेकर मध्ययुग के राम भक्ति और कृष्ण भक्ति काव्य तक यह भक्ति इसी कारण विभिन्न रूपों मे व्यक्त होती रही। गीता में ज्ञानी भक्त को श्रेष्ठ कहा गया। तो तुलसी ने भी ज्ञानी भक्त का श्रेष्ठता

---

1. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस – बालकाण्ड – 22
2. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस – 3/35,36

प्रदान की गीता के सात्विकी, राजसी, तामसी भेद को भागवत तो स्वीकार करता ही है सूर ने भी महत्व दिया। शांडिल्य के मुख्या और इतरा को किसी भक्त ने ग्रहण नहीं किया।

नारद ने ग्यारह आसक्तियों को आंशिक रूप से स्वीकृति दी, कुछ तो भागवत् की नवधा भक्ति में जगह पा गयी कुछ को रूप गोस्वामी ने अपने साधन भक्ति भेदों में रखा। नवधा भक्ति कहीं-कहीं तो पूर्ण रूपेण अपनायी गयी, लेकिन कहीं-कहीं उसके कुछ रूप ही मान्यता प्राप्त कर सके। तुलसी ने भागवत् वर्णित नवधा-भक्ति के कुछ ही भेद को स्वीकार किया है। उसको पूर्ण करने के लिए नारद के कुछ भेदों को अपनी नवधा भक्ति में जोड़ते हैं। यद्यपि तुलसी ने श्रवनादिक भक्ति को महत्व दिया, तथापि श्रवनादिक भक्ति के केवल तीन रूप श्रवण, कीर्तन, स्मरण ही देखने को मिलता है।

अतः स्पष्ट है कि भक्ति की जो अन्तः सलिला मानव के अन्तस्तल मे प्रवाहित है वह मानवीय वृत्ति के अनुसार अलग-अलग रूप धारण करती रही यही कारण था कि भक्ति के अनेकों भेद-विभेद देखने का मिलता है।

मध्य-काल तक भक्ति का विकास :-

भक्ति एक स्वस्थ चिन्तन परम्परा की देन है। चिन्तन की दिशा का स्वरूप विकासशील होता है, और कोई भी विकासशील प्रवृत्ति परिस्थितियें के अनुरूप रूपान्तरित होती रहती है। भक्ति अपने मूल रूप में एक भाव-बोध अथवा मानसिक अध्यात्मिक प्रक्रिया है इसलिए उसका स्वतंत्र रूप विकसित हुआ। मानव उत्पत्ति के साथ ही भक्ति का भी जन्म हुआ। वैदिक युग में भक्ति का स्वरूप क्या था। इस विषय पर विद्वानों के मत एक दूसरे से भिन्न हैं फिर भी भक्ति हमें वैदिक युग में ही अंकुरित दिखाई देती है। हाँ इतना अवश्य था कि भक्ति का जो रूप हमे मध्यकाल में मिलता है वह न होकर उपासनात्मक था।

उपासना का अर्थ होता है, प्रभु के समीप बैठना। उसके समीप बैठकर ही भक्त उसके अनुग्रह का भाजन और कृपा-पात्र बनता है।[1] स्तुति भी भक्ति के ही अन्तर्गत है और स्तुति शब्द वेदों में अनेको बार प्रयुक्त हुआ है। वैदिक युग निःसन्देह कर्मकाण्डी व्यवस्था थी फिर

---

1. डा0 मुंशीराम शर्मा - भक्ति का विकास - पृ0 122

भी ज्ञान, कर्म और बौद्धिकता को महत्व दिया जाता था। पर जैसे-जैसे मानव सभ्यता स्थिर होती गयी। उसके उपासना भाव में हार्दिकता का प्रवेश होन लगा। इसे हम भक्ति की शुरूआत ही कह सकते है। डा0 बेनी प्रसाद का विचार है कि भक्ति सम्प्रदाय का आदि स्रोत ऋग्वेद है।[1] वैदिक युग के संहिता भाग में कर्मकाण्ड की प्रधानता थी यद्यपि इस समय तक भक्ति भावना का उदय नहीं हुआ था पर यज्ञ विधान श्रद्धा समन्वित भाव के साथ सम्पन्न होते थे स्पष्ट है भक्ति वहीं से प्रसूत हुई। यह पक्ष भी विचारणीय है कि ज्ञान और कर्म की तुलना में भक्ति का क्या स्थान रहा है? वेदों में ऐसा देखा गया कि ज्ञान और कर्म में भी कर्म की प्रधानता को महत्व दिया गया। इस सन्दर्भ में एक मत यह भी देखा गया कि कर्म ज्ञान और भक्ति का क्रमशः विकास हुआ है।[2] फिर भी जो भावमूलक भक्ति उपनिषदों के बाद विकसित हुई उसके दर्शन वेदों में नहीं होते।

उपनिषदों ने कर्मकाण्डी व्यवस्था त्याग कर ज्ञान की प्रतिष्ठा की। पं0 गोपीनाथ कविराज ने वैष्णव-साधना और साहित्य पर विचार करते हुए धारणा व्यक्त की है कि ज्ञान योग, भक्ति योग, की सहकारी है।[3] अर्थात उपनिषदों के ज्ञान भाव से उसका अनुरेखन किया जा सकता है। उपनिषदों के कर्मपरक ज्ञान मार्ग से ही भक्ति का उदय हुआ क्योकि यहॉं बुद्धि और हृदय दोनों का योग देखने को मिलता है। शुक्ल जी के अनुसार कर्म के साथ मन का योग ही भक्ति भावना का आरम्भ है।[4] उपनिषदों में स्पष्ट रूप से "भक्ति" शब्द का प्रयोग तो मिलता ही है, कई अन्य ऐसे संकेत भी दिखाई देते है। जिससे भक्ति भावना को आसानी से समझा जा सकता है।

"श्वेताश्वतर उपनिषद्" में भक्ति शब्द का प्रयोग प्रेमपरक अर्थ में प्रयुक्त हुआ।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरो ।
तस्येते कथिता हर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः
प्रकाशन्ते महात्मनः ।[5]

प्रभु भक्ति को उपनिषदों में सर्वोत्तम रस की संज्ञा दी गयी इसी सर्वोत्तम रस की अजस्र धारा में भक्त आंकठ डूब जाता है। "मुण्डकोपनिषद" और "कठोपनिषद" तो भक्ति भावना

---

1. डा0 बेनी प्रसाद – हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता – पृ0 42
2. वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्मकाण्डों की प्रधानता होते हुए भी जिस तरह ज्ञानकाण्ड का विकास स्पष्ट परिलक्षित होता है, उसी तरह ज्ञान के बाद भक्ति की परम्परा का भी संधान ऋचाओं के आधार पर संभव है – डा0 मलिक प्रसाद– वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन – पृ0 5
3. पं0 गोपीनाथ कविराज – भारतीय संस्कृति और साधना – पृ0 195
4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – सूरदास – पृ0 12
5. श्वेताश्वतर उपनिषद – 6/23

से भरा पड़ा है। मुण्डकोपनिषद में मनुष्यों को भक्ति की शिक्षा देते हुए कहा गया है, कि यदि देवतागण ब्रह्म की उपासना करते है तो मनुष्यों को उसकी उपासना करनी चाहिए।

> धनुर्गृहीत्वौपनिषद् महास्त्रं
> शरं इयुपासा निशितं संधयीत।
> आपभ्य तद् भावगतेन चेतसा।
> लक्ष्यं तदेवां क्षारं सौम्य विद्धि।[1]

यहां जिस उपासना की बात कही गई है उसमें भक्ति तत्व विद्यामान है।

पुराणों को पंचम वेद कहा गया है। पुराणयुग भारतीय समाज के विकास में एक महत्वपूर्ण चरण है। पुराणों में भी उपनिषदों की ही भांति भक्तितत्व पाये जाते है। यदि वैदिक युग कर्म प्रधान युग और औपनिषदिक युग ज्ञान प्रधान है तो पौराणिक काल को निःसन्देह भक्ति प्रधान युग के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि इस काल मे भक्ति का विस्तृत विवेचन हुआ। औपनिषद काल के ब्रहमवाद के स्थान पर पौराणिक देववाद का विकास हुआ ब्रह्म को मानवीय लीलाभूमि पर अवतरित करने का श्रेय पुराणों को ही है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए स्वयं पुराणों ने घोषणा की –'पूर्ण ईश्वर अनेक रूपों में प्रकट होकर भी मूलतः एक ही परमतत्व हैः स्फटिक मणि अथवा मेघ के समान। इस प्रकार अवतारों की कल्पना ने ब्रह्म की विचारणा को खण्डित नहीं होने दिया, वरन् उसे अक्षुण्ण रखा।[2]

पुराणों से यह स्पष्ट है कि पुराण काल में पांच मुख्य उपासना सम्प्रदाय निर्मित हुए – वैष्णव, शिव, शाक्त , सौर और गाणपत्य। पर इनमें से प्रथम तीन ही पल्लवित और पुष्पित हुए। इनमें से भी वैष्णव सम्प्रदाय अकेला ही ऐसा सम्प्रदाय था जो समस्त भक्ति सम्प्रदायों का मूलाधार बना और मध्यकाल का सारा का सारा भक्तियुग इसी पर आधारित है। इस युग में आकर इन्द्र का स्थान विष्णु ने ले लिया। जिनके नाम पर विष्णु पुराण रचा गया। इस पुराण में प्रहलाद की भक्ति वर्णित है –'हे नाथ मैं कर्म फल के वशीभूत होकर

---

1. मुण्डकोपनिषद – 2/2/3
2. कपिलदेव पाण्डेय – मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद – पृ0 28

जिन–जिन सहस्त्रयोनियों में भ्रमण करूँ। उन सभी में तुम्हारे प्रति मेरी भक्ति अविचल हो।[1] विष्णु पुराण के अतिरिक्त अन्य पुराणों जैसे 'पद्मपुराण', 'वायु पुराण', 'शिवपुराण' 'देवी भागवत पुराण', 'वृहन्नरदीय पुराण' 'कूर्म पुराण' आदि में भी भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। 'कूर्म पुराण' में कहा गया है कि समस्त भक्तों में वही भक्त मुझे परम प्रिय है, जो ज्ञान द्वारा मेरी उपासना करता है।

सर्वेषामेव भक्तानामिष्ठः प्रियतमोमम।
योहि ज्ञानेन मां नित्यमाराधयति नान्यथा।[2]

यह युग बहु देवों–पासना का युग था भागवत्, ब्रह्मवैवर्त, हितहरिवंश आदि पुराण में राधा और कृष्ण के प्रसगों को प्रमुखता दी गयी है, तो शिव पुराण, स्कन्दपुराण, कूर्म, लिंग आदि पुराणों में शिव की महत्ता एवं उनकी भक्ति का प्रतिपादन प्रस्तुत किया गया है। समस्त शस्त्रों का सार श्रीमद्भागवत्गीता ही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ हैं, जिसमें भक्ति का सम्यक् विवेचन किया गया है। श्रीमद्भागवत गीता भक्ति के समस्त तत्वों, महत्वों एवं उपादेयता पर प्रकाश डालता है। इस सम्बन्ध में आचार्य विनोबाभावे का कथन है कि "भगवद्गीता" आदि से अन्त तक सभी जगह पवित्र है। परन्तु बीच में कुछ अध्याय ऐसे हैं, जो तीर्थ क्षेत्र बन गये हैं।[3] इस दृष्टि से भागवत् गीता को समस्त शास्त्रों विशेषकर उपनिषदों का सार कहना अनुचित प्रतीत नहीं होता। गीता के कुल अठारह अध्यायों में से प्रारम्भिक छः अध्याय कर्मयोग तथा बीच के छः अध्याय भक्ति योग और अन्तिम छः अध्याय ज्ञान की चर्चा करते है।[4] भगवन् प्राप्ति के लिए कर्म, ज्ञान एवं भक्ति जो तीन मार्ग हैं, उनमें भक्ति मार्ग को गीता श्रेष्ठ सिद्ध करती है। क्योंकि यही मार्ग एक ऐसा मार्ग है जिस पर चलने का सबको समान अधिकार है। यहां तक कि शूद्रादि भी भगवान की शरण में आकर परमगति पा सकता है। यहां किसी भी जाति या वर्ण का विचार नहीं किया जाता। सिर्फ प्रेम को महत्व दिया जाता है। भागवत् के अनुसार प्रेम से भजन करने वाले सारे भक्तों को अपने हृदय में बसा लेता है।

समोहं सर्वभूतेषु न में द्वेष्योस्तिनप्रियः
ये भाजन्ति तु माँ भवत्यानयिते तेषु चाप्यहम् ।[5]

---

1. विष्णु पुराण – 1/20/19
2. कूर्मपुराण – उत्तराद्धे – 4/25
3. बिनोबाभावे – गीता प्रवचन – पृ0 172
4. जय दयाल गोयन्दका – श्रीमद्भगवतगीता में भक्तियोग कल्याण–भक्तिअंक– पृ0 114–115
5. श्रीमद्भागवत् गीता – 9/17

भागवत् में ईश्वर के साकार – निराकार रूप जैसे विवादास्पद प्रश्न का भी समाधान दिया गया है। भागवत गीता के अनुसार ईश्वर के दो मुख्य रूप है (1) व्यक्त (प्रकट) और अव्यक्त (अप्रकट) व्यक्त उसे कहा गया जो गोचर हो, इन्द्रियगम्य तथा अनुभव की सीमा में हो इसे साकार अथवा सगुण कहा जायेगा। जो अप्रकट अर्थात अव्यक्त है अथवा अनुभवातीत है उसे निर्गुण। आगे चलकर भागवतकार निर्गुण – सगुण, जीव–जगत आदि सभी कुछ को ब्रह्म ही मानता है। ब्रह्म स्वयं स्वरूपतः निर्गुण है पर माया के प्रभाव से सगुण।

आगे चलकर पाच्चरात्र – मत में भक्ति को एक आन्दोलन का रूप प्राप्त होता है। इस मत का उल्लेख महाभारत के "नारायर्णाये–पाख्यान" में मिलता हैं। यद्यपि इसका सर्वप्रथम संकेत शतपथ ब्राहमण में है। पांच्चरात्र मत ब्रह्म के दोनों रूप (सगुण–निर्गुण) को स्वीकार करता है। ब्रह्म प्राकृतिक गुणों से रहित हैं इसलिए वह निर्गुण है पर षड्गुण्यरूप अर्थात षड्गुण सम्पन्न है इसलिए वह सगुण भी है।[1] पांच्चरात्रमत ईश्वर के अनुग्रह को पूरी मान्यता देता है। ईश्वर का अनुग्रह शरणागति से प्राप्त किया जा सकता हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता में शरणागति के छः रूपों की चर्चा भी की गयी जिसके निर्वाह से भक्त ईश्वर का परम प्रिय बन जाता है।

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्म निक्षेप कार्पण्ये षड् विधा शरणा गतिः।[2]

स्पष्ट है कि शरणागति की भावना को अधिक महत्व के साथ प्रतिष्ठित किया गया जो भक्ति की यात्रा में महत्वपूर्ण हैं। पांच्चरात्रों की शरणागति की भावना एक मात्र मानसिक भावना ही नहीं बल्कि इस भावना का व्यावहारिक जीवन में विधिवत् अनुष्ठान का भी विधान है। इसके अनुसार मंदिर का निर्माण करके आराध्य देव की स्थापना करनी चाहिए और विधि सम्मत पूजा–अर्चना भी होनी चाहिए। क्योंकि इस दुख मय संसार से मुक्ति के लिए एक मात्र साधन भक्ति ही है।[3]

भक्ति के विकास में अलवारों का प्रयास कम महत्व नहीं रखता। अलवारों

---

1. अहिर्बुध्न्य संहिता – 2/53
2. अहिर्बुध्न्य संहिता – 2/27/30–31
3. डॉ0 हरबंश शर्मा – भागवत दर्शन – पृ0 – 45

ने अपने साहित्य को भावनामयी भक्ति से भर दिया। भागवत में वर्णित भक्ति के ही अनुरूप अलवारों की भी भक्ति पद्धति थी। इन्होंने भी सर्व साधारण को भक्ति का अधिकारी घोषित किया। इस प्रकार यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि अलवारों ने भक्ति का मार्ग बड़े ही सरलरूप में जन मानस के सम्मुख प्रस्तुत किया। अतः उनका भक्ति मार्ग शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया। वैष्णव भक्ति को मध्यकालीन रूप प्रदान करने में अलवारों का प्रयास सराहनीय है। नैतिकता, शरणागति भगवान में भावात्मक एकता, सेवाभाव, नामस्मरण, कीर्तन आदि वैष्णव भक्ति साधना के विभिन्न तत्वों को अलवारों ने चिर प्रतिष्ठा प्रदान की। सबसे महत्वपूर्ण बात ये थी कि इन्होंने जनता की भाषा को महत्व दिया। आधुनिक भारतीय भाषाओं में पहला लिखा गया ग्रन्थ "दिव्य प्रबन्धम्" माना जाता है।[1] अलवारों ने भक्ति के त्रिविध (ज्ञान, कर्म, भक्ति) मार्ग में से केवल भक्ति के मार्ग को ही अपनाया। नवधा भक्ति का रूप अलवारों के साहित्य में कूट–कूट कर भरी है। अलवारों ने वात्सल्य, सख्य, दास्य और कान्ता भाव की भक्ति का विवेचन किया। अलवार भक्ति भावना को स्त्री-पुरूष के मधुर सम्बन्ध के रूप में मानते थे।[2] अलवारों के भक्ति साहित्य का प्रचार–प्रसार यमुनाचार्य ने किया। उन्होंने अपनी अनेकों रचनाओं के माध्यम से प्रपत्ति मार्ग को और दृढ़ता प्रदान की। यमुनाचार्य विशिष्टाद्वैत धर्म के संस्थापक एवं भक्ति आन्दोलन के प्रवक्ता रामानुज के गुरू थे।

भक्ति को सर्वप्रथम लोकप्रिय एवं जन साधारण का साधना–पथ सिद्ध करने वालों में रामानुज अग्रणी है। शंकर के मायावाद का विरोध करते हुए सगुण परमात्मा की उपासना तथा वेदान्त को मिला दिया। अपने सिद्धान्त प्रसार के लिए उत्तरी भारत के प्रमुख तीर्थ स्थलों की यात्रा की, रामानुज में अपार पांडित्य और उदार धार्मिक दृष्टिकोण के साथ–साथ अद्भुत संगठन शक्ति भी थी। फलस्वरूप बारहवीं शताब्दी में भक्ति आन्दोलन उनके प्रयासों से अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। रामानुज की भक्ति का स्वरूप उनके ग्रन्थ शरणागति में बहुत स्पष्ट है। वे ज्ञान को महत्व तो देते है पर साथ ही पराभक्ति की प्राप्ति की कामना ईश्वर के सम्मुख करते है।

---

1. भारत की विभिन्न आधुनिक भाषाओं के साहित्य के इतिहासों को देखने से पता चलेगा कि तामिल को को छोड़कर किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में दसवीं शताब्दी के पूर्व भक्ति साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था। अधिकांश भारतीय भाषाओं में पन्द्रहवी शताब्दी के लगभग ही भक्ति साहित्य का निर्माण हुआ है। –डॉ0 मलिक मोहम्मद–वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन–पृ0 57

2. डॉ0 मलिक मोहम्मद – वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन – पृ0 60

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उपासना को यदि भक्ति का पर्याय माना जाय तो भक्ति के बीज वैदिक काल में ही मिलने लगते हैं। लेकिन अगर भक्ति का अर्थ हम भाव भक्ति या मानसिक उपासना से ले तो वैदिक काल में ऐसी भक्ति का मिलना मुश्किल है क्योंकि वैदिक काल कर्म काण्डी व्यवस्था का युग था। यज्ञपरक उपासना अधिक थी। हाँ उपनिषद काल में आकर उपासना पद्धित में थोड़ा बदलाव अवश्य हुआ। वह ये कि कर्म के स्थान पर चित्त की प्रधानता हो गयी। कई उपनिषदों में भक्ति का स्पष्ट स्वर मुखरित है। भावभक्ति यहाँ भी उसी सीमा तक दिखायी देती है जिस सीमा तक ज्ञान के साथ भाव की अनिवार्यता है।

भागवत में आकर भाव परक भक्ति भास्वर रूप में प्रकट होती है। इस भाव प्रवण भक्ति का सम्बन्ध वैष्णव उपासना और विष्णु के दो अवतार राम और कृष्ण से विशेष रहा। अलवारों ने भी इन्हीं दो अवतारों को प्रमुखता दी और अपना आधार बनाया। दक्षिण के आचार्य रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क और रामानन्द, बल्लभाचार्य ने भक्ति को अपने दार्शनिक दृष्टि से पुष्ट कर साधना के क्षेत्र में या व्यवहार पक्ष में राम भक्ति और कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। इनके द्वारा प्रचारित भक्ति मार्ग पर सभी समान रूप से चाहे वे किसी भी जाति का हो या वर्ग का स्त्री हो या पुरूष चलने का अधिकारी है। भक्ति के इस आन्दोलन ने सर्वत्र वैष्णव भक्ति की अप्रातिहत धारा प्रवाहित करके उसे एकता के सूत्र में बांधने का प्रशंसनीय प्रयास किया।

भक्ति कालीन भक्ति काव्य की धारायेः–

हिन्दी के विस्तृत फलकीय भक्ति साहित्य के उपासना सम्बन्धी मान्यताओं के आधार पर सगुण और निर्गुण दो वर्ग प्रमुख रूप से दिखायी देते है। अगर काव्य विषयों की दृष्टि से इसका वर्गीकरण किया जाय तो समूचे भक्ति कालीन साहित्य में मुख्यतः तीन धरायें दृष्टिगोचर होती है – 1. ज्ञान मूलक, 2. आराध्य विषयक, 3. सूफी प्रेमाख्यान परक। संत और सूफी कवियों को निर्गुण वर्ग में स्थान मिला। ये स्थापना उपासनापरक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए किया गया है। निर्गुण भक्ति साहित्य में ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी तथा सगुण भक्ति साहित्य –

में रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी परम्पराओं का अविष्कार किया गया है।[1]

ज्ञानाश्रयी शाखा के मुख्य कवियों में कबीर दास, रैदास, नानक, दादू आदि प्रमुख हैं। प्रेमाश्रयीशाखा में मोहम्मद जायसी तथा रामाश्रयी के तुलसी दास और कृष्णाश्रयी वर्ग में सूरदास, मीराबाई आदि का प्रमुख स्थान है।

इन भक्त कवियों का सम्बन्ध किसी राज दरबार से नहीं था, न ही वे कविता के माध्यम से जीविकोपार्जन करने वाले ही थे। वे तो तुलसी की "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा" की भावना का पोषण करने वाले संत थे। जिनका परम लक्ष्य था भक्ति की अभिव्यक्ति। अतः काव्य जगत की कृत्रिमता की उपेक्षा करके सहजता को स्थापित किया। तत्कालीन विखंडित समाज को पुनः अखण्ड बनाने एवं सभी जन के बीच समन्वय उपस्थित करने के लिए एकता का स्वर अपने काव्य के माध्यम से निनादित किया। भक्ति कालीन भक्ति काव्य में धर्मान्धता, जाति–पांति पर आधारित विषमता बाह्याचारों पर केन्द्रित उपासना आदि पर कठोर आघात देखने को मिलता है। संत कवियों की दृष्टि में तो कविता परम तत्व की व्याख्या है।

तुम्ह जिन जानों गीत है,
यह निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया,
आतम साधक सार रे।[2]

इस पंक्ति में कबीर दासजी ने यँह स्पष्ट किया है, कि ब्रह्म की भावना को व्यक्त करने के लिए उन्होंने कविता की है। भक्ति काव्य जहां एक तरफ ब्रह्म के सम्बन्ध में अपना विचार प्रस्तुत करती है वहीं दूसरी तरफ हिन्दी साहित्य के निर्माण में भी एक सशक्त भूमिका सिद्ध होती है। इस काव्य ने सामाजिक परिस्थितियों के परिष्कार तथा पुनर्निमाण में जो भूमिका निभाई वे स्तुत्य है।

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास – (नवां संस्करण) पृ0–61
2. श्याम सुन्दर दास(सं) – कबीर ग्रंथावली – ना.प्र.सभा–पृ0–41

भक्तकावेयों ने समाजिक यथार्थ को प्रस्तुत किया। मध्यकालीन भक्ति साहित्य की उपज में समाज के वर्गों की भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता क्योंकि साहित्य का समाज से सीधा सम्पर्क होता है, और समाज किसी भी दशा में राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक अवस्था से अछूता नही रहता। अतः धर्म समाज और साहित्य का अन्योन्याश्रय सम्बध है। मध्यकालीन सामाजिक विसंगतियों तथा आथिक अन्तर्विरोधों को समझने के उपरान्त ही हिन्दी साहित्य में उत्पन्न भाक्ति काव्य की परम्परा को समझा जा सकेगा।

हिन्दू समाज इस्लाम के उदय के उपरान्त विश्रृंखलित होता जा रहा था।दोनों धम की विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करना कठिन था। क्योंकि इस्लाम धर्मानुयायी मंदिरों के विध्वंस में लगे थे। कट्टर इस्लामवादियों की असाहेष्णुता यहाँ तक बढ़ गइ थी कि सूफी साधकों को भी उनकी यातना का शिकार बनना पड़ा। फलस्वरूप सूफी और निराकारी संत कवियों ने एकता स्थापित करने का प्रयास किया। इसी प्रयास की आभेव्याक्त का हम भाक्ति काव्य की संज्ञा देते हैं। इस प्रयास में हिन्दू तथा मूसलमान सभी संत और भक्त कवियों ने सहयोग दिया।

रामानन्द ने साधना की जो परम्परा विकसित की उसमें ''रामनाम'' की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है। चाहे निराकारी हो या साकारी उपासक दोनों ही प्रकार के भक्त कवियों ने रामनाम को अपना दीक्षा मंत्र माना। भक्ति काव्य एकता का काव्य है। इसलिए उसमें हरेक प्रकार की द्वैत भावना का बाहेष्कार दिखाई देता है। वह दार्शनिक द्वैत भावना हो अथवा सामाजिक आर्थिक द्वैत भावना।

भाक्ति काव्य में तत्कालीन युग के जीवन सत्यों का उद्घाटन है, साथ ही साथ भोगवादी संस्कृति का विरोध और सामूहिक हित भावना युक्त नवसमाज निर्माण की कामना भी है। इसके लिए भक्त एवं संत कवियों ने संघर्ष किया। खण्डन–मण्डन की प्रवृत्ति संतों एवं भक्तों में समान रूप से उपलब्ध है।

निर्गुण भक्ति–काव्य (संत काव्य):–

विवेच्यकाल में भारतीय जीवन और समाज अपनी रूढ़, जर्जर धार्मिक मान्यताओं और असामान्य सामाजिक व्यवस्थाओं के व्यूह में उलझ चुका था। समाज व्यक्तियों के समूह

से निर्मित होता है अतः इसमें शिक्षित और अशिक्षित, ब्राहमण और शूद्र, आस्तिक और नास्तिक, विद्रोही और शांतिप्रिय सभी प्रकार के व्याक्ति थें। जिनके जीवन दर्शन की मनोभूमियों भिन्न–भिन्न थी। फलस्वरूप जनसाधारण परमुखापेक्षी बने हुए थे। संत कावियों ने उस समय की मत–मतांतरगत विपुलता और विषमता पर प्रकाश डाला संतमत बाह्याचारों तथा मिथ्याऽम्बरों का विरोधी था, इसमें किसी भी प्रकार की ऊंच नीच परक जातिभेद की भावना नहीं है। यही कारण था कि रामानन्द की शिष्य परम्परा में समाज के निम्न वर्ण के लोगों का भी एक पूरा समूह इस निराकार उपासना का समर्थक है। कबीर, रैदास, दादू, मलूक, सेना, पीपा, धना, सुरसारे आदि। रामानन्द ने ब्रह्म की जो कल्पना की उसमें वह जरा मरण से मुक्त है। वह ब्रह्म द्वैत तथा अद्वैत इन दोनों भावों से परिपूर्ण है। इस प्रकार ब्रह्म का यह स्वरूप यौगेक ब्रह्म का सिद्ध होता है। सन्त कवियों ने इन्ही विचारों का प्रयोग समाज परिवतेन को दिशा देने के लिए किया। संत कवि जीवन के अत्यन्त निकट हैं, सहजता उनकी रचनाओं की शोभा है। उनके काव्य का आधार स्वानुभूति या यथार्थ है।[1] भाक्ति साधना में संन्तों ने ''भाव–भक्ति'' ही स्वीकार की। कबीर दास ने भाव–भक्ति की महत्ता स्वीकार करते हुए कहा कि–

जब लग भाव भगति नहीं करिहौ।
तब लग भवसागर क्यूं तिरिहौ।

बिना भाव–भक्ति के जप–तप, व्रत, तीर्थ आदि सभी कुछ व्यर्थ हैं–

किआ जपु किआतपु सज्जनों,
किआ वरतु किआ इसनानु
जब लगु जुगति न जानी,
भाउ भगति भगवान।[2]

इस प्रकार की भावभक्ति का जन्म हृदय से होता है। भावभक्ति करने वाला वाह्याचेन में विश्वास न रखकर अहैतुक निष्काम सेवा–भावना में ही विश्वास रखता है। इस भाव भक्ति

---

1. डॉ0 नगेन्द्र – हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 145
2. सन्त कबीर – राग गउड़ी – 63

की महिमा महान् है इसमें भक्त भगवान में मिलकर तद्रूप हो जाता है। संत रैदास का मत है कि बिना साधु संगति के भाव नहीं उत्पन्न हो सकता और बिना भाव के भक्ति का होना असम्भव है।

साध संगति बिना भाव नहिं उपजै, भाव बिन भगति नहिं होय तेरी।[1]

भाव भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता "प्रपत्तिपरता" है। वैसे तो प्रपत्ति भाव के बीज गीता तथा उपनिषदों में भी प्राप्त होता है, पर मध्यकाल में इस भाव के प्रमुख प्रचारक रामानुजाचार्य हैं। रामानन्द का मार्ग भी प्रपत्ति का ही था, इसलिए उनके शिष्यों ने भी इस मार्ग को दृढ़ विश्वास के साथ अपनाया। कबीर जैसे अग्रणी संत ने कहा कि अनन्य शरणागति को छोड़कर अन्य किसी भी मार्ग की आवश्यकता नहीं।

कर्म काण्ड, तीर्थयात्रा, व्रत–पूजा, जप–तप, ध्यान, मन्दिर–मस्जिद आदि को मुक्ति के लिए अयोग्य ठहरा, समस्त संतों ने समाजिक पुनरूत्थान का प्रयास किया और जीवन की सहजता को मुक्ति का मार्ग निश्चित किया।

संत कवि निराकार ब्रह्म के उपासक थे। ऐसे ब्रह्म से निकटतर सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जा सकता है।क्योंकि भक्ति तो व्यक्तित्व की अपेक्षा रखती है। वह साकार की भावना चाहती है ऐसी स्थिति में संत कवियों ने प्रतीकों का आश्रय लिया जिसका स्थान जीवन गत सम्बन्धों मे समाविष्ट है। ये प्रयास पूर्णतया नया नहीं था। उपनिषदों में भी ब्रह्म वर्णन के लिए सूर्य, चन्द्र आदि प्रतीकों का उपयोग हुआ है।[2] काव्य जगत में प्रयुक्त होने वाले व्यक्तिगत प्रतीक मानवी अनुभूतियों को स्पष्ट करने में सशक्त माध्यम सिद्ध होते है।[3] संतो ने तीन प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग किया।

1. चेतन-अचेतन की एकता – का प्रतीक
2. जीवन की सामान्य उपयोगी वस्तुओं में अनन्त की उपस्थिति
3. जीवात्मा-परमात्मा सम्बन्ध का मानवीकारण ।[4]

---

1. रैदास जी की बानी, पृ0 – 3
2. डा0 गोविन्द त्रिगुणायत – कबीर का अभिव्यंजना कौशल – पृ0–157
3. बांडन – साइकोइनालिसिस एण्ड ऐसथिटिक्स – पृ0–9
4. त्रिलोकी नारायण दीक्षित – हिन्दी संत साहित्य – पृ0–195

जीवात्मा–परमात्मा सम्बन्ध के मानवीय करण के लिए गुरू, पिता–पुत्र, पति–पत्नी, स्वामी–सेवक आदि सम्बन्धों क साथ वात्सल्य, दाम्पत्य, सख्य, दास्य आदि भावों की भी कल्पना की।

वात्सल्य भक्ति :–

माता–पिता के रूप में ब्रह्म को प्रायः अधिकाशं संतों ने अपने काव्य में वर्णित किया।

हरि जननी मैं बालक तोरा
काहे न अवगुन बकसहु मोरा।
सुत अपराध करे दिन केते,
जननी के चित्त रहें न तेते।
कर गहि केस करे जो घाता,
तऊ न हेत उतारे माता।
कहे कबीर एक बुधि विचारी,
बालक दुखी दुखी महतारी।[1]

संत गुरू रामदास भी हरि (ब्रह्म) को बाप कहकर उनकी स्तुति करते है–

हरि सुखदाता मेरे मन जापु । हउ तुधु सालाही तू मेरा हरि प्रभु बाप।[2]

दादू दयाल तो प्रभु को इतना समर्थ मानते हैं कि उसकी कोई सीमा ही नहीं, अपने द्वारा कियेगये असंख्य पापों से मुक्ति के लिए पितृ तुल्य कृपालु प्रभु से क्षमा प्रार्थना करते हैं –

बेमरजादा मिति नहीं, ऐसे किये अपार।
मैं अपराधी बाप जी, मेरे तुम ही एक आधार।[3]

संत–प्रभु के समक्ष अपने को पापी, मन्द भागी आदि–आदि से संबोधित करता है, और प्रभु के गुणों का बखान भी साथ ही साथ करता है। जिससे कि प्रभु उसे अपना ले भक्ति के क्षेत्र में इस प्रकार का दैन्य भाव अनिवार्य माना जाता है।

---

1. डा0 श्याम सुन्दर दास (संपादित) कबीर ग्रंथावली – पदा0–111
2. श्री वियोगी हरि (संपादित) सन्त सुधासार – पृ0 324
3. दादू दयाल की बानी – विनती कौ अंक–7, पृ0 249(बेलवेडियर प्रेस प्रयाग)

संत रज्जब अपने आपको मन्दभागी बताते हुए प्राथना करते हैं कि आप तो हमारे बाप हैं आपका तो स्वाभाव ही हैं पापियों का उद्धार करना, आप अपने सुत की रक्षा कीजिए और अपनी विरूदावली को सत्य कीजिए।—

तुम जोगी सेवक नहीं, मैं मन्दभागी करतार।
रज्जब गण नाहेंबाप जी, बहुत किये विभचार
सकल पतित पावन किये, अधम उधारन हार।
विरद विचारो बापजी, जन रज्जब की बार।[1]

दाम्पत्य-भाव की भक्ति .—

परमात्मा के प्रति अनन्य अनुराग, भक्ति की प्रमुख विशेषता है। संत कवियों ने भी प्रतीकों के माध्यम से प्रभु को पति—प्रेमी आदि के रूप में अभिव्यक्त किया है। कबीर की भक्ति साधना में तो प्रेमी—प्रेमिका या पति—पत्नी के सम्बन्धों की चर्चा खूब की गई है। इस प्रकार का वर्णन जहाँ भी मिलता है वो अत्यन्त ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी है। वास्तव में विरह की चरम परिणति ही वास्तविक भक्ति है। आत्मा—परमात्मा से दूर एक पल भी रहने में असमर्थ हो जाती है। उसके वियोग में व्याकुल होकर प्रार्थना करती है —

अब मोहिं ले चल ननद के वीर अपने देसा।
इन पंचनि मिलि लूटी हूँ कुसंग आहि बदेसा।[2]

× × × × × ×

हरि मोरा पीव माई हरि मेरा पीव,
हरि बिन रहि न सके मेरा जीव
हरि मेरा पीव मैं हरि की बुहुरिया
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।[3]

---

1. श्री वियोगी हरि (सं) संत सुधासार — पृ0 528
2. डा0 पारसनाथ तिवारी — कबीर ग्रंथावली — पृ0 73
3. कबीर ग्रंथावली — पृ0 125

दाम्पत्य भाव के इस साधना–सोपान पर पहुँचकर साधक परमेश्वर से पति और प्रेमी का मधुर सम्बन्ध स्थापित करता है। यह स्पृहणीय रूप "भाव भक्ति" की चरम स्थिति है। इस अनूठे अद्वितीय रस के पान से साधक नवधा भक्ति के कार्य–कलापों को भूल जाता है। उसके रोम–रोम से प्रिय विरह जन्य लम्बी–लम्बी सांसें निकलने लगती हैं अविरल अश्रुधारा फूट पड़ती है सन्त सुन्दरदास ने प्रेम लक्षणा भक्ति का जो वर्णन किया, वह कम अद्धितीय नहीं –

प्रेम लग्यौ परमेश्वर सौंतब, भूलि गयौ सब ही घरबारा।
जो उनमन्त फिरै जित ही जित नैक रही न शरीर–सम्भार।
स्वास उस्वास उठे सब रोम, चलै द्रग नीर अखण्डित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधाविधि, हम छाकिपर्यो रस पी मतवारा।[1]

दास्य-भाव के प्रतीकः–

संतों ने अपने हृदय की उत्कट विनम्रता, सहजता एवं सर्वस्व भाव प्रभु के चरणों में समर्पित कर देना ही अपना अभीष्ट समझा । कबीर अपने हृदयगत समस्त दैन्य भावना अंह और अस्तित्व से मुक्त होकर स्वामी के एक संकेत मात्र पर ही समर्पित होने को तैयार हैं –

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नांउ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैचै तिति जाऊँ।[2]

संत दादू दयाल तो ब्रह्म को स्वामी और अपने को सेवक की संज्ञा देते है।[3]

तन भी तेरा, मन भी तेरा, तेरा प्यण्ड पराण।
सब कुछ तेरा, तू है मेरा यह दादू का ज्ञान ।[4]

संत–काव्य में नाम स्मरणः–

समस्त संतो ने नाम स्मरण एवं गुरू की महत्ता पर प्रकाश डाला है। संतो की इस नाम साधना का सम्बन्ध सहज–साधना से अधिक है। "नाम" के साथ किसी भी बाह्याडम्बर

---

1. सन्त सुधासार – स्वामी सुन्दर दास – पृ0 577
2. श्याम सुन्दर दास – कबीर ग्रन्थावली – पृ0 20 – ना.प्रं.सभा
3. सन्त सुधासार–स्वामी दादू दयाल – पृ0 46
4. दादू दयाल की बानी – भाग एक – सुन्दरी कौ अंग – 23

को इन संतो ने मान्यता नहीं दी। उनका कहना था कि नाम का जप निरन्तर सहज रूप से अप्रतिहत श्वास की भांति होना चाहिए इसे दादू ने परम जाप कहा।

सत गुरू माला मन दिया, पवन सुरति सों पाइ।
बिन हाथों निस दिन जपै, परम जाप यूं होइ।[1]

इस परम जाप के अन्तर्गत दूसरे किसी भी शब्द का उच्चारण करना पाप समझते हैं। इसलिए साधारण जीव को सचेत करने के लिए चेतावनी देते है कि –

राम तुम्हारें नांव बिन जो मुख निकसै और।
तौ इस अपराधी जी कौ तीनि लोक कित ठौर।[2]

कबीर ने तो ईश्वर की तुलना में अपने गुरू को ही अधिक महत्व दिया। क्योंकि सतगुरू के कृपा दृष्टि से ही वह जगत पिता की ओर आकृष्ट हो सके ब्रह्म का स्वरूप अगम है, अगोचर है, इन्द्रियों से परे है, केवल गुरू ही उससे लगन लगाने में समर्थ हो सकता है। वही रामनाम जैसे अमूल्य और अछयधन की प्राप्ति करा सकता है।

इस सन्दर्भ में गुरू के महत्व को स्वीकार करना कबीर ने उचित ही समझा–

राम नाम लै पट तरे, देबे कौ कुछ नांहि।
क्या ले गुरू संतोषिये, हौंस रही मनमांहि।[3]

गुरू नानक की तो समस्त साधना ही "नाम" और "गुरू" को समर्पित है। उनका भी विश्वास है कि सद्गुरू ही परम तत्व को पाने की दृष्टि दे सकता है।

सतगुरू मिलिया जाणिये । जितु मिलये नामु कर वाणीये।
सति गुरू बाझै न पाइओ । सम थकी कमाइ करम जीव।[4]

---

1. दादूदयाल की बानी – पृ 32
2. दादू दयाल की बानी – पृ0 33
3. कबीर ग्रंथावली – पृ0 78
4. नानक वाणी – पृ0 161

नानक ने गुरू के निर्देश का हमेशा ही पालन किया चाहे वो कर्म का क्षेत्र हो या ज्ञान, योग अथवा भक्ति का। गुरू की महत्ता उनकी दृष्टि में इस स्तर तक की थी कि गुरू और ईश्वर को वे अभिन्न घोषित कर देते हैं।

ऐसा हमरा सखा सहाइ।
गुरू हरि मिलिया भगति दृढ़ाइ।[1]

सूफी काव्य धारा :–

सूफी काव्य धारा, निर्गुण भक्ति काव्य की ही दूसरी धारा है। इसे विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न नामों से पुकारा – निर्गुण प्रेमाश्रयी शाखा, प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा, प्रेम काव्य, प्रेम कथानक काव्य, रोमांसिक कथा–काव्य परम्परा आदि। भक्ति काव्य के विशाल प्रांगण में प्रेमाख्यानक मूलक सूफी काव्य परम्परा का अपना एक अलग ही महत्व एवं योगदान है। जहाँ निराकारी संत भक्त कवियों ने सर्वसाधारण के लिए भक्ति के सामान्य मार्ग की प्रतिष्ठा की और ईश्वर को ज्ञानगम्य और प्रेम से प्राप्य कहा वहीं उसी समय सूफी फकीरों ने हिन्दू–मुसलमान की एकता स्थापित करने की दिशा में स्तुत्य प्रयास किया। यद्यपि ये मुस्लिम थे, इस्लामी सल्तनत भारत में राज्य कर रहा था। फिर भी ये शासन सत्ता के राजनीतिक प्रपंचो में न उलझकर जनमानस के बीच प्रेम साधना का प्रचार करते रहे। ऐसी भाव भूमि का निर्माण उन्होंने किया जहाँ साम्प्रदायिक संकीर्णता प्रवेश ही नहीं पा सकती थी। यह मत वैसे तो मूल रूप में इस्लाम धर्म का ही अंग है। लेकिन जिस प्रकार हिन्दू धर्म की वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया वैष्णव मत के रूप में सामने आइ उसी प्रकार सूफीमत भी इस्लाम की शरीयत (कर्म काण्ड) की प्रति क्रिया है।

इस मत का भारत में प्रवेश सातवीं शताब्दी में हुआ विशेष रूप से इसका प्रचार क्रम 15वीं शताब्दी तक निर्धारित किया गया। डा0 नाहर ने सुफियों का उद्गम स्थान मिश्र को माना है।[2] सूफी शब्द के व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों का मत तक नहीं रहा।

---

1. नानक वाणी – सबद – 24
2. डा0रतिभान सिंह नाहर–भक्ति आन्दोलन का अध्ययन–पृ0 235

कुछ लोगों की धारणा है कि मदीना की मस्जिद में जो सुफ्फा (चबूतरा) है उस पर बैठने वाले फकीर सुफी हैं। दूसरा मत सूफी शब्द को सोफिया का रूपान्तर मानता है जिसका अर्थ ज्ञानी है अर्थात ज्ञानी फकीरों को सूफी कहा गया तीसरा वर्ग ये तर्क देता है कि सूफी वस्तुतः स्वच्छ और पवित्र होते हैं "साफा" होने के कारण उनको सूफी कहते हैं। पर अधिकत्तर विद्वानों का मत है कि सूफी शब्द वास्तव में सूफी (ऊन) से बना है। पाश्चात्य विद्वान निकल्सन, ब्राउन, मारगोलियथ आदि विद्वान भी इसी मत का समर्थन करते हैं। अनेक मुस्लिम प्रतिभाओं ने भी इसे स्वीकार किया है। पर अब मध्यकालीन परिवेश में सूफी का प्रयोग मुस्लिम संत या फकीर के लिए ही नियत समझा जाता है।[1] सूफी शब्द की यह व्याख्या ही वास्तविक है।

सूफी फकीरों ने स्त्री–पुरूष प्रेम को ईश्वर–मनुष्य प्रेम का पुल मानकर जो रचनाएँ की वह भक्ति साहित्य की अनन्य विभूति है।[2] ईश्वर और मनुष्य के प्रेम के समान स्त्री–पुरूष प्रेम को दिव्य सिद्ध करने का व्यापक प्रयास इन काव्यों में किया गया है भारतीय प्रेमाख्यानक परम्परा एवं सूफी विचार धारा का समन्वय इनकी प्रमुख विशेषता है।[3] अपने प्रेम काव्यों की रचना अवधी में दोहा–चौपाई पद्वति से प्रस्तुत किया जिनमें लोकोत्तर प्रेम की अतिरंजना का भव्य स्वर मुखरित हुआ। प्रेम को दिव्यता प्रदान करने के लिए स्वप्न दर्शन, चित्रदर्शन, सौन्दर्य प्रशंसा अथवा प्रत्यक्ष दर्शन जैसे भावों की कल्पना को सजीवता से रूपायित करने का प्रयास प्रायः समस्त प्रेमाख्यानकों में मिलता है। वे इष्ट के प्रेम के लिए आत्मार्पण करना ही मानव कर्तव्य समझते थे।[4] सूफियों ने प्रेम मार्ग में बाधा उपस्थित करने वाले सांसारिक रिश्ते–नातों तथा कर्तव्यों को त्याज्य बताया अर्थात वैराग्य भावना का समर्थन करते हैं। सूफी प्रेमाख्यानकों के स्रोत मुख्यतः लोकवार्ता और इतिहास थे। इन सामान्य वार्ताओं में आदर्श युक्त प्रेम की व्यंजना करके उसे कथा का रूप प्रदान किया।

सूफियों में एकेश्वरवाद का सिद्धान्त प्रचलित था। इसके अनुसार केवल एक ही परमात्मा में विश्वास रखना तथा उसे ही संसार का कर्ता, भर्ता, और हर्ता मानना तत्वसंगत है। इसलिए उसके प्रति आत्म–समर्पण की भावना का विकास हुआ। कुरान अल्लाह के

---

1. आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय –तसव्वुफ अथवा सूफीमत – पृ0 –1
2. डा0 माता प्रसाद गुप्त – पद्मावत – भूमिका – पृ0 – 51
3. परशुराम चतुर्वेदी – सूफी काव्य संग्रह – पृ0 – 56
4. डा0 माता प्रसाद गुप्त – पद्मावत – पृ0 – 229

जिस रूप की व्याख्या करता है, उसके अनुसार, वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान सगुण और साकार है। पैगम्बरी एकेश्वरवाद की कल्पना में सृष्टि और अल्लाह का जो पृथकत्व है, उसी के कारण पैगम्बर की महत्ता है। सूफियो ने उस भावना से हटकर भारतीय अद्वैतवाद अथवा ब्रह्मवाद का समर्थन किया। यही कारण था कि सूफी आत्मा और परमात्मा की अद्वैतता पर बल देने लगे। फलस्वरूप एकेश्वरवाद की स्थापना को लेकर सूफी तीन दलों में विभक्त हो गये।

1. शुद्दिया
2. वुजुदिया
3. इजादिया

सूफी कवियों का सम्बन्ध शुद्दिया और वुजुदेया संप्रदाय से है। दोनों सम्प्रदाय सिद्धान्त के स्तर पर लगभग एक मत नहीं है। शुद्देया सम्प्रदाय ईश्वर को सृष्टि में बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में देखता है, तथा वुजूदिया उस एक तत्व को ही इस सृष्टि में प्रसारित मानता है। जायसी ने अपने प्रेमाख्यानक काव्य पद्मावत के प्रारम्भ में सृष्टि चक्र के इस प्रर्वतन और प्रसार को लेकर परमृसत्ता का जो व्यक्तिकरण किया। वह कुरान की मान्यताओं के अनुरूप है।

अलख अरूप अबरन से कर्ता । वह सब सों, सब ओहि सों बर्ता।
परगट गुपुत सो सरब बिआपी । धरमी चीन्ह, न चीन्हे पापी।।
ना ओहि पूत न पिता न माता । ना होहि कुटुब न कोई संगनाता।
जना न काहु, न कोई ओहि जना । जहँ लागि सब ताकर सिरजना।
वैसब कीन्ह जहाँ लगि कोई । वह नहिं कीन्ह काहु कर होई ।।
हुत पहिले अय अब है सोई । पुनि सो रहै रहै नहिं कोइे ।
और जो होइ सो बाउर अंधा । दिन दुइ चारि मरै करि धंधा।।
जो चाहा सो कीन्होसि, करै जो चाहै कीन्ह।
बरजनहार न कोई, सबै चाहि जिउ दीन्हा।[1]

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – जायसी ग्रन्थावली – पद्मावत – स्तुति खण्ड – पृ0 3

सुफी साधकों की भक्ति अंतः साधना है। इस अंतः साधना के विविध रूप हैं जो सूफी साधकों को एकान्तनिष्ठ बनाने में सहायता करता है। इनमें–

1. **तिलवत** – (श्रवण) साधना का यह रूप नवधा भक्ति के श्रवण से थोड़ा अर्थ परिवर्तन अवश्य रखता है लेकिन–शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से तिलवत का अर्थ श्रवण ही है। तिलवत में कुरान शरीफ का गुणानुवाद दूसरे किसी व्यक्ति से सुनना जरूरी है।

2. **अवराद** – इसमें चुने हुए कुछ भजनों का दैनिक पाठ करना जरूरी होता है।

3. **समा** – (कीर्तन) इस्लाम–धर्म संगीत का पूर्ण बहिष्कार तो करता है, लेकिन सूफी साधना में संगीतादि को सुनकर मुग्ध हो जाने को विशेष महत्व दिया गया है। चिश्तिया और कादरिया सूफी सम्प्रदायों मे इस साधना पद्धति का विशेष महत्व है। इस सन्दर्भ में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि ''समा'' के अवसरों पर उठने वाली मधुर ध्वनि मे लीन हो जाने वालों की अन्तर्दृष्टि आपसे आप खुल सकती है और वह प्रियतम के निकट भी चला जाता है।[1]

4. **जिक्र**– (स्मरण)सुफी भक्ति साधना में जिक्र अर्थात स्मरण का भी एक विशेष स्थान है। सूफी साधना में जिक्र एक प्रकार का गुप्त जाप है।

इस प्रकार सुफी काव्य अंतर्मुखी साधना तो है, लेकिन सामाजिक दायित्व और सांस्कृतिक जागरण में भी कम महत्वपूर्ण भूमिका, नहीं प्रस्तुत करता। सूफी संतो ने रूढ़ियों के स्थान पर शुद्ध आचरण को अधिक महत्व दिया। ऊँच–नीच की भेद भावनाओं का विरोध कर प्रेम–तत्व को स्थापित किया। भागवत धर्म और इस्लामी मजहब को एक ही लोक मंच पर प्रतिष्ठित करते हुए ये स्पष्ट कर दिया कि वेदांत का ब्रह्म यदि निर्गुण संतों और सिद्धों की वाणी में अलख निरंजन है तो कुरान की भाषा में वह वाहिद और लाशरीक है।

गुरू की महिमा सुफी काव्य साधना का एक अनिवार्य गुण है। पद्मावत का हीरामन तोता साधक रूप रत्नसेन के सिद्धपथ में गुरू का ही काम करता है। ''गुरू जेहि पंथ देखावा'' लिखकर जायसी ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है।

---

1. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी – सूफी साधकों की भक्ति – कल्याण भक्ति अंक – वर्ष 32, संख्या–1, माघ 2014 – पृ0 568

सुफी साधक पीर के माध्यम से ही प्रेमभाव का परिचय पाता है। परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि –पीर (परामर्शदाता) ये उसे न केवल प्रेमपात्र का प्रारम्भिक परिचय देकर उसके हृदय में प्रेमभाव जागृत करते हैं, कभी–कभी उन दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापन का कार्य भी करते हैं। पक्षी, देव, अप्सरा शायद इसीलिए रखे जाते हैं कि ये दूर–दूर तक उड़के जा सकते है।[1] जायसी प्रेम मार्ग का मॉंझी गुरू को मानते हैं।

संवरि रकत नैनन्ह भरि चुवा । रोइ हंकारा मॉंझी सुवा।।[2]

जायसी इस बात की घोषणा करते है कि बिना गुरू के पंथ नहीं मिलता। उनके अनुसार जो इस तथ्य को नकारता है वह भ्रम में है।

बिन गुरू पंथ न पाइअ भूलै होइ जो भेंट।
जोगी सिद्ध होइ तब जब गोरख सौं भेंट।।[3]

साधना के क्षेत्र में बाधा उपस्थित करने वाले तत्वों से सजग रहने के लिए सभी संत एवं भक्त तथा सूफी साधकों ने अपने–अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। अन्य संतों एवं भक्तों की भांति जायसी भी माया को झूठा कहते हैं। कबीर ने तो इस माया को महाठगिनी नाम दिया। जायसी ने पद्मावत में रतनसेन की माता को ही माया कहा है। माता रूपी माया रतनसेन को लोभ मे डालना चाहती है, राजपाट, छत्र आदि की ओर उन्मुख करना चाहती है लेकिन रतनसेन प्रेम के पथ पर आगे बढ़ने का निश्चय कर चुका है, वह शरीर और सुख के क्षणभंगुरता को समझता है।

(क) बिनवै रतनसेन के माया
मांथे छत्रपाट निंते पाया
बेरसहु नव लख लच्छि पिआरी
राज छाड़ि जनि होहु भिखारी
× × ×
राजपाट दर परिगह सब तुम्ह सों उजिआर।
बैठ भोग रस मानहु कैं न चलहु अंधिआर।[4]

---

1. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी – हिन्दी साहित्य, सुफी प्रेमाख्यानक – पृ0 259
2. जायसी – पद्मावत – 223
3. जायसी – पद्मावत – 212

(ख) मोहे यह लोभ सुनाउ न माया
काकर सुख काकिर यह काया
जौं निआन तन होइहिं छारा
मांटी पाखि भरें को भारा
× × ×
सिंघल दीप जाब मैं माता मोर अदेस।[1]

सगुण काव्य धारा :-

मध्यकाल में प्रवाहित भक्ति की दो प्रमुख धाराओं में सगुण काव्य धारा एक है, जो पूर्व परम्परा से आगत विष्णु के दो अवतारों राम और कृष्ण को अपनी भक्ति का आश्रय बनाता है। विष्णु पूजा के प्रतिष्ठापक भागवत धर्म तथा उसकी प्रशाखाओं पांचरात्र, सात्वत, एवं नारायणी धर्म से वैष्णव धर्म का व्यवस्थित रूप उपलब्ध होने लगता है। अत वैष्णव भक्ति का उद्भव यहीं से हुआ। वैसे वैष्णव भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट और स्वच्छ रूप से प्रस्तुत करने में शांडिल्य और नारद के भक्ति सूत्रों का भी कम महत्व नहीं रहा। यह कहना असंगत न होगा कि वैष्णव धर्म का मध्यकालीन या वर्तमान रूप पुराणों द्वारा प्रतिपादित और समर्थित होकर ही लोक प्रियता को प्राप्त करने में समर्थ हो सका है।

वैष्णव भक्ति प्राणी मात्र के प्रति प्रेम और उदारता की दृष्टि रखती है। भक्ति हृदय की उपज है, इसलिए सगुण भक्तों का यह उद्देश्य रहा कि समस्त मानव–जाति के हृदय में भक्ति–भाव को जागृत किया जाय। इनका आराध्य सगुण है। इन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति में से भक्ति को ही महत्व दिया। ऐसा नहीं कि सगुण भक्त कवियों ने ज्ञान की अवहेलना की, पर भक्ति जैसा समर्थ भी नहीं बताया। तुलसी उस ज्ञान को ही सार्थक मानते हैं जिसके उदय से भक्ति जागृत हो। जैसे बालि के मृत्यु के बाद तारा का ज्ञान उदित होता है और वह परमृभक्ति का ही वरदान मांगती है।

(क) जन्म–जन्म मुनि जतन कराहीं । अंत राम कहि आवत नाहीं।

(ख) उपजा ज्ञान चरन तब लागी। लीन्हें सि परम भगतिवर मांगी।[2]

---

1. जायसी – पद्मावत – 130
2. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस – किष्किन्धा काण्ड – 10,11

ऐंसा ज्ञान तारने वाला तो है पर कष्ट साध्य भी कम नहीं तुलसी की दृष्टि मे ज्ञान का यह पंथ कृपाण की तीखी धार है।[1] तुलसी सिर्फ ज्ञान की आलोचना ही नहीं करते कहीं कहीं तो ज्ञान के महत्व का भी वर्णन करते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है और ज्ञान तथा भक्ति में कोई भेद नहीं, क्योंकि उभय तत्व जागतिक संताप को दूर करने वाले हैं।

भगतिहिं ग्यानहि नहिं कछु भेदा
उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।[2]

मध्य कालीन सगुण भक्ति कवियों का आराध्य सगुण है इन भक्त कवियों ने अवतार को स्वीकार किया "भये प्रकट कृपाल दीन दयाला कौशल्या हितकारी।" भक्त कवियों का विश्वास है कि वह असीम सीमा को स्वीकार करके अपनी इच्छा से लीला के लिए अवतरित होता है।

यदा यदा हि धर्मस्य गलानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।[3]

वैसे तो समस्त संसार ही प्रभु का अवतार है, आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं। अतः साकार ब्रह्म सगुण और असीम है। सगुण–काव्य में लीला का अत्यन्त महत्व है। सगुण भक्ति धारा के दोनों पक्षों में भगवत् लीला को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। चाहे वो तुलसी के मर्यादा पुरूषोत्तम हों और चाहे सूर के बृजेश दानों का ही व्यक्तित्व लीलाकारी है उनके अवतार का उद्देश्य ही है लीला। भक्ति के इस क्षेत्र को परितः सुदृढ़ बनाने के लिए किसी भी प्रकार का कोई बन्धन स्वीकार नहीं किया गया। समस्त सगुण भक्त कवियो तथा आचार्यो ने जाति–पांति, ऊंच–नीच आदि जैसे विभेदक मान्यताओं को निर्मूल घोषित कर दिया। जिस प्रकार निर्गुण भक्ति के क्षेत्र में "जाति–पाति पूछे नाहि कोइ, हरिको भजै सो हरिका होइ।", "हरि को भजे सो बड़ा है जाति न पूछे कोय।"[4] जैसी विचार धारा थी, तो सगुण भक्ति क्षेत्र में भी जाति भेद को अमान्य घोषित कर दिया गया। तुलसी का तो कहना है कि–

प्रभु अपने नीचहु आदरहीं।[5]

---

1. ग्यान पन्थ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहि बारा।। – गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित–मानस – उत्तरकाण्ड – 119

राम के चरण शरण में कोइ भी जा सकता है।, क्योंकि उनके शरण में जाने की कोई शर्त नहीं है, राम को केवल प्रेम प्यारा है।"रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा।[1] तुलसी तो उस चाण्डाल को श्रेष्ठ मानते हैं जो रात दिन राम का भजन करता है। उच्च कुल में जन्म लेने से कोइ उच्च नहीं हो जाता वह व्यक्ति किस काम का जो हरि का नाम ही नहीं लेता।

तुलसी भगत सुपच भलो भजे रैनि दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहां न हरि को नाम।[2]

समस्त सगुण भक्तों ने निर्गुण संतों एवं सूफी साधकों के समान ही गुरू की महत्ता को भी स्वीकार किया। सगुण भक्त कवियों की दृष्टि में गुरू संसार की सब वस्तुओं से उच्च है। सूर और तुलसी का भक्ति साहित्य तो गुरू महिमा के गायन से भरा पड़ा है। तुलसीदास का कहना है कि 'भक्ति के लिए गुरू का होना आवश्यक है जो भक्त प्रीति और विनयपूर्वक गुरू को प्रणाम करता है, उसकी दृढ़ सेवा करता है। उसी का हृदय भगवान के निवास के योग्य है'।

सीस नवहिं सुर गुरू द्विज देखी
प्रीति सहित करि विनय बिसेखी।[3]
× × ×
गुरू पितु मातु बंधु पति देवा । सब मोहिं कहँ जाने दृढ़ सेवा।[4]
× × × × × × ×
तिन्ह के मन मन्दिर बसहु सिय रघुनन्दनु दोउ।[5]

नवधा भक्ति के वर्णन के क्रम में तुलसीदास ने– "गुरू पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।"[6] कहकर गुरू की सेवा को नवधा भक्ति में तीसरा स्थान दिया।

अतः भक्ति साहित्य ने व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, धार्मिक, दार्शनिक सभी क्षेत्रों में प्रवेश करके मनुष्य के जीवन की सार्थकता पर गहराइ से विचार किया है। भक्त कवियों की दृष्टि शरीर की क्षणभंगुरता, लौकिक सुखों की अनस्थिरता, सामाजिक वैषम्य आदि पर पड़ी उनका हृदया वेदना से कराह उठा और इस निष्कर्ष पर

---

1. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस – अयोध्याकाण्ड – 137
2. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस – अयोध्याकाण्ड – 55
3. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस – अयोध्याकाण्ड – 129
4. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस – अरण्यकाण्ड – 16
5. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस – अयोध्याकाण्ड – 128

पहुँचा कि ईश्वर भजन के अतिरिक्त और कोई ऐसा साधना नहीं जिसके माध्यम से शांति, और मनुष्य जन्म को सफल बनाया जा सके। बस क्या था भक्त कवि साधना में जुट गये। जो अनुभव प्राप्त कर सके उससे जनमानस को आप्लावित करते चले उनका यही प्रयास समर्थ साहित्य को प्रसूत करता है।

सगुण काव्यधारा (रामकाव्य).–

भक्ति साहित्य की संवर्द्धना में रामकाव्य का अपना एक विशिष्ट स्थान है। निर्विवाद रूप से यह स्वीकारणीय है कि मध्यकालीन राम सम्बन्धी काव्यों की रचना में रामानन्द का धर्म प्रचार प्रेरक सिद्ध हुआ। फलतः गोस्वामी तुलसीदास जैसे रससिद्ध भक्त कवि का प्रादुर्भाव हुआ। उनकी रचना "रामचरित मानस" न केवल रामकाव्य में ही अग्रणी है अपितु सम्पूर्ण हिन्दी भक्ति साहित्य रत्नमाला का सुमेरू है। वैसे देखा जाय तो रामकाव्य की एक सुदीर्घकालीन परम्परा है। इस कथा की चर्चा वाल्मीक से पूर्व भी मिलती है। किन्तु "वाल्मीकि रामायण" ही रामकथा का असंदिग्ध स्त्रोत माना जाता रहा है। उसमें राम का चरित्र परब्रह्म परमेश्वर के रूप में है। यही परम्परा विकास पथ पर चलते हुए – अध्यात्मरामायण, भुशुण्डि रामायण, हनुमन्नाटक, अनर्घराघव आदि ग्रन्थ–रत्नों की श्रेणियाँ पार करती हुई कालिदास, भवभूति तथा आधुनिक युग के वैष्णव कवि मैथिलीशरण गुप्त के साकेत तक पहुँची है।

ब्रह्म का जो रूप उपनिषदों मे अचिन्त्य था, वाल्मीकि रामायण में राम वही तुलसी के रामचरित मानस में आकर " दशरथ सुत" हो जाता है। इस प्रकार राम के चरित्र का उत्तरोत्तर विकास होता रहा है। इस प्रकार राम का अलौकिक अथवा अग्राह्य रूप लौकिक भाव–भूमि पर अवतरित हुआ। सगुण भक्त कवियों ने विष्णु के इस अवतार को मान्यता दी और उसके नाम, रूप लीला और धाम के प्रति भक्ति एवं आसक्ति की अभिव्यक्ति की, उनकी इसी अभिव्यक्ति का प्रभाव था,कि राम की भक्ति जनसाधारण की धार्मिक चेतना का केन्द्र बन गयी।[1] भक्ति कालीन यह राम कथा साहित्य आराध्य के प्रति पूजा, अर्चन तथा उसकी भक्ति भावना से ओत–प्रोत हो गया। तुलसी ने दर्शन और धर्म की संधि में भक्ति का स्वरूप निर्मित किया। भक्ति के माध्यम से एक ओर तो उन्होनें विशिष्टाद्वैत के व्यूह, विभव,

---

1. डॉ कामिल बुल्के – रामकथा – पृ0 742

अन्तर्यामिन और अर्चावतार की मान्यताओं पर बल दिया और दूसरी ओर शांडिल्य भक्ति सूत्र, नारद भक्ति सूत्र की आसक्तियों में हृदयगत प्रवृत्तियों को इन्द्रियों के विष के मुक्त किया। तुलसी की दृष्टि में तो राम–भक्ति का मार्ग ही राजमार्ग है। क्योंकि एक मात्र राम ही ऐसे कृपालु हैं, जो शरणागत की भावनाओं को पूर्ण कर देते हैं। उनका कहना है कि यदि ईश्वर – भक्ति का आनन्द प्राप्त करना चाहते हो तो अपने चित्त को पवित्र बना लो, ब्राह्य आडम्बरों की ओर ध्यान न दो, क्योंकि इन बाहरी आडम्बरों का भक्ति के क्षेत्र में कोई महत्व नहीं है।

माधव, मोह–पास क्यों टूटे ?
बाहर कोटि उपाय करिय, अभयंतर ग्रन्थि न छूटे।
धृत पूरन कराह अन्तरगत, ससि प्रतिबिम्ब दिखावै।
ईंधन अनल लगाई कलप सत औटत नास न पावै।
तरू कोटर महं बसै बिहंगम, तरू काटे मरै न जैसे।
साधन करिय विचार हीनमन, सुद्ध होई नहिं तैसे।
अंतर मलिन, विषय मन अति, तनु पावन करिअ पखारे।
मरै न उरग अनेक जतन बाल्मीक विविध विधि मारे
तुलसीदास हरि–गुरू करूना बिनु विमल विवेक न होई
बिनु विवेक संसार घोर निधि, प्यार न पावै कोइ।[1]

भक्त का चित्त तो भक्ति के वारि से प्रक्षालित होना चाहिए तभी भक्ति जैसी दुलभ गति की उपलब्धि संभव है।

रघुपति भगति वारिछालित चित बिनु प्रयास ही सूझे।[2]
× × ×
अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन।
जोगि बृन्द दुलभगति तोहि दीन्ह भगवान।[3]

---

1. गोस्वामी तुलसीदास – विनय पात्रिका – पद सं0 – पृ0 – 184
2. गोस्वामी तुलसीदास – विनय पात्रिका – पद 124 – पृ0 – 197
3. गोस्वामी तुलसीदास – रामचारित मानस – लंका काण्ड – 104

राम तो भक्त के प्रेम के वशीभूत हैं। हनुमान के अनुराग की प्रशंसा स्वयं राम न अपने श्री मुख से किया है।

हनुमान समनहिं बड़ भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी।
गिरिजा जासु प्रीति सेंवकाई। बार–बार प्रभु निजमुख गाई।[1]

तुलसी साहित्य में अनेकों ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जो भाव के अन्तर से भक्ति के स्वरूप का निर्धारण करता है – अनुराग, राग, प्रेम, प्रीति, रति, स्नेह, आदि जो भगवान की भक्ति के लिए प्रयुक्त हैं।

तुलसी मनसा–वाचा–कर्मणा भगवान को समर्पित है। तभी तो सहज भाव से यह कह उठते है कि –

जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ।[2]

तुलसी दास तो तुम्हारा नित्य दास है उसे तो मात्र राम के चरणों में सहज स्नेह आपेक्षित है। मुझे न अर्थ चाहिए न धाम बस प्रभु आपके चरण-शरण में जन्म जन्मान्तर रह सकुं बस इस भक्त को यही चाहिए।

अरथ न धरम न काम रूचि गति न चहऊँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन।[3]

कहीं कहीं तो तुलसी भावातिरेक की अवस्था में पहुँचे दखाई देते है, और उनका परम प्रेम परानुरक्ति की कोटि में पहुँच जाता है। तुलसी की कामना है कि –

कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहिराम।[4]

भक्ति के लिए सभी सहायक तत्वों, को अपनाने तथा उसके प्राप्ति में बाधक बनने वाले तत्वों छोड़ने की चर्चा भी तुलसी दास ने अपने भक्ति काव्यों में किया है।
भक्ति के सहायक तत्वों में गुरू, सत्संग, ज्ञान, कर्म, तप, नियम संयम, मनोभाव प्रेम, योग, वैराग्य। आदि को महत्व दिया है।

---

1. गोस्वामी तुलसीदास – राम चरित मानस – अख्यकाण्ड – 50
2. गोस्वामी तुलसीदास – विनय पत्रिका – पद – 101
3. गोस्वामी तुलसीदास – राम चरित मानस – अयोध्याकाण्ड – दो0204

भागवत् में भक्ति के साधनों और सहायकों का जहाँ वर्णन प्रस्तुत किया गया है, उसमें सर्व प्रथम गुरू सेवा को ही महत्व प्रदान किया गया। तुलसीदास ने भी गुरू की महत्ता को बेहिचक स्वीकार किया है। उनका कहना है कि जो विनय सहित गुरू को प्रमाण करता है या गुरू की सेवा करता है, उसी का ह्दय भगवान के निवास के योग्य है।[1] गुरू पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।[2] कहते हुए नवधा भक्ति में तीसरा स्थान गुरू–पद–पंकज सेवा को देते हैं। सत्संग के महत्व का वर्णन करते हुए इतना अधिक महत्व दिया है कि नवधा भक्ति में उसे प्रथम सोपान निर्धारित कर देते है। ''प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।[3] सत्संग भक्ति का प्रथम सोपान क्यों है? इसके उत्तर में उनका कहना है कि ''बिनु सतसंग विवेक न होई'' और राम के अनुग्रह बिना सत्संग भी दुर्लभ है।[4] सत्संग अर्थात संतो का समाज ही ऐसा स्थल है जहाँ राम भक्ति रूपी गंगा सदैव प्रवाहित होती है।

मुदमंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू।
रामभक्ति जहाँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचार।[5]

और संसार से पार उतरने के लिए तो संतों के चरण नाव सदृश हैं, दुखों को शमन करने वाले राम तो संतों के संग से बिना प्रयास ही मिल जाते हैं।[6]

भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन के चरन
तुलसीदास प्रयास बिनु मिलहिंराम दुख हरन।

तुलसी के भक्ति काव्य में ज्ञान, कर्म, और योग तीनों की चर्चा की गई है, लेकिन निर्गुण भक्तों की भाँति योग की पूरी प्रक्रिया का वर्णन नहीं मिलता किन्तु योग शब्द का उल्लेख कहीं–कहीं उनके काव्य में, अवश्य दिखाई देता है।

---

1. गो0 तुलसीदास – रामचरित मानस – अयोध्याकाण्ड – 128
2. गो0 तुलसीदास – रामचरित मानस – अरण्काण्ड – 35
3. गो0 तुलसीदास – रामचरित मानस – अरण्यकाण्ड – 35
4. गो0 तुलसीदास – रामचरित मानस – बालकाण्ड – 3
5. गो0 तुलसीदास – रामचरित मानस – बालकाण्ड –2
6. गो0 तुलसीदास – विनयपत्रिका – 203

जप, तप, नियम के साथ ही योग को भी प्रस्तुत करते हैं और इन समस्त साधनों की परिणति भक्ति में ही मानते हैं। वैराग्य के सन्दर्भ में तुलसी का विचार है कि ज्ञान और वैराग्य विहीन पुरूष मोहान्ध हो जाता है।

सुनि मुनि मोह होइ मन ताके।
ज्ञान विराग हृदय नाहें जाके।[1]

इससे बचने का एक ही उपाय है ज्ञान रूपी तलवार और वैराग्य रूपी ढाल को धारण कर लिया जाय। इसके धारण करने के उपरान्त ही मद, लोभ, मोह आदि शत्रुओं को मारा जा सकता है।

विरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइयसो हरि भगति देखु खगेस विचारी।[2]

तुलसी के भक्ति काव्य में जहाँ सहायक तत्वों को समर्थन दिया गया है वहीं दुसरी तरफ भक्ति के बाधक तत्वों को त्यागने की भी बात कहीं गयी है। तुलसी ने तो मात्र कुसंग ही नहीं माता-पिता सुहृद बन्धु तक को त्यागने की बात की है जो ईश्वर के प्रति प्रेम में सहायक न होकर बाधा उत्पन्न करते हैं।

जरउ सो सम्पति सदन सुखु सुह्द मातु पित भाइ।
सनमुख होत जो रामपद करै न सहस सहाइ।[3]

मन की चंचलता भक्ति को नष्ट कर देती है, इसलिए भक्ति के क्षेत्र में एकाग्र मन का होना आवश्यक बताया गया है। मनोविकारों (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह) को दूर किए बिना भक्ति साध्य नहीं हो सकती। तुलसी ने तो इन मनोविकारों को ''नरक के पंथ'' की संज्ञा दे दी।

---

1. तुलसीदास – रामचरित मानस – बालकाण्ड – 129
2. तुलसीदास – रामचरित मानस – बालकाण्ड – 120
3. तुलसीदास – रामचरित मानस – अयोध्याकाण्ड – 185

काम, क्रोध, मद, लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब पारेहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहिसंता।[1]

तुलसीदास ने अपनी भक्ति साधना में एकाकी दृष्टिकोण को नहीं अपनाया, वरन बड़ी सतर्कता के साथ भक्ति के प्रचलित समस्त रूपों को अपने काव्य परिधि में समेटने की चेष्टा की। कबीर का मानसिक प्रेम हो या सूफियों का असीम नूरयुक्त प्रियतम, मीरा के गिरधर गोपाल हो या सूर के श्याम, तुलसी काव्य सभी को संस्पर्श करता हुआ आगे बढ़ा । साधना का ये क्षेत्र निर्विवाद है किसी की निन्दा भी नहीं। स्पष्ट है सगुण ब्रह्म का उपासक निर्गुण को भी वहीं मान्यता देता है।

राम अनन्त अनन्त गुन, अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिनके बिमल विचार।[2]

तुलसी जैसे समर्थ भक्त कवि ही ऐसे हैं जिन्होंने वैष्णव भक्ति के साथ अवतार की प्रतिष्ठा कर उसे लोक ग्राह्य श्रद्धा का विषय बनाया। तुलसी के रामचरित मानस में उनके एक-एक पात्र भक्ति के एक-एक अंग के प्रतीक स्वरूप हैं। विभिन्न पात्रों के माध्यम से उन्होंने नवधा भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया –

प्रथम भगति संतन कर संगा, दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।
गुरूपद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान।
मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा, पंचम भजन सो वेद प्रकासा।
छठ दम सील बिरति बहुकरमा, निरत निरंतन सज्जन धरना।
सातवं रूप मेहिं मय जग देखा, मोतें संत अधिक करिलेखा।
आठवं यथालाभ संतोषा, सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा।
नवम सरल सब छलहीना, मम भरोस हिय हरषन दीना।[3]

---

1. तुलसीदास – रामचरित मानस – सुन्दरकाण्ड – 38
2. तुलसीदास – रामचरित मानस – बालकाण्ड – दोहा – 33
3. तुलसीदास – रामचरित मानस – अरण्यकाण्ड – दोहा – 35–36

भक्ति का यह रूप किसी वर्ग विशेष की भक्ति न बनकर साधारण स्तर के व्यक्तियों के लिए सुलभ था। वैसे तो तुलसी की भक्ति का आदर्श "दास्य भक्ति है। इसी भक्ति को वे "भेद भक्ति" भी कहते हैं। तुलसी की विनय पत्रिका तो दस्य भक्ति से ही भरी है। "भेद भक्ति" के रूप को शरभंग और दशरथ के सन्दर्भ में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–

तातें मुनि हरि लीन न सयऊ । प्रथमहिं भेद भगति बरलयऊ।[1]

यह भेद भगति तुलसी के काव्य में यथेष्ट महत्व के साथ प्रतिपादित है –

रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निर्वान ।
ग्यानंवत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ विषान ।। (78 क)
राकापति षोड़स उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दवलाइअ बिनु रवि राति न जाई। (78 ख)
ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा । मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा ।
हरि सेवकहि न व्याप अविद्या । प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या ।[2]

भक्ति रूपी सुरसरि में उनका चित्त रूपी मीन सदैव विहार करते रहना चाहता है।

करूना निधान वरदान तुलसी चहत
सीता पति–भक्ति–सुरसरि–नीर–मीनता।[3]

अगर तुलसी ये चाहते हैं तो कौन सा गलत चाहते हैं। सभी तो किसी न किसी मन्तव्य से ही ईश्वर से प्रीति स्थापित करते हैं –

सुर नर मुनि सब कै यह रीती । स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।[4]

अतः तुलसीदास ने अपने भक्ति साहित्य में जाति–पांति को नहीं माना। क्योंकि चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, स्त्री हो या पुरूष प्रभु के समक्ष सभी समान हैं। साधना के क्षेत्र में व्यवधान उपस्थित करने वाले मनोविकारों को दूर करने तथा भक्ति के सहयोगी उपादानों को प्रश्रय देने का मन्तव्य भक्ति साहित्य की अक्षय निधि है।

---

1. गो० तुलसीदास – रामचरित मानस – अरण्यकाण्ड – दोहा – 9
2. गो० तुलसीदास – रामचरित मानस – उत्तरकाण्ड – 78,79
3. गो० तुलसीदास – विनयपत्रिका – 162

कृष्ण काव्यधारा :-

भारतीय संस्कृति और धर्म साधना का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि कृष्ण का व्यक्तित्व जितना विलक्षण और सर्व-ग्राह्य रहा है, उतना कोई और दूसरा चरित्र नहीं। हिन्दी का यह कृष्ण चरितात्मक कीर्तन साहित्य उस लोक परम्परा की उपज है जो भक्ति और श्रृंगार के अनुपम सम्मिश्रण से उत्पन्न माधुर्य से मंडित है। इस कृष्ण भक्ति शाखा में बल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी, अष्टछाप के भक्त कवियों का स्थान सर्वोपरि है। इन भक्त कवियों ने आचार्य बल्लभ द्वारा प्रतिपादित पुष्टि-भक्ति की उपासना के साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करते हुए भक्ति साहित्य का निर्माण किया। कृष्ण भक्त कवियों ने मुख्यत काव्य प्रयोजन सम्बन्धी तीन तत्वों को निर्वाह किया है -

1. परम्परा पालन
2. भक्ति परक गीतों के द्वारा प्राचीन सांस्कृतिक गौरव की स्थापना
3. व्यक्तिगत संस्कार जन्य आस्था।[1]

समस्त भक्त कवियों के व्यक्तित्व की झलक इनके पदों में स्पष्ट रूप से मिलती है। भगवान कृष्ण के विभिन्न रूप धाम या लीला का वर्णन उपस्थित करके ये भक्तों से ईश्वर का साक्षात्कार कराते हैं।[2] इन भक्त कवियों में अष्टछाप के कवि प्रमुख भूमिका का निर्वाह करते हैं- सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास अधिकारी, परमानन्द दास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, तथा गोविन्द स्वामी आदि प्रमुख कवि थे। अनुभूति के प्रगाढ़ता तथा कृष्ण लीला के सन्दर्भ में कृष्ण नामकी व्याप्ति की दृष्टि से सूरदास सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। कृष्ण भक्ति जगत में भी ऊँच-नीच के विचार को त्याज्य समझा गया।[1] भक्तों ने कृष्णाराधन के लिए अपना सम्पूर्ण त्याग दिया। उनके समूह में समस्त जाति एवं वर्ग का समावेश था। यहाँ तक कि राजकुल की मीरा भी साधुओं की संगति एवं कीर्तन, नृत्य में संलग्न रहा करती थी।[3] भगवान कृष्ण की भक्ति ही एक मात्र उनका उद्देश्य था। किसी ने अपने अराध्य

---

1. डा0 सावित्री सिन्हा - ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य में अभिव्यंजना शिल्प (1961)-पृ0-20
2. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी - मीराबाई की पदावली - भूमिका - पृ0 27
3. डा0 ब्रजेश्वर वर्मा - सूरदास- (1950) पृ0-
4. डा0 सी.एफ. प्रभात -मीराबाई -(1965) पृ0 132

के रूप में कृष्ण के साथ राधा का होना भी आवश्यक समझा तो कोई श्री कृष्ण की सखी भाव से उपासना करता है। इन कृष्ण भक्तों ने आचार्यत्व की दृष्टि से भक्ति का स्वरूप विश्लेषण नहीं किया, पर काव्य में भक्ति के महात्म्य का वर्णन अनेक स्थलों पर देखने को मिलता है। ये कीर्तनकार स्वयं गोपी या गोपीजन बनकर भगवान की महिमा गाते थे। कृष्ण की लीलाओं का विस्तार और क्रम सूरदास ने जितना अप्रतिम रूप से प्रस्तुत किया है। वह अन्य कवियों की रचनाओं में नहीं है। मीरा को अगर छोड़ दिया जाय तो अन्य सभी भक्त कवि सूरदास को अपना आदर्श मानकर रचना करते थे। इन कृष्ण भक्त कवियो की रचनाओं में जिस रस को प्रमुखता दी उनमें वात्सल्य और श्रृंगार प्रमुख है।[1] कृष्ण भक्त कवि भी कृष्ण की ही भक्ति को अपना सर्वस्व समझते थे।

सकल लोक की सम्पदा जो आगे धरिये ।
भक्ति बिना मांगे नहीं जो कोटिक करिये ।
दास कहावन कठिन है जौलौ चित मै राग।[2]

जो मनुष्य कृष्ण से विमुख है, वह धिक्कार का पात्र है। मीराबाई तो कहती है, कि गोपाल का भजन करना आवश्यक है, क्योंकि गज और गोधन भी कृष्ण भजन से ही मुक्ति पा सके थे, बिना भजन के इस भव–सागर से मुक्ति संभव नहीं –

भज ले रे गोपाल गुना
गज अरू गोपहु तरे भजन सूं कोउ तर्‌यो नहिं भजन बिना।

कृष्ण भक्ति के क्षेत्र में अष्टछाप के भक्त कवियों का महत्वपूर्ण स्थान है। सूरदास की भक्ति पूर्णरूपेण भावात्मक है, उनकी भक्ति में भारतीय दर्शन की अद्वैतभावना का साधनात्मक संस्पर्श दिखाई देता है। सूर की भक्ति प्रायः समस्त सीमाओं को संस्पर्श करती हुई चलती है। भक्तगत दैन्य का भाव सूर के अनेक पदों में दृष्टिगोचर होता है सूर का प्रपत्ति भाव देखने ही लायक है –

---

1. डा0 रामकुमार वर्मा – हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – पृ0 531
2. परमानन्द दास – पद 45

जैसे राखहु तैसें रहो।
जानत हौ दुख–सुख सब जनके, मुखकरि कहा कहो ?
कबहुँक भोजन लहों कृपानिधि, कबहुँक भूख सहों।
कबहुँक चढों तुरंग, महागज, कबहुँक भार बहों।
कमल नयन घनस्याम मनोहर, अनुचर भयौ रहों।
सूरदास प्रभु भक्त कृपानिधि, तुम्हरे चरन गहौं।[1]

बस चरण–शरण में पहुँच क्या गये, कृष्ण को चुनौती ही देने लगे, ये अवस्था सर्वोच्च अवस्था होती है, जब भक्त और भगवान का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। भक्त भगवान के गुणों को चुनौती देते हुए कहता है, कि तुम त्यागी, पतित–पावन, और दानशील कहे जाते हो, लेकिन अब तक ये सुनता ही आया हूँ, मैं तो तुम्हें पतित उधारन तब समझूँगा जब तुम मेरा उद्धार करो। "तौ जानों जौ मोहि तारिहौं"। वैसे तो तुमने बड़े–बड़े पापियो का उद्धार किया है –

आजु हौं एक–एक करि टरिहौं।
कैं तुमहीं कैं हमहीं माधौं, अपुन भरोसैं लरिहौं।
हौं तो पतित सात पीढ़िन कौ पतितै ह्वै निस्तारिहौं।
अब हौं उधरि नच्यौ चाहत हौं, तुम्हें बिरद बिन कारिहौ।
कत अपनी परतीति नसावत मैं पायौ हरि हीरा।
सूर पतित तबहीं उठ है प्रभु, जब हँसि दै हौ बीरा।[2]

मैं तो तुम्हें पतित पावन जान कर ही तुम्हारी शरण आया हूँ –
"पतिपावन जानि सरन आयो।[3]

---

1. सूरदास – सूरसागर – पद – 161
2. सूरदास – सूरसागर – पद – 134
3. सूरदास – सूरसागर – 1/119

कृष्ण की एक मात्र भक्ति ही सूर का प्राण आधार है। कृष्ण में उनकी अनन्याश्रयता का भाव ही उनकी भक्ति का मेरूदण्ड है। सूर के व्यक्तिगत काव्य में आत्म निवेदन की तुलना में लीलातत्व की प्रधानता दिखाई देती है। वैसे तो सम्पूर्ण कृष्ण भक्तिकाव्य ही वात्सल्य और श्रृंगार के मिश्रण का परिपाक है । सूर ने वात्सल्य पक्ष को ज्यादा उभारा, वे श्री कृष्ण की प्रत्येक लीला में उपस्थित है, वात्सल्य का ऐसा मनोरम दृश्य उपस्थित करते हैं मानों वह प्रत्यक्षदर्शी हों –

जेंवत नंद स्याम की कनियां
कछुक खात, कछु धरनि गिरावत, छवि निरखत नंद रनियां
जो रस नंद–जसोदा बिलसत, सौ नहिं तिहूं भुवनिया।
भोजन करि नंद अचमन लीन्हौ, मांगत सूर जुठनिया ।[1]

सूर के भक्ति काव्य में गुरू और सत्संग की भी महत्ता स्थापित की गयी है। यहाँ भक्तों ने गुरू को भगवत् कृपा ही स्वीकार किया है, और उन्हें भगवान के समतुल्य ही माना है। क्योंकि गुरू ही एक मात्र है, जो भव–बन्धन के निस्तारण का मार्ग बताता है, और अर्न्तयामी ईश्वर से सम्बन्धित मन में पैदा हुए अनगिनत प्रश्नों का समाधान करता है। सूर के जीवन चरित से तो यह बात स्पष्ट ही अक्षरशः सत्य है कि उनकी भक्ति गुरू की ही देन है, गुरू के प्रभाव में ही आकर उनका वैराग्य राग में परिवर्तित हो गया। गुरू में ही यह अद्भुत सामर्थ्य है, कि वह साधारण जीव को भगवान का भक्त बना देता है। गुरू ही साधक को आनन्द प्रेम, सौन्दर्य से समन्वित शक्ति से जोड़ने में समर्थ है । गुरू के सानिध्य से ही अज्ञान रूपी विषम अन्धकारमय मार्ग प्रकाशित हो उठता है।

गुरू बिन ऐसी कौन करै ?
भाषा तिलक मनोहर बाना लै सिर छत्र धरै ।
भवसागर तै बूड़त राखै, दीपक हाथ धरै।
सूर स्याम गुरू ऐसो समरथ, छिनमें लै उधरै।[2]

---

1. सूरदास – सूरसागर – पद 856
2. सूरदास – सूरसागर – पद 417

सूरदास गुरू के प्रभाव मे आकर ही अपनी साधना की समस्त चेतना को भगवतोन्मुख कर सके। उनके द्वारा भगवान कृष्ण की विविध – लीलाओं का जो विस्तृत गान किया गया वह अद्वितीय है। पुष्टिमार्ग के अनुसरण में सूर श्रीकृष्ण के रूप माधुर्य और उनकी मधुर लीला का जो प्रतिपाद्य प्रस्तुत करते हैं, वह अतीव आकर्षक है। सूर की भक्ति साधना दास्य, वात्सल्य सख्य और माधुर्य के क्रमिक सोपानों पर अग्रसर होती है।

मीरा की साधना पद्धतिः–

मीरा की भक्ति साधना किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रभाव का परिणाम न होकर कृष्ण के प्रति अनन्य श्रद्धा एवं प्रेम समन्वित विशुद्ध भक्ति का परिणाम है। गिरधर गोपाल ही एक मात्र उनके पति हैं, दूसरा कोई नहीं। मीरा की समस्त साधना कृष्ण के सगुण–साकार अवतारी रूप पर ही केन्द्रित है। उनकी भक्ति–साधना हृदय की सहज प्रवृत्ति स्वरूप कृष्ण के रूप पर आधारित है, उनके व्यक्तित्व में आत्मशक्ति की शीतलता, लौकिक संघर्ष की ज्वाला और विरह विगलित प्राणों की असीं करूणा समाविष्ठ थी।[1] हम उनमें वैष्णवों की आचार निष्ठा, सगुणोपसकों की पूजा– उपासना, विनीत भक्तों का दैन्य, तत्वज्ञानी सन्तों का आध्यात्म दर्शन, प्रेमोन्मन्त सूफियों की सी अलौकेक विरह वेदना, विरक्त सन्यासियों सा तीर्थाटन, भावुक भक्तों सा नृत्यगायन, विदग्ध प्रेमिका का प्रणय निवेदन, आत्मा के सनातन नारीत्व का चिर पुरूष रूप परमात्म तत्व श्रीकृष्ण के प्रति मधुर मिलन और आत्म समर्पण का साकार स्वरूप देख सकते हैं।

मीरा श्रीकृष्ण की परम उपासिका थीं। उनका सम्बन्ध किसी भी सम्प्रदाय से नहीं था। कुछ लोग उन्हें बल्लभ सम्प्रदाय का मानते हैं, कुछ लोगों ने जीव गोस्वामी को मीरा का दीक्षा गुरू माना, लेकिन किसी का भी मत तथ्यतः सत्य सिद्ध नहीं जान पड़ता। मीरा की भक्ति साधना उनके पूर्ववर्ती संतों एवं भक्तों की परम्परा का निचोड़ है। मीरा की भक्ति कान्ताभाव की भक्ति है। वे गिरधर गोपाल को स्वकीया की भांति अपना पति समझती हैं –

म्हांरा री गिरधर गोपाड़ दूसरांणा कूयां।[2]

---

1. भगवान दास तिवारी–मीरा की भक्ति और उनकी काव्य साधना का अनुशीलन – पृ0 161
2. मीराबाई – पदावली – 1

प्राय. इस सन्दर्भ में कृष्ण को वे विभिन्न नामों से संबोधित करती हैं – पिया, पिय, धर्णी, सैंया आदि। मीरा को कृष्ण का अवतारी रूप ही प्रिय था। सर्वविदित है कि मीरा की भक्ति कान्ता–भाव की थी फिर, भी कृष्ण का अवतारी रूप ही प्रिय था। सर्वविदित है कि मीरा की भक्ति कान्ता–भाव की थी फिर भी कृष्ण के बाल रूप से भी वे प्रभावित दिखाई देती हैं –

सखी म्हारों कानूड़ो कलेजे की कोर
मोर मुकुट पीताम्बर सोहैं कुण्डल की झकझोर
वृन्दावन की कुंज गलिन में, नाचत नंद किसोर
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरण कंवल चितचोर।[1]

मीरा का कृष्ण के प्रति प्रेम और उनका विश्वास अद्वितीय है भगवान का नाम स्मरण, ध्यान प्रार्थना में वे अपने को पूर्ण रूपेण समर्पित कर देती हैं। इस सम्बन्ध में वह कहती है कि मेरा मन नित्यप्रति सॉंवरे का नाम रटता रहता है। सांवरे का नाम जगत के समस्त संतापों को नष्ट कर देता है।

म्हारो मण सॉंवरो णाम रट्यारी
संवारो णाम जपां जग प्राणी कोट्यां पाप कट्यांरी
जनम जनम री रवतां पुराणीं णाम स्याम मेट्यारी।[2]

मीरा अपने आराध्य के नाम के गुण पर मुग्ध हैं, वे पौराणिक कथाओं का उल्लेख करती हुई कहती हैं कि –

पिया थारे नाम लुभाणी जी
नाम लेतां तियतां सण्यां जग पाह्ण थाणी थी
कीरत कोई णा किया घणा करम कुमाणी जी
गण का कीर पढ़ावतां बैकुण्ठ बसाणी जी

---

1. पं. परशुराम चतुर्वेदी – मीरा की पदावली – पृ0 104
2. पं. परशुराम चतुर्वेदी – मीरा की पदावली – पृ0 200

अरध नाम कुंजर लया, दुख अवध धरणी जी

गरूण छांण धइयां पसुजण पराणी जी

अजामेल अधरे जम त्रास नसानी जी

पूत नाम जस गाइयां जग सारा जाणी जी।[1]

मीरा ने भक्ति के क्षेत्र में सत्संग को बहुत ही महत्व प्रदान किया है। साधु–सन्तों के बीच इकतार और करताल लेकर मीरा का भाव विभोर होकर कीर्त्तन करना जग विदित है। मीरा साधुसंतो के साथ को अपना अहोभाग्य समझती हैं। उनका कहना है कि साधु जनों के सानिध्य से भक्ति का रंग और गाढ़ा हो जाता है।अड़सठ तीर्थ संतों के चरण में निवास करते है–

आज म्हांरा साधु गणरो संग रे राणा म्हांरा मत्या

साधु जननो संग जो करिये चढ़ेते चोगणों रंग रे

साकत जननो सग न करिये पड़े भजन में भंग रे

अड़सठ तीरथ सन्तों ने चरणे कोटि कासी ने कोटि गंग रे

निन्दा कर से नरक कुंड माजासे था आंधला अपंग रे

मीरा के प्रभु गिरधर नागर संतोनी रज म्हांरी अंग रे ।[2]

सत्संग का प्रभाव उनके ऊपर इतना था कि वह कहती है मुझे सत्संग में जाने से मत रोको --

थे मत बरजां माइड़ी जावाँ ।[3]

क्योंकि साधुओं की संगति में हरिरस का सुख प्राप्त होता है – "साधां संगत हरि सुख चास्यूं जग सुदूर रहत।"[4] कुल मिलाकर यह कहना सत्य प्रतीत होता है कि मीरा की साधना का एक आवश्यक अंग सत्संग था। सत्संग का प्रबल भाववेग ही था, जो उन्हें राजप्रसाद से बाहर खींच लाया। प्रेमरूपा भक्ति बिना भगवत्कृपा के संभव नहीं होती और प्रेमरूपा भक्ति का उदय भी सत्संग से ही संभव है। सत्संग का तात्पर्य है, कुसंग का त्याग मन के विषय–विकारों का त्याग अर्थात समस्त संसारिक

---

1. पं. परशुराम चतुर्वेदी – मीरा के पदावली – 140
2. पं. पशुराम चतुर्वेदी – मीरा की पदावली – 30
3. पं. परशुराम चतुर्वेदी – मीरा की पदावली – 28
4. पं. परशुराम चतुर्वेदी – मीरा की पदावली – 29

सम्बन्धों का त्याग। प्रायः समस्त संतो एवं भक्तो ने सत्संग की महिमा मुक्त कंठ गायी है। भगवद्गीता और नारदीय भक्ति सूत्र भी इस बात की पुष्टि करते हैं।

भगवन्नाम के लिए सत्संग करना मीरा के जीवन की प्रमुख विशेषता है। साम्प्रदायिकता की अवहेलना करती हुई वह सबसे मिलती थीं। साधु संगति की चर्चा उन्होनें अपने अनेक पदों में किया है।

राम नाम रस पीजे मनुआं राम नाम रस पीजे

तज कुसंग सतसंग बैठ नित, हरि चरचा सुण लीजे

× × × ×

साधा संत रो संग ग्यान जुगता करां

धरा साँवरो ध्यान चित्त उजली करां।[1]

मीरा की भक्ति प्रेमा–भक्ति थी, वे बन्धु बान्धव, सारे सगे सम्बन्धियों को त्यागकर अनन्य भाव से "असुअन जल सींच–सींच प्रेम बेलि बोई" थी। मीरा की भक्ति में नरद भक्ति सूत्र की समस्त ग्यारहों आसक्तियां और नवधा–भक्ति का रूप सहज भाव में देखने को मिलता है।

5– भक्ति–काव्य की चेतना का स्वरूप – आधुनिक युग तकः–

साहित्य और समाज का सम्बन्ध अन्योनाश्रित है। दोनों का विकास एक–दूसरे पर निर्भर है। मानव जीवन अनन्त संभावनाओं का पुंज है। साहित्य इसी पुंज की व्याख्या प्रस्तुत करता है। अतः मानव जीवन के साथ उसका लौकिक सम्बन्ध जुड़ा रहता है। लौकिक जीवन जिसमें परम्पराओं का योग आनुपातिक रूप से ज्यादा है का संघर्ष सदैव से रहा है, और रहेगा। साहित्य इसी संघर्ष में एक मध्यस्त का कार्य करता है। और परम्पराओं के साथ मनुष्य जीवन का सामंजस्य स्थापित करते हुए उसे कल्याणकारी पथ पर विश्व बंधुत्व की श्रृंखला से जोड़ देता है। अतः साहित्य जनहित की भावना का सर्जक है। तभी तो उसे सः हितस्य साहित्य की उपाधि से विभूषित करते हैं।

---

1. परशुराम चतुर्वेदी – मीराबाई की पदावली – पृ0 159

भक्ति–साहित्य विभिन्न मत–मतान्तरों का अपूव समन्वय है। जिसे भविष्य की संचित पूँजी कहा जा सकता है। परम्पराभूत और वर्तमान का वह संगम है, जहां भविष्य नित्यप्रति अवगाहन की धवल ज्योति विकीर्ण करता है। परम्परायें भूत और वर्तमान को पारकर भविष्य के पथ का निर्णायक हैं। दूसरे शब्दों में लोकानुभूति का वह प्रवाह जो वर्तमान और भविष्यत के कगारों के बीच बहता हुआ भविष्य के (जो आज और अभी) अथाह सागर में प्रवेश करता है। अतीत का आंचल उसका उद्‌गम स्थल है। परम्परा अतीत से भविष्य की ओर प्रगति की मूल धारा है। जो क्रमशः चली आ रही है और यही उसकी जीवनदायिनी शक्ति है।[1]

हिन्दी का भक्ति–काव्य साहित्याकाश का उल्कापात नहीं जो आकस्मिक आलोक–विकीर्ण करने का उपक्रम हो। इसकी परम्परा सुदीर्घ है, जिसके अंतराल में बाह्य और आभ्यंतरिक परिस्थितियों का परम्परागत संयोजन हुआ है। भक्तिकाव्य का उत्स वदों से निसृत है, यहाँ से निकल कर ये उत्स दो धाराओं निर्गुण और सगुण रूप में प्रवाहित होता हुआ आज 21वीं शताब्दी में प्रवेश कर चुका है। इस लम्बी यात्रा में इस धारा ने कई मोड़ लिए पर सुरसरि की भाँति जग को पावन करती हुई भिन्न–भिन्न रूपों में अपने कलेवर को समृद्ध करती रही।

भक्ति–काव्य की परम्परा का स्रोत न तो राज दरबार है, न मन्दिर और न मस्जिद। ये तो मनुष्य के हृदय से प्रभु के आशिवादोपरान्त निःस्सृत हुआ। परमपिता परमेश्वर की सत्ता में ही इसका अवसान भी जरूरी है। मानव जीवन का लक्ष्य भी यही है। भक्ति काव्य की समस्त धाराओं का विश्राम स्थल भी यही है। भक्ति का लक्ष्य यही है कि मनुष्य अपने शुद्ध और ऊँचे ध्येय के लिए अपने आपको समर्पण कर दे व दिन रात प्रेम अनुराग, उत्साहपूर्वक उसी की सिद्धि में लवलीन रहे। इससे उन्हें भी भगवद भक्त की भांति तुष्टि, पुष्टि और मुक्ति तीनों का लाभ होगा।[2] क्योंकि भक्ति स्वयं अपने आप में ही फल प्रदाता है।

''स्वयं फल रूपतेति ब्रह्मकुमाराः।[3]

---

1. डा0 सावित्री शुक्ल – संत साहित्य की सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि – पृ0–247
2. हरिभाऊ उपाध्याय – भागवतधर्म – दिल्ली – पृ0 – 53
3. नारद भक्ति सूत्र – 30

प्राचीन काल भक्ति का अंकुरण काल है जहाँ ज्ञान, कर्म और उपासना की त्रिवेणी भक्त हृदय को अभिसिंचित करती है। अपनी अमृतस्वरूपा [1] रूप से भक्त के लक्ष्य को अमृतत्व प्रदान करती है। वैदिक साहित्य में भक्ति का सृजन यद्यपि न्यून मात्रा में था, लेकिन उसकी परम्परा अक्षुण्ण थी। भक्त मानस वैदिक भक्ति की भूमिका के जिस मूल तत्वों का अन्वेषण किया, वे आज भी ब्राहमण, उपनिषद और पांचरात्र साहित्य में वर्तमान है। अतः भक्ति की महान परम्परा वैदिक कालीन प्रकृति पूजा से लेकर उपनिषद काल की ब्रह्म-विद्या पर्यन्त उसके उपकरण विखरे हुए हैं। उसे रामायण और महाभारत काल का महाकाव्य-युग सहेजता हुआ चला है। पौराणिक साहित्य और पांचरात्रिक युग तक उसका तीव्र आलोक प्रसारित हुआ है। ब्रह्म चिन्तन की धारा ने ही भक्ति का रूप ग्रहण कर लिया। यह धारा वेदों से निःसृत हुई उपनिषदो एवं परवर्ती युगों के तटों को स्पर्श करती हुई जैन और बौद्ध काल में विस्तृत होती हुई चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में संतों के ज्ञान-क्षेत्र में सिमट गयी।[2] इस प्रकार भक्ति का विकास चिन्तन धारा का स्वाभाविक विकास है।

भारतीय धार्मिक जगत में यह परम्परा चली आयी है कि लोग प्रत्येक तत्व की जड़ या बीज की खोज वेदों मे जरूर करते हैं।[2] असल में वेदों में बीज रूप में जो चिन्तन उपलब्ध है, उसी का सम्यक् विकास ही समस्त भारतीय धार्मिक जगत मे हुआ। वेदों में प्रतिपादित ज्ञान, कर्म एवं उपासना के तत्व भक्ति साधना के अन्तर्गत, स्तुति, प्रार्थना और उपासना के पोषक थे।[3] इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋग्वेद में उपासना का स्वरूप किसी न किसी रूप में प्रकट है। ज्ञान और कर्म के साथ सामंजस्य की स्थिति ही भक्ति है। वैदिक काल कर्म प्रधान युग था। इसलिए यद्यपि वेदों में भक्ति के अनेक रूप मिलते है फिर भी भाव मूलक भक्ति का सर्वथा अभाव देखा गया। कालान्तर में सूत्रों की रचना हुई जिन पर किसी प्रकार का जातीय संस्कार नहीं है। गीता का स्पष्ट करारा प्रहार गुण कर्मों के बीच प्रवाहित होता है।

चातुर्वर्यं मया सृष्ट गुण कर्म विभागशः।[4]

---

1. डा० सिद्धनाथ तिवारी - निर्गुण काव्य दर्शन - पृ० - 11 (पटना)
2. रामधारी सिंह दिनकर - संस्कृतिक के चार अध्याय (1956) पृ०-85
3. डा० मुंशीराम शर्मा - भक्ति का विकास - (1958) पृ० 111
4. श्रीमद्भागवत गीता - 4/13

क्या इसे भुलाया जा सकता है। जगन्नियन्ता भी "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत" के पुरूद्धार के लिए अवतार ग्रहण करता है।[1]

इस तथ्य के आलोक में स्पष्ट है कि भक्ति साहित्य में क्रांति के बीज उपलब्ध थे। जिसकी प्राण शक्ति से समस्त भक्ति साहित्य में रूढ़ियों का विरोध दिखाइ देता है। ये परम्परा समस्त भारत में व्याप्त हो गयी। इस विशाल भू-खण्ड के निवासी अपनी जाति रंग ओर बोलियों के कारण अलग-अलग अवश्य है लेकिन भक्ति की परम्परा ने उन्हें एकसूत्र में पिरो दिया चाहे वे ब्राहमण, क्षत्रिय वैश्य हो या शूद्र या अहीर, नाई, मुसलमान, चमार, मोची या धुनिया । इनके आदर्श ऊँचे थे, भावना जन-कल्याण की थी, और व्यवहार नितान्त सहज और निष्कपट। इस प्रकार "जाति-पाति पूछे नहि कोइ हरि का भजे सो हारे का होई।" के सिद्धान्त पर भक्तिकाव्य की नींव रखी गयी।

भारतीय धर्म साधना में भक्ति काव्य की सर्जना का अपना एक विशिष्ट महत्व है। भक्तिशास्त्र और भक्ति दर्शन की प्रतिष्ठा ने जहाँ पण्डित समाज के बौद्धिक आयामों को मानसिक आहार प्रदान करने के उपकरण एकीकृत कर दिये थे, वहीं उसकी रागात्मिकता द्वारा सामान्य व्यक्ति के लिए भी सुमधुर आस्वादन उपलब्ध कराया। विवेच्य विषय के सन्दर्भ में इतना ही संकेत यथेष्ट है कि मध्यकालीन भक्ति काव्य की सर्जना का कार्यकाल सामाजिक जीवन की विसंगतियों से ओतप्रोत और नैतिक आदर्शों के विघटन से समाविष्ट था। जिसे नई शिक्षा, दिशा की ओर मोड़ने तथा निराशा और किंकर्तव्यविमूढ़ता की कारा से बाहर निकाल कर पुनर्जागरण प्रदान करने में भक्त कवियों की वाणी संजीवनी के समान लाभकारी सिद्ध हुई। भक्ति साहित्य केवल भक्तों एवं संतो के साधना का पुष्प नहीं बल्कि उस साधना रूपि पुष्प का मधुर सुवास है जिसने सबको समान रूप से आकर्षित किया। भक्ति काव्य ने व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, धार्मिक, दार्शनिक सभी क्षेत्रों में अपना अभूतपूर्व योगदान दिया।

---

1. श्रीमद्भागवत गीता - 4/7

मध्ययुगीन भक्ति–काव्य के परिवर्द्धन में एक जन क्रान्ति दिखाइ देती है। शंकर का अद्वैतवाद ''ब्रह्मं सत्यं जगमिंथ्या'' समस्त भक्ति जगत को चुनौती देता है। लेकिन इस असार भौतिक जगत में चुनौती कब तक स्थायी रह सकती थी? भक्ति की लपट दक्षिण से उठी और उत्तरी भारत की ओर चल पड़ी। शंकर का मायावाद चरमराकर ध्वस्त हो हो गया और उसी के खण्डहर पर सगुणवाद की गगन चुम्बी अट्टालिका की निर्मित हो गयी। नवीन उद्भावनाओं के साथ नवीन आदर्शों का जन्म हुआ।

भक्ति–काव्य सागर को कलम कागद न छूने वालों से लेकर कलाविद् संगीतज्ञ, संस्कृतज्ञ पंडितों तक ने अपनी मौलिक भावधारा से सम्पन्न बनाया। हिन्दू–मुसलमान दोनों धर्मों के, द्विज और अंत्यज दोनो जाति वर्णों के, विद्वान और अशिक्षित दोनों स्तरों के, साकार और निराकार दोनों कोटि के उपासक जिसके रचयिता हों वह साहित्य अद्भुत बन जाय यह स्वाभाविक ही है।

भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में भक्ति–काव्य एक स्वर्ण युग का उद्घाटन करता है। ब्रह्म की एकता पर सभी भक्ति सम्प्रदायों ने विश्वास जमाया। इष्टदेवता की आराधना, उसके प्रति प्रेम तथा गुरू भक्ति के सिद्धान्तों को भक्ति–काव्य ने पर्याप्त लोकप्रियता प्रदान की। ऐतिहासिक महाकाव्यों तथा पुराणों से अपने कथानक लेकर भक्त कवियों ने सांस्कृतिक एकता का समर्थन किया।

भक्ति कालीन काव्य में धार्मिक भावना से गृहीत पुराण कथाओं का विकास जिन रूपों में हुआ था। वह रीतिकाल में अक्षुण्ण न रह सका। वस्तुतः रीतिकाल युग की मूल प्रवृत्ति श्रृंगारिकता है। अतः उसने पुराण कथाओं की आत्मा, उसके बाह्यस्वरूप तथा पौराणिक पात्रों के चरित्र में भी अन्तर उपस्थित कर दिया। भक्ति की उदान्त भावना की क्रोड़ से विकसित इस श्रृंगारपूर्ण ऐहिक दृष्टिकोण के लिए रीतिकालीन परिस्थितियां भी उत्तरदायी थीं। ऐसे वातावरण में ''संतन को कहां सीकरी सो काम'' वाला मध्यकालीन सिद्धान्त विस्मृत हो गया। स्वान्तः सुखाय का आदर्श विलासपूर्ण अन्धकार में विलीन हो गया और उसकी जगह स्वामिनः सुखाय ने ले लिया। कविता विलासियों के विलास का उपकरण बन गयी।

फलस्वरूप प्रेम–वासना में परिवातैत हो गया। भक्तिकाल में श्रृंगार का महत्व भक्ति क उपकरण के रूप में था, प्रेरक शक्ति तो कवि की आन्तारिक भक्ति भावना थी, मध्यकालीन भक्ति के केन्द्र कृष्ण–राधा, सीता–राम के प्रेम क्रीड़ाओं को अत्यन्त लौकिक स्तर पर व्यक्त किया जाने लगा। विलास पूण वातावरण में जनमानस का जर्जर मन भक्ति के लिए व्याकुल हो जाता था। ऐसी स्थिति में राधा–कृष्ण का अनुराग उनके मन को सान्त्वना देता था। डा0 नगेन्द्र के शब्दों में रीतिकाल का कोइ भी कवि भक्ति भावना से हीन नहीं है, हो भी नहीं सकता था, क्योंकि भक्ति उसके लिए मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए उसके विलास जर्जर मन में इतना भौतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करे अथवा सैद्धान्तिक निषेध कर सके।[1] भक्ति कालीन राम–काव्य धारा इस युग में भी प्रवाहमान थी। वातावरण श्रृंगारिकता से सराबोर था। अतः रामभक्ति शाखा में रसिक सम्प्रदाय का विकास इस परिस्थिति में अधिक हुआ। रसिक भक्त कवियों ने राम और सीता के युगल केलि प्रसंग का वर्णन निःसंकोच भाव से किया और प्रेम का काम शास्त्रीय स्तर पर अमर्यादित तरीके से वर्णन किया।

जब लाडिली कटि लचकि मचकति झुकति पिय की ओर
तब जात बलि लाड़लो गति होत चन्द चकोर।।
जब परिस बात उरोज अंचल उड़त सिय सकुचाय।
पुनि हेर पिय तन–नमित चरवरहिं रसन दसन दबाय
लखि हाव पिय उन भाव सरसत चाव चित उमगात
सो निरखि दम्पत्ति सुख सरस अलिमुदित उमगीगात।[2]

कृष्ण के ऊपर भी भक्ति परक रचनाएँ लिखी गयी जिसमें कृष्ण के लीलाओं को महत्व दिया गया है। पूतनाबध, शकटासुर वध, तृणावर्त वध, धेनुका वध आदि। यद्यपि रामचरित मानस के अनुकरण पर कृष्ण जीवन के सम्पूर्ण वृत्त के वर्णन की दृष्टि से प्रबन्ध काव्य लिखने का प्रयास किया गया, लेकिन सफलता पूर्वक इसका निर्वाह न हो सका।

---

1. डा0 नगेन्द्र – रीतिकाल की भूमिका – पृ0 110
2. रसिक अली – आन्दोलन रहस्य दीपिका – रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना

भक्तिकाल की ही भांति इस युग में भी राम–कृष्ण के अतिरिक्त विभिन्न देवी देवताओं को आधार बनाकर काव्य प्रणयन किया गया। राम और कृष्ण के पश्चात सर्वाधिक लोकप्रिय देवता शिव है। इस युग के कवि मनियार सिंह की "सौन्दर्य लहरी" रामचन्द्र कवि की "चरण चन्द्रिका" में पार्वती के प्रति भक्ति का चित्रण हुआ है। दीनदयाल गिरि की रचना "विश्वनाथ नवरत्न" में शिव की स्तुति की गयी है। इसके अतिरिक्त विष्णु के विभिन्न अवतारों में "नृसिंह अवतार" को भी भक्ति का केन्द्र माना गया। इस क्षेत्र में खुमान कवि ने "नृसिंह चरित" "नृसिहं पचीसी तथा गिरधर दास ने "नरसिहं कथामृत" की रचना की। यद्यपि यह रचनाएँ विशुद्ध भक्ति भावना से लिखी गयी, किन्तु इन पर रीतिकालीन प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा।

भारतेन्दु युगीन साहित्य पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो देखते है कि भारतीय धर्म साहित्य एवं संस्कृति अत्यधिक संकटपूर्ण स्थिति में श्वास ले रही थी। निराशा अपने विकराल रूप में विनाश का सन्देश दे रहा था। एक बार पुनः भारतीय जनमानस के सामने विधर्मियों का कठोर शासन था। ऊँच और नीच की सरणि पुनः बनायी जाने लगी थी। कुल मिलाकर राष्ट्र एक बार फिर विषण्ण अवस्था में जी रहा था। मध्यकालीन भक्ति अगर सामन्ती देन है तो पूँजीवाद ने भी इस युग में भक्ति चेतना को जागृत कर दिया। इस युग के कवियों का मानवतावादी दृष्टिकोण देखते ही बनता है। किसानों की दीनदशा का जितना हृदयग्राही चित्र इन कवियों ने उपस्थित किया वैसा अन्यत्र दुर्लभ है –

जिनके कारण सब सुख पावै जिनका बोया सब जन खाय ।
हाय हाय उनके बालक नित भूखों के मारे चिल्लायें।[1]

भक्ति साहित्य समस्त देश को एक सांस्कृतिक चेतना में बांधने का प्रयास है भक्तों ने अपनी वाणियों से सभी प्रान्तो एवं भाषा के लोगों को एक सूत्र में बांध दिया था तो भारतेन्दु युगीन कवियों की वाणियों में जातीयता का स्वर जागृत हो उठा।

---

1. बालमुकुन्द गुप्त – स्फूट कविता (जातीय गीत) कलकत्ता सं.–1976 – पृ0 61

भक्ति साहित्य का एक विशेष गुण है स्पन्दर्शालता और संकीर्णता के प्रति विरोध का स्वर ही स्पन्दनशीलता है। प्रगति मानव का स्वभाव है। भाव जगत् में विकार उत्पन्न करने का श्रेय कालगत परिस्थितियों को है। भारतेन्दु काल ने अपने पूर्ववर्ती रीतिकालीन वातावरण का प्रभाव तो नहीं स्वीकारा, लेकिन वह उससे अनुप्रेरित अवश्य ही रहा। भारतेन्दु युग का भाव जगत अपने पिछले तीनों युगों से अनुप्रेरित रहा है। धार्मिक परिस्थितियां मानव मस्तिष्क के चिन्तन चक्र पर आध्यात्मिक प्रभाव डालती है। इस युग की स्थिति में धार्मिक प्रभाव का स्वतंत्र रूप प्रायः स्पष्ट नहीं होता पूर्व की ही भाँति विष्णु, शिव, देवी, देवताओं आदि के भक्ति के दर्शन मिलते हैं। अवतारवाद, मूर्तिपूजा और कर्मकाण्ड का पारम्परिक रूप ही व्यवहृत होता रहा। नवधा भक्ति के आधार पर ही उपास्य देव की भक्ति संपादित होती देखी जा सकती है।

काव्य जगत कबीर, सूर, तुलसी आदि से प्रभावित है। जिसमें घनानन्द, देव, बिहारी आदि के प्रभाव ग्रहण से इनकार नहीं किया जा सकता है। परिणाम स्वरूप रीतिकाल और भक्तिकाल की समन्वित धारा ही भारतेन्दु युगीन कविता का प्रेरणा स्रोत है।

* * * * *

द्वितीय अध्याय

भारतेन्दु युग में भक्ति चेतना का स्वरूप

1. युग प्रवाह और परिवेश
2. समाज सुधारक संस्थाएँ
3. भक्ति का परम्परागत और नवीन स्वरूप
4. बहुदेवोपासना
5. भक्ति का नवीन स्वरूप–राजभक्ति, देशभक्ति
6. समाहार

– : भारतेन्दु युग में भक्ति चेतना का स्वरूपः–

युग प्रवाह और परिवेशः–

परिस्थितियां परिवर्तन की जननी हैं। भाव जगत में विकार उत्पन्न करने का उत्तर-दायित्व कालगत परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है। साहित्य एवं अन्य ललित कलाओं के परिवर्तन भी इन्हीं परिस्थितियों से अनुप्रेरित रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारतेन्दु युग है। इस युग में प्रवेश करते ही रीति कालीन रस-विलास, साकी–सुरा और सौन्दर्य की धारा को एक दूसरा मोड़ मिला। डा० श्याम सुन्दर दास ने लिखा है कि "रीति कविता की शताब्दियों से चली आती हुई गन्दी गली से निकल शुद्ध वायु में विचरण करने का श्रेय हरिश्चन्द्र को पूरा–पूरा है।[1]

भारतेन्दु युग का भाव जगत विगत तीनों युगों वीरगाथा काल, भक्तिकाल एवं रीतिकाल से कहीं प्रत्यक्षतः और कहीं परोक्षतः अनुप्रेरित दिखायी देता है। विवेच्यकाल आधुनिक साहित्य का ऐसा सोपान है जहाँ प्राचीन और आधुनिक काव्य प्रवृत्तियों और धाराओं का समन्वय होता है। अतः भारतेन्दु युग को प्रचीन एवं नवीन का संगम काल कहना अनुचित न होगा। यहाँ एक ओर भक्ति कालीन भक्ति–भावना की पावन भागीरथी हिलोरे मारती है, तो दूसरी ओर रीति कालीन श्रृंगार भावना की छटा मन मोह लेती है। इस युग की कविता की महत्ता इस बात को लेकर विशेष है, कि इसमें देश और जनता की भावनाओं एवं समस्याओं को पहली बार वाणी प्रदान की गयी। भारतेन्दु युग वस्तुतः राष्ट्रीय भावना के प्रादुर्भाव का युग था। भारतेन्दु युग एक नवीन प्रयास एवं अभिनव मोड़ का युग है। इस युग की कविता में समाज और सामाजिक प्रवृत्तियों का स्वर स्पष्ट रूप से मुखर है। यह मुखरित स्वर तत्कालीन राजनीतिक चेतना, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति और साहित्यक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अवलोकन से ही प्राप्त होता है–

हिन्दी प्रदेश में नवजागरण सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम से ही शुरू होता है। सन् 1857 का यह स्वाधीनता संग्राम अपने मूल में जातीय संग्राम तो है ही साथ ही साथ

---

1. श्याम सुन्दर दास – हिन्दी साहित्य – पृ0 280

राष्ट्रीय संग्राम भी है। 18वीं शताब्दी में भारतीय जनता तामसिक अज्ञान और घोर राजसिक प्रवृत्ति से ग्रस्त थी। देश में हजारों स्वार्थपर, कर्तव्यपरांमुख, देशद्रोही और शक्तिशाली असुर प्रकृति के लोग विद्यमान थे।

आधुनिक युग में अंग्रेजों ने अत्याचार एवं अनेकों प्रशासनिक दुव्यवस्था के प्रतिरोध में भारतवासियों में अपने राष्ट्र और संस्कृति के रक्षा के लिए चेतना जागृत हुई, जिसे नवजागरण के रूप में जाना जाता है। ये नवजागरण अंग्रेजों के आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आलोक का ही परिणाम है। जिससे भारतीय जनमानस में सोइ हुइ राष्ट्रीय चेतना ने करवट ली । यह चेतना निराशा से उत्पन्न नहीं हुई, वरन् वह तो विस्मृत आत्मशक्ति का बोध कराके, जनता को जागरण का सन्देश देने वाली थी।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारतीय जनता की दशा अत्यन्त दयनीय थी। हिन्दुत्व की तो अवस्था ऐसी जर्जर और विषण्ण थी कि वैसी अवस्था उसकी पहले कभी नहीं हुई थी, और ऐसे समय में एक ऐसी जाति "भारत का शासक" बनी जो पुरूषार्थ में प्रवीण, साहस में अग्रणी और लोभ में अतिशय प्रचण्ड थी।[1] इस शासन व्यवस्था के स्थापित होते ही अर्थनीति. शिक्षा पद्धित, यातायात के साधनों आदि में बुनियादी परिवर्तन हुए। यद्यपि अंग्रेजों ने नयी अर्थव्यवस्था, औद्योगिकता संचार सुविधा प्रेस आदि को अपने निजी स्वार्थों के लिए स्थापित किया फिर भी इससे भारत को भी लाभ हुआ। एक स्थिर व्यवस्था से छूट कर देश को नूतन गत्यात्मकता का अनुभव हुआ। परम्परायें टूटने लगीं, और नये परिवेश में ऐतिहासिक मांग के फलस्वरूप लोग अपने को नये ढंग से ढालने लगे। क्योंकि भारतीय ज्ञान गतानुगतिक और परम्पराभुक्त हो चला था। पाश्चात्य शिक्षा के सम्पर्क में आते ही भारतीयों में कट्टरता एवं रूढ़िवादिता प्रायः नष्ट भ्रष्ट होनी प्रारम्भ हो गई।[2] ऐसा समय आ गया था, कि नये यथार्थ और पुराने संस्कारों के बीच सामंजस्य की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इसी सामंजस्य की प्रक्रिया के साथ ही नये भारतीय समाज के निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ होती है। फलस्वरूप हिन्दी साहित्य निद्रा का मोह त्याग कर नवीन दिशा की ओर मुड़ चला।

---

1. रामधारी सिंह दिनकर – संस्कृति के चार अध्याय – पृ0 – 521
2. डॉ0 रमन नागपाल – आधुनिक हिन्दी काव्य में पलायनवाद – पृ0 – 78

इस युग में कुछ समाज सुधारक सस्थाओं ने पुराने धम को नये समाज के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। क्योंकि हिन्दुत्व का स्वभाव रहा है कि वह कठिनाइयों के अभाव मे सा जाता है, और निद्रा उसकी तब टूटती है, जब उसके अंग पर वज्राघात किया जाय ईसाइ धर्म प्रचारक यद्यपि लम्बे समय से प्रचार- प्रसार में लगे थे, तथापि हिन्दुत्व की नींद नहीं टूटी थी। यही देख धर्म प्रचारकों का मनोबल बढ़ता जा रहा था। एक महत्वपूण कारण और था जिसकी शक्ति से अंग्रेज अपने आप को बलिष्ठ समझने लगे थे, वह ये कि आधुनिक अंग्रेजी पढ़े हिन्दू नवयुवक सभी दिशाओं से मुड़कर पश्चिम की ओर देखने लगे। फलस्वरूप 'यंग बंगाल संस्था' के ये सदस्य अपनी ही भारतीय पुरातन सभ्यता एवं धामिक प्रवृत्तियों के प्रति उपेक्षात्मक एवं घृणित भाव अपना कर इससे विरक्त होने लगे। इतना ही नहीं वे अपनी अभिव्यक्ति शराब पीकर धर्म की निन्दा और मन्दिरों में गोमांस फेंककर करते थे, और बहुत से लोग तो ईसाई भी हो गये[1] लेकिन धर्म परिवर्तन की उनकी इच्छा आध्यात्मिक जिज्ञासा न होकर कोई इहलौकिक लोभ अथवा प्रेम था। पुराने लोग इसी कारण के चलते ईसाई धर्म को बड़ी घृणा से देखते थे। ईसाइ धर्म में व्याप्त मांस भक्षण और शराब आदि के प्रचलन से इन्हें बड़ी नफरत थी। ईसाई धर्म भी बड़ी चालाकी से काम ले रहा था कारण था, कि वह हिन्दू धर्म से किसी भी दशा में मेल नहीं खा रहा था। फलस्वरूप हिन्दू धर्म की बुराइयों एवं रूढ़ियों का पर्दाफांस करना और हिन्दू धर्म के एक वर्ग विशेष को बहका कर अपने कब्जे में करना एक मात्र उनका उद्देश्य हो गया था।

अंग्रेजों के इस व्यहवार से समाज की स्थिति अत्यंन्त गम्भीर हो गई। क्योंकि विदेशी जातियों के आगमन से देश में मांस भक्षण तेजी से बढ़ रहा था जिसकी पूर्ति अत्यधिक संख्या में गायों के बध से की जाती थी। ऐसी दशा में धार्मिक जागरण की आवश्यकता महसूस की गई। इस प्रकार इस काल को धार्मिक पुनर्जागरण काल कहना गलत नहीं होगा इस काल में अनेकों संस्थाऐ स्थापित हुई, जो अपने नवीन दृष्टिकोण से व्यापक, सुदृढ़ और सुसंगठित समाज की भूमिका प्रस्तुत की। इस काल के धार्मिक जागरण के इतिहास में ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थनासमाज, ब्रह्मविद्या, रामकृष्ण मिशन आदि का प्रमुख योग है। रूढ़िग्रस्तता के विरोध में समाज का जागरूक होना अतीव आवश्यक था। डॉ0 शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में "19वीं शताब्दी के कशमकश में इस परम्परागत समाज को भी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए रूढ़ियों में कुछ सुधार करने पड़े। यों कहें कि रूढ़िग्रस्त समाज अपने सामयिक उपचार में लगा। फलतः उसकी रूढ़िग्रस्तता में एक

स्वस्थ रूढ़िप्रियता का संस्कार उत्पन्न हुआ।"[1]

ब्रह्म समाजः–

भारतीय सांस्कृतिक सुधार आन्दोलन के अगुवा राजा राम मोहन राय (1772–1883) जो संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी और अरबी के प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंनें ब्रह्म समाज की स्थापना 20 अगस्त 1828 ई0 को की।[2] यह संस्था धार्मिक संस्था थी, जिसने बढ़ते हुए ईसाइत को प्रतिहत किया और रूढ़े के विरूद्ध नवचेतना का सन्देश सुनाया। अंग्रेजी सभ्यता के प्रचार–प्रसार एवं हिन्दू समाज के कठोर विधि विधानों से पीड़ित हो बहुत से हिन्दू इसाइ धर्मावलम्बी होते जा रहे थे। जिन्हें राजा साहब ने रोका, इसके लिए उन्होंने भारतीय दृष्टिकोण से पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता की समीक्षा प्रस्तुत की, तथा उसके गुणों का समर्थन भी किया। उन्होंने ऐसे धर्म की खोज की जो अनुभूति का विषय बने। मानवीय उदारता एवं करूणा से संयुक्त हो तथा बाह्याचारों से मुक्त हो। उन्होंने धार्मिक और सामाजिक जड़ताओं को त्यागने का सन्देश दिया।[3] तत्कालीन हिन्दू समाज में प्रचलित मूर्तिपूजा, सतीप्रथा, बाल विवाह, छुआछूत एवं बहुविवाह आदि जैसी घृणित परम्परा उन्हें त्रृटिपूर्ण एवं घोर पाखण्ड प्रतीत हुए। फलत इस समाज ने इन बुराइयों का खुल कर विरोध किया।

वेदांत में मूर्तिपूजा, बहुदेव वाद और अवतारवाद आदि धार्मिक प्रपंचों का अभाव था। इसी अधार पर राजा राममोहन राय जो वेदांत के समर्थक थे, ने अपना विरोध प्रस्तुत किया। मिस कालेट ने राजा साहब की इन्हीं महत्तम उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि"इतिहास में राजा राम मोहनराय का स्थान उस महासेतु के समान है जिसपर चढ़कर भारतवर्ष अपने अथाह अतीत से अज्ञात भविष्य में प्रवेश करता है। प्राचीन जाति प्रथा और नवीन मानवता वाद के बीच जो खाई है, अंधविश्वास और विज्ञान के बीच जो दूरी है, स्वेच्छाचारी राज्य और जनतंत्र के बीच जो अंतराल है तथा बहुदेववाद और शुद्ध ईश्वरवाद के बीच जो भेद है, उन सारी खाइयों पर पुल बांधकर भारत को प्राचीन से नवीन की ओर भेजने वाले महापुरूष राममाहेन राय हैं।"[4]

---

1. शान्तिप्रिय द्विवेदी – युग और साहित्य – पृ0 – 146
2. रामवृक्ष सिंह उमाशंकर सिंह – भारतीय धार्मिक पुनर्जागरण – 45

राजा राम माहन राय के विचारों का प्रभाव उस समय के कावेयों लेखकों और साहेत्यिक संस्थाओं पर स्पष्ट रूप से पड़ा दिखाई देता है। डॉ0 केसरी नारायण शुक्ल के शब्दों में धार्मिक विवाद, बालविवाह, विधवाविवाह, जाति भेद, अंधविश्वास, समुद्रयात्रा निषेध आदि समस्याऐं भारतेन्दु के सामने थीं भारतेन्दु ने यथाशक्ति इन समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया।[1] भारतेन्दु ने स्त्री शिक्षा के बारे में लिखा कि –

जो हरि सोई राधिका, जो शिव सोई शक्ति।
जो नारी सोई पुरूष या में कछु न विभक्ति।
सीता अनुसूयासती अरून्धती अनुहारि।
शील लाज विद्यादिगुण लहौ सकल जग नारि।
वीर प्रसविनी बुध–वधू होई हीनता खोय।
नारी–नर अरधंग कौ सांचिहि स्वामिनि होय।[2]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही प्रथम ऐसे व्यक्ति थे, जिनकी दृष्टि छुआ–छूत संक्रामक व्याधि पर पड़ी और वे इसकी वृद्धि में अपने समाज को ही दोषी मानते है। उनका कहना है कि –

बहुत हमने फैलाये धर्म, बढ़ाया छुआ–छूत का कर्म।[3]

आर्य समाजः–

सांस्कृतिक नवजागरण में ब्रह्म समाज की ही भाँति आर्यसमाज का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है। इस समाज के सांस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। इनका व्यक्तित्व असाधारण था। उनके विचारों में अस्पष्टता और रहस्यवादिता लेश मात्र भी नहीं थी। उन्होंने आर्य-समाज के लिए वेदों को आधार माना क्योंकि वेद अपौरूषेय हैं, और वैदिक धर्म ही सत्य और सार्वभौम हैं, अन्य सभी धर्म अधूरे हैं। सामाजिक और नैतिक मूल्यों को देखते हुए आर्य समाज ने एक आचार संहिता बनायी जिसमें जाति भेद और मनुष्य–मनुष्य या स्त्री–पुरूष के असमानता के लिए कोई स्थान नहीं था।[1] उन्होंने समाज के बाधक तत्वों अवतार, मसीहा, पैगम्बर, महन्त, पोप, पण्डे, पुरोहित तथा आडम्बर पूर्ण धर्म का विरोध कबीर की भांति डटकर किया।

---

1. रामधारी सिंह दिनकर – संस्कृति के चार अध्याय – पृ0 – 545
2. डॉ केसरी नारायण शुक्ल – आधुनिक काव्य धारा – पृ0 70

उनका उद्देश्य था कि आजीवन प्रत्येक व्यक्ति हँसता रहे। संन्यासी होते हुए भी उन्होंने गृहस्थ धर्म को अप्रतिम महत्ता दी।[1] उन्होंने अपनी पुस्तक "सत्यार्थ प्रकाश" में अपने विचारों की व्याख्या करते हुए "वेदों की ओर लौटो" तथा "भारत भारतीयों" के लिए दो नारे लगाये उनका कथन है कि वास्तविक धर्म वैदिक धर्म ही है। रूढ़ियों और अंध विश्वासों के विरूद्व अपने आलोचनात्मक तथा जिज्ञासु मानस की भक्ति का प्रयोग करके उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से भारत की रूढ़िवादी श्रंखला को तोड़कर के स्त्री शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा पुर्नविवाह आदि को पुर्नजीवित कर दिया।[2] इस प्रकार आर्य समाज ने हिन्दू जाति के अन्दर एक नवीन नवजीवन को संचरित करने में सफल हो सका। आर्य समाज की स्थापना से पूर्व धर्म पतित हिन्दू पुनः अपने धर्म को स्वीकार नहीं कर सकता था। लेकिन आर्य समाज का ही ये देन है कि विधर्मी हुए हिन्दू पुनः वापस अपने धर्म में लौट सकता था। स्वामी दयानन्द का आर्य समाज अत्यधिक न्यून समय में ही सर्वत्र प्रसारित हो गया। तत्कालीन लेखक और कवि भी इसके प्रभाव से वंचित न रह सके। आर्य समाजी कवि सामाजिक रूढ़ि के विरूद्व हैं। वे मूर्ति पूजा का विरोध करते हैं। उनकी दृष्टि में पंडे और पुजारी भारतीय धर्म के ठेकेदार हैं। जो अपने कथन को ही वेद की प्रमाणिक बात मानते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी समाज में फैले इस ढोंग से विक्षुब्ध हो उठे और उन्हें भलाबुरा कहने में किसी भी प्रकार का कोई संकोच नहीं करते यहाँ तक कि इनके व्यहवार से चिढ़कर इन्होंने हिन्दी में पोप छन्द की रचना ही कर डाली।

ये चाल चलावें क्या उलटी जो पत्थर को पुजवाते हैं।
क्या पत्थर फिर भगवान मिले जब उनका ध्यान छुड़ाते हैं।
सब नदी नाले ढूँढ चुके तब रेती पर ही वार करें।
ये गौर पुजावें देवी की फिर रेती का भरमार करें।
क्यों पड़े फेर में पापों के तुम नाहक जन्म गँवाते हो।
जंजाल तजो जगदीश भजो क्यों भटके भटके फिरते हो।[3]

---

1. डॉ0 लक्ष्मी नारायण दुबे – हिन्दी साहित्य में आर्य समाज की अभिव्यक्ति – पृ0 31
2. डॉ0 लक्ष्मी नारायण दुबे – हिन्दी साहित्य में आर्य समाज की अभिव्यक्ति – पृ0 21
3. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र – भारतदुर्दशा – प्रवर्तक खण्ड–4, नं02

आर्य समाज ने भारतीय सांस्कृतिक उत्थान के लिए धर्म प्रचार का सहारा लिया। क्योंकि धार्मिक एकता के सूत्र से ही देश में राजनीतिक एकता का सूत्र गूंथा जा सकता था। मनुष्य के अन्तस्तल में बैठकर मानव–मानव के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न आय समाज ने ही किया। डा0 केसरी नारायण शुक्ल के शब्दों में, ''वे चाहते थे कि हिन्दू अपने रूप को पहचान लें, जिससे उन्हें बहकाकर अपनी संस्कृति से विमुख न कर सकें।[1] इस प्रकार के उद्‌गारों से भारतेन्दु युगीन कविता का भण्डार भरा पड़ा है।

थियोसोफिकल सोसायटी :–

ब्रह्म समाज, आर्य समाज की ही भाँति थियोसोफिकल सोसायटी भी एक संगठन था। जिसका उद्‌देश्य था धार्मिक पुनरूद्धार । इस संगठन ने भारतीय सुषुप्त संस्कृति को जागृति तो किया ही साथ ही साथ प्राचीन हिन्दू धर्म और संस्कृति के मुख्य तत्वों एवं विशेषताओं के गौरवमय स्वरूप को प्रकाशित किया। इस संस्था ने अंग्रेजियत् के उथले रंग में रंगे और अंग्रेजियत् का दम भरने वालों को अपने समाज के सत्स्वरूप को देखने और सोचने को बाध्य किया।[2] वैसे तो इस सोसायटी की स्थापना भारत से दूर न्यूयार्क में सन् 1875 में हुई थी। परन्तु भारत में इस सोसायटी के उद्‌देश्यों को एनीबेसेंट ने प्रचारित किया। यद्यपि एनीबेसेंट एक आयरिश महिला थीं, पर उनका हृदय भारतीय था। उनका मानना था कि वे पूर्व जन्म में हिन्दू और भारतीय थीं। इसलिए वह जीवन पर्यन्त भारत को अपनी वास्तविक मातृभूमि और भारतीयों को देश–बन्धु मानती रहीं।[3] वाराणसी में रहकर उन्होंने सेण्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की, जिसका विकसित रूप आज का हिन्दू विश्वविद्यालय है। बनारस में ही रहते हुए उन्होंने गीता का अनुवाद किया, रामायण और महाभारत की संक्षिप्त कथाएं लिखीं एवं हिन्दू–धर्म तथा संस्कृति विषयक अनेक ओजस्वी भाषण दिये।[4] इस प्रकार के व्याख्यानों का प्रभाव भी भारतीय समाज पर पड़ा। तत्कालीन कवियों में इसके प्रभाव को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमघन, आम्बिकादत्त व्यास

---

1. डॉ0 केसरी नारायण शुक्ल – आधुनिक काव्य धारा – पृ0 79
2. डॉ0 केसरी नारायण शुक्ल – आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्त्रोत – पृ0 44
3. डॉ0 रामवृक्ष सिहं – भारतीय धार्मिक पुनर्जागरण – पृ0 96
4. रामधारी सिहं दिनकर – संस्कृति के चार अध्याय – पृ0 564

आदि कवियों में सामाजिक उन्नति के भाव लबालब भरे थे। राधाकृष्ण दास तो भारत से अविद्या का नाश करने के लिए प्रभु से अवतार लेने की प्रार्थना करते हैं।

प्रभु हो पुनि भू–तल अवतरिए।
अपने या प्यारे भारत के पुनि दुःख दारिद हराऐ।
महा अविद्या राक्षस ने या देसहि बहुत सताये।
साहस पुरूषारथ उद्यम धन सबही निधि न गंवायो ।
जो कोउ हित की बात कहत तो को पैं सबही भारी ।
धरम–बहिरमुख मूरख नास्तिक कहि कहि देवें गारी।[1]

इस प्रकार भारतेन्दु युग सामाजिक जागृति का युग था। तत्कालीन कवियों की वाणी में सुधार के शब्द ही मुखरित होते है। श्रीमती एनीबेसेंट ने उन्नीसवीं शताब्दी के भारत का जो हाल देखा था। वह काफी दर्दनाक था। लोग आस्तिकता और नास्तिकता के बीच झटके खा रहे थे। अधिभौतिकता की बाढ़ के मारे राष्ट्र का जीवन विश्रृंखलित हो गया था। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोग हक्स्ले, मिल और स्पेंसर के अनुयायी हो रहे थे, किन्तु अपने साहित्य का उन्हें कोई ज्ञान नहीं था। वे अपने अतीत से घृणा करते थे। अतः भविष्य के विषय में उनका कोई विश्वास नहीं था। इस मुर्दनी पस्त हिम्मती और निराशा की खाई को भरने के लिए यह आवश्यक था कि हिन्दुओं के भीतर अपने धर्म के प्रति आस्था और अपने इतिहास के प्रति अभिमान जगाया जाय।[2] यही कार्य ब्रह्म समाजी और आर्य समाजी दोनों ही करते आ रहे थे। लेकिन ब्रह्म सामजियों का संशोधित हिन्दुत्व ईसाइयत का भारतीय संस्करण हो गया था। उसी प्रकार आर्य समाज भी प्रचलित हिन्दुत्व से ईषत् पृथक दीखता था। ऐसी अवस्था में श्रीमती बेसेंट और उनके समाज को यह श्रेय अवश्य दिया जा सकता है, कि उन्होंने खण्डित नहीं अखण्ड हिन्दुत्व का वीरतापूर्ण आख्यान दिया। उनके आख्यानों में केवल वेद, उपनिषद् और गीता का ही उद्धरण नहीं प्रप्युत स्मृति, पुराण धर्मशास्त्र और महाकाव्य से जब जहां जिसकी जरूरत पड़ी बेहिचक हवाला दिया।

---

1. श्याम सुन्दर दास (संपादक) राधाकृष्ण ग्रंथावली – (विनय) – 1930
2. रामधारी सिंह दिनकर – संस्कृति के चार अध्याय – पृ0 565

सन् 1914 ई0 में उन्होंने एक भाषण में कहा कि "चालिस वर्षो के सुगम्भीर चिंतन के बाद मैं यह कह रही हूँ कि विश्व भर के सभी धर्मो में हिन्दू धर्म से बढ़कर पूर्ण, वैज्ञानिक, दर्शनयुक्त एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण धर्म दूसरा और कोइ नहीं है।[1]

इसमें कोई विवाद नहीं कि ऐनीबेसेंट ने भारतीय संस्कृति को समझा और उसके तत्कालीन विकृत हो रहे स्वरूप को एक स्वस्थ और गौरवमय रूप प्रदान किया।

रामकृष्ण मिशनः-

रामकृष्ण मिशन की स्थापना सन् 1866 ई0 में हुइ। इसके संस्थापक रामकृष्ण के शिष्य स्वामी विवेकानन्द थे।[2] रामकृष्ण परमहंस का जन्म बंगाल के हुगली जिले के "कामारपुकुर" गाँव में 17 फवरी 1836 में हुआ था।[3] रामकृष्ण न तो बहुत बड़े विद्वान थे और न बहुत बड़े समाज सुधारक नेता थे। वे संत थे और उन्होने आध्यात्मिक अनुभूति की थी। तर्क और वाद-विवाद उन्हें मान्य नहीं था। वे अन्तर्मुखी साधक थे। अपनी एकान्त साधना के बल पर ही उन्होंने धार्मिक तत्वों का ज्ञान प्राप्त किया था। उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि इस गरीब, अपढ़, गँवार, रोगी अर्धे मूर्ति पूजक, मित्रहीन हिन्दू भक्त ने बंगाल को बुरी तरह हिला दिया। जब आस्तिक और नास्तिक हिन्दू, ईसाई और मुसलमान आपस में इस प्रश्न पर लड़ रहे थे, कि किसका धर्म श्रेष्ठ है और किसका धर्म नहीं, तब परमहंस राम कृष्ण ने सभी धर्मो के मूलतत्व को अपने जीवन में साकार करके मानों विश्व को यह संदेश दिया कि धर्म को शास्त्रार्थ का विषय मत बनाओं।[4] जिस प्रतिमा पूजन की व्यर्थता अधिकांश समाज सुधारकों ने सिद्ध की थी, उसी प्रतिमापूजन को आस्था के साथ जोड़कर रामकृष्ण ने उसे ईश्वर प्राप्ति का साधन बताया। उनके मन में किसी धर्म और सम्प्रदाय के प्रति आक्रोश और घृणा के भाव नहीं थे। अतः रामकृष्ण ने धर्म और सेवा के क्षेत्र में भारत का नये सिरे से पथ-प्रदर्शन किया। आपने हिन्दू धर्म के प्राचीन और सर्वमान्य सत्यों को अपने जीवन में चरितार्थ किया। इनके जीवन में तप त्याग और सेवा का मधुर समन्वय देखने को मिलता है।

---

1. इंडियन अनरेस्ट का अंश - दिनकर - संस्कृति के चार अध्याय से - पृ0 566
2. डॉ रंजन - भारतेन्दु युगीन काव्य में भक्ति धारा - पृ0 - 94

दूसरों की सेवा को ही अपना सच्चा धर्म समझते थे। बचपन से ही श्री रामकृष्ण गंदी साम्प्रदायिकता तथा संकुचित भावों के विरोधी थे। किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि सभी सम्प्रदाय और मत मतान्तर सच्चे जिज्ञासुओं को समस्त धर्मों के सवसम्मत लक्ष्य तक पहुँचने के लिए भिन्न–भिन्न रास्ते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण के इन्हीं उपदेशों को ग्रहण किया एवं उनके प्रचार प्रसार के लिए मिशन की स्थापना की। ये मिशन कोई क्रान्तिकारी संस्था नहीं थी जो क्रांतिकारी आवाज बुलन्द करती, लेकिन विकृतियों के दिशा में नवीन सुधारात्मक दृष्टि अवश्य प्रदान करती है। डॉ0 रामचन्द्र मिश्र के शब्दों में – "रामकृष्ण मिशन एवं थियोसोफिकल सोसाइटी के सिद्धान्तों ने देश में इसाई धर्म के प्रचार को रोका। रामकृष्ण परमहंस के सिद्धान्त भारतीय आध्यात्मिक जीवन के सम्पोषक थे।"[1] स्वामी विवेकानन्द का व्यक्तित्व बड़ा ही महान था, इनके व्यक्तित्व के सामने अमेरिका का धर्मज्ञान और गौरव नतमस्तक हो गया था। यह बात इसी से स्पष्ट हो जाती है, कि स्वामी जी का सम्मान जितना अमेरिका ने किया उतना अपना देश नहीं कर सका।[2] स्वामी जी सत्य और स्पष्ट बोलने वाले थे। सत्य पर पर्दा डालना या किसी को खुश करने की प्रवृत्ति उनमें नहीं थी। किसी भी बात को बेहिचक कह जाते थे। उनके व्यक्तित्व के बारे में उनके ही शब्दों "मुझे एक सन्देश देना है। मेरे पास विश्व के प्रति मृदुल बनने के लिए अवकाश नहीं है --- मैं सहस्त्रों बार मरना पसन्द करता हूँ --- चाहे वह देश हो अथवा विदेश"[3] इस प्रकार से सिद्धान्तों का प्रभाव भारतीय राष्ट्रीय जागरण के इतिहास में एक अध्याय के समान है।

उक्त धार्मिक सुधारों के फलस्वरूप भारतीय रूढ़िवादी समाज अपनी निद्रा भंग करने में समर्थ हो सका । उसे अपना अस्तित्व समझने का बल मिला। जो भारतीय पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव में आकर अपनी संस्कृति और धर्म को समाज की प्रगति में बाधक समझ रहे थे। उन्हें भी इन सुधारकों ने एक नवीन दृष्टि प्रदान की इस नवीन दृष्टि के आलोक में उन्हें यह विश्वास मिला कि अतीत पुण्य जो उनमें अभी भी अवशेष है – के आधार पर अपने जीवन का विकास कर सकते हैं।

---

1. डॉ0 रामचन्द्र मिश्र – श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व स्वच्छन्दतावादी काव्य – पृ0 55
2. डॉ0 रंजन – भारतेन्दु युगीन काव्य में भक्तिधारा – पृ0 94
3. डॉ0 रामवृक्ष सिंह– भारतीय धार्मिक पुनर्जागरण – पृ0 129

इन प्रयासों का ही योगदान है, कि प्राचीन जीर्ण-शीर्ण परम्परायें ध्वस्त हुई, और अनेक नये आदर्शों ने जन्म लिया। तत्कालीन कवियों ने भी अपना स्वर इससे मिलाया और अपने अतीत-गौरव को युगानुरूप प्रस्तुत कर साहित्य को एक नया मोड़ दिया।

भारत अभी मुगलों से मुक्त हो ही नहीं पाया था, तभी आंग्ल महाप्रभुओं ने उसे खरीद लिया। अब देश इष्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन हो गया। भारत की स्थिति मात्र योरोप के एक बाजार के रूप में हो गई। ये अवस्था भी ज्यादा दिन तक नहीं टिक सकी ब्रिटिश सरकार ने इष्ट इण्डिया कम्पनी से भारत को छुड़ा कर अपने शासन में ले लिया। इस शक्ति स्थानान्तरण में जो भी खर्च हुआ उसे भारत को ही भरना पड़ा। ये कहना गलत नहीं कि अंग्रजी राज आर्थिक शोषण का चक्रव्यूह था। भारतेन्दु के साहित्य में इस आर्थिक शोषण का चित्र स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

अंग्रेज राज-सुख-साज सजे सब भारी।
पैधन विदेश चली जात यहै अति ख्वारी।[1]

पंडित प्रताप नारायण मिश्र की भी दृष्टि भारतीय आर्थिक शोषण पर पड़ी। उन्होंने लिखा कि जिस भारत लक्ष्मी को मुसलमान सात सौं वर्ष में अनेक उत्पात करके भी न ले सके उन्होंने सौ वर्ष में धीरे-धीरे ऐसे मजे के साथ उड़ा लिया कि हँसते खेलते विलायत जा पहुँची।''

सर्वसु लिए जात अंग्रेज हम केवल लेक्चर के तेज।
श्रम बिन बातें का करती है कहूँ टटकन गाजै टरती हैं।[2]

भारतेन्दु युग के कवियों ने आर्थिक पराधीनता से देश को मुक्त करने के लिए सफल प्रयास किया। डा0 केसरी नारायण शुक्ल के शब्दों में "इस समय के प्रमुख कवियों ने देश की आर्थिक पराधीनता दूर करने और इस हेतु देशवासियों को जगाने के लिए कविता का सम्बन्ध जीवन की वास्तविकता से जोड़ दिया।[3] तत्कालीन कवियों ने ढहते हुए समाज के ढाँचे को सजाने और सँवारने के लिए विरोधी प्रवृत्तियों जातिभेद जो उस समय समाज के अन्दर कोढ़ के रूप में पनप रही थीं, उसका विरोध किया। विरोध स्वाभाविक प्रक्रिया है, दृष्टिकोण

ब्रजरत्न दास (सं.) भारतेन्दु ग्रंथावली, पहला खण्ड – पृ0 598
प्रताप नारायण मिश्र – ब्राहमण खण्ड-4, संख्या-2 (द)
डॉ0 केसरी नारायण शुक्ल – आधुनिक काव्यधारा-(वाराणसी) पृ0-36

के स्तर पर व्यापकता अति न्यून होती जा रही थी, संकीर्णता का प्रभाव इतना विशद रूप ग्रहण कर चुका था कि लोग निरन्तर अधोगति की तरफ जा रहे थे। अगर ब्राहमण वर्ग अपने अतीत के गौरव के मद में चूर था तो निम्न वर्ग अपने कामों के प्रति उदासीन। ब्राहमण नवीनता के प्रतिद्वन्दी थे। वे अपने प्राचीन गुरूत्व और पापाचार के संरक्षण में व्यस्त थे।[1] इनका पापाचार इस स्तर पर पहुँच गया था, कि बालहत्या और नरबलि भी धर्म-सम्मत मानी जाती थी।[2] आडम्बर तो कहने ही लायक नहीं जमीन पर पेट के बल रेंगते हुए या लुढ़कते हुए तीर्थयात्रा करना, काशी या प्रयाग में जीवित अवस्था में जल प्रवाह लेना, या जिंदे जमीन में गड़ जाना, केवल भूखे रहकर शरीर को सुख लेना, एक पैर से खड़े रहना कॉटो की शय्या पर सोना, आदि अनेक यातना पूर्ण धार्मिक प्रवृत्तियों का प्रचार था।[3] कुल मिलाकर ये देखने को मिलता है कि धर्म मात्र आडम्बर तक सीमित हो गया था। उपासना का क्षेत्र अश्लीलता से पूरित और उसके केन्द्र भ्रष्टाचार के अड्डे बन गये थे। महन्तों के घर पापाचार के आश्रम थे, और मूर्तियों को पूजवाने वाले पण्डे विलास में डूबे हुए थे।[4] जहाँ तक धार्मिक एकता की बात है बिल्कुल ही समाप्त हो गयी थी। जनता इतनी रूढ़िप्रिय हो गयी थी, कि पूजा-पाठ भाग्यवाद, अवतारवाद और तीर्थयात्रा पर उसका पूर्ण विश्वास था। तद्युगीन कवियों पर इस सांस्कृतिक एवं धार्मिक स्थिति का पूर्ण प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप उनकी लेखनी से जो निःसृत हुआ दृष्टव्य है –

> विप्र वेद पढिबो तो, निन्दित कर्म करें चितलाई।
> झूठ ज्ञान उपदेशत डालें बने समाजी भाई।[5]

समाज में नारी की विशेष कर विधवा की स्थिति अत्यन्त कारूणिक थी। सती प्रथा का प्रचलन था। इन अमानवीय परम्पराओं का विरोध सामाजिक स्तर पर तो किया ही गया कानूनी रोक भी लगायी गयी। विधवाओं को पुनः विवाह करने का अधिकार प्रदान किया गया और समाज में आदर और सम्मान की अधिकारिणी घोषित किया गया। इस युग के

---

1. डॉ0 सुरेश चन्द्र शुक्ल – प्रताप नारायण मिश्र – जीवन और साहित्य – पृ0 93
2. डॉ0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय – आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास – पृ0 81
3. डॉ0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय – आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास – पृ0 10
4. रामधारी सिंह दिनकर – संस्कृति के चार अध्याय – पृ0 238
5. प्रताप नारायण मिश्र – भारत दुर्दशा, रूपक – अंक-1 दृश्य पहला, 1902 ई0

कविगणों ने भी इस दुर्बलता को मिटाने के लिए प्रेरणादायक साहित्य की रचना प्रस्तुत की। उनके विचारों में विधवा – विवाह का समर्थन प्रमुख है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रेमघन की वाणी तो इस सामाजिक रूढ़ि के प्रति विद्रोहात्मक हो गयी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रशंसा में जो कविता लिखी उससे विधवा विवाह को समर्थन प्राप्त होता है।

दयानन्द है ब्रह्मचारी इन उत्तम एक विचारी
देशोन्नति के कारण सभा बहु प्रचारी है।
पूर्व वेद को पसारो मिथ्या पुराण को निकारो
ब्याह विधवा को प्रचार्यों ऐसे महन्त धर्माधिकारी हैं।[1]

इस प्रकार भारतेन्दु युग में नारी शिक्षा, विधवाओं की दुदर्शा, अस्पृश्यता आदि को लेकर सहानुभूतिपूर्ण कविताएँ लिखी गयी, समस्याओं को रूपायित करने के लिए कवियों ने एक ओर मध्यवर्गीय सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया तो दूसरी ओर रूढ़ियों का विरोध करते हुए विकास–चेतना की आकांक्षा को भी अभिव्यक्ति दी।[2] पंडित प्रताप नारायण मिश्र भी विधवा विवाह के समर्थक थे। उनका विचार था, कि विधवाओं से समाज में व्यभिचार बढ़ता है। इसका उत्तरदायित्व समाज पर ही है, उनके शब्दों में – "पांच बरस की विधवा का यौवन काल में व्यभिचार एवं भ्रूण हत्या टुकुर–टुकुर देखते रहना, वरंच छिपाने का यत्न करना, पर विधवा विवाह का नाम लेने वालों से मुँह विचकाना यदि भलमंसी है, तो ऐसी भलमंसी को दूर से ही नमस्कार ।[3]

विधवा विवाह की ही भांति बाल–विवाह बेमेल विवाह आदि कुरीतियों पर दृष्टि डालते हुए तत्कालीन कवियों और लेखकों ने विरोध के लिए बड़े ही ओजस्वी वाणी का प्रयोग किया। क्योंकि समाज का उत्थान तभी संभव है जब प्रत्येक व्यक्ति नैतिक रूप से उत्कर्ष प्राप्त कर सके। कुरीतियाँ मूल रूप से अशिक्षा और कुसंस्कार से पल्लवित एवं पुष्पित होती है, जिससे समाज की सृजनात्मक और नवोन्मेष शालिनी शक्ति का ह्रास हो जाता है। उसे जीवित और स्वस्थ स्वरूप तभी प्राप्त हो सकता है जब उसमें नये प्राण, नवीन शक्ति, चेतना का अभ्युदय हो। धार्मिक पुनर्जागरण इसी प्रकार का एक प्रयास था जो इन्हीं

---

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र – भारत दुर्दशा – प्रवर्त्तक सं0 3, नं0 8

कुरीतियों को परिलक्षित कर अपने सिद्धान्तों का निर्माण करता है। तद्‌युगीन आर्यसमाज से प्रभावित कवियों ने बाल-विवाह विरोध को शीर्ष वरियता प्रदान की।

बाल विवाह कुदान अंडबंड पूजा दहेज
स्त्री – शिक्षा दान व्याख्या आर्य समाज की।
मनुष्य को उचित सब आपस में मिल राखें
गृहस्थी को कार्य सब वेदानुकूल करिबो।
मुरली धर सुचित ह्वै कवित्त को बनाय कहै
हम आपने को उचित देश-उन्नति को करिबो।[1]

बाल-विवाह का विरोध करते समय कवियों ने उसके कुप्रभाव का भी वर्णन किया। उनका उद्‌देश्य था अपने विरोध को तर्कसंगत बनाना जिससे प्रत्येक व्यक्ति सहज ही इस सामाजिक कुव्यवस्था को समझ सके।

बाल विवाह जब कियो तज्यो सकाम सकल विधि,
जार पंथ चित दियो तिया शुचि लाग लेन बुधि।
भये सुमूरख सकल बिधि तिय मय लागे जग लखन
सर्व मर्यादा धर्म तजि लागे मातु पितु से लखन
याते करिय विचार बाल-ब्याह नहिं कीजिए
वय विद्या अनुहारि पूर्ण अवस्था व्याहिए।[2]

प्रेमधन जी बाल-विवाह का विरोध इन शब्दों में करते है- 'ऐसी अवस्था में ऐसी निर्दयता कठोरता और अन्याय के साथ जो विवाह बाल्यावस्था में ही किया जाता है, यद्यपि उससे जो जो आपत्तियाँ आती हैं, उसका वर्णन सर्वथा असम्भव है पर तो भी यह तो प्रसिद्ध है कि ऐसे ब्याह से आपस की प्रीति और मेल कैसे उत्पन्न होने की संभावना हो सकती है। अन्याय प्रकृति का प्रतिकूल होना हर अवस्था में दुख का विषय है किन्तु इस स्थान पर धर्मा धर्म तथा शास्त्राज्ञा का कुछ भी विचार नहीं करते।[3]

प्रेमघन जी ने तो बाल-विवाह को मात्र धर्म और शास्त्रों का उल्लंघन बताया, लेकिन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने तो इसे मनुष्य के वर्तमान स्वरूप को विद्रूप करने और बल, वीर्य

1. प्रताप नारायण मिश्र – शुभचिन्तक, खण्ड-1, नं0 – 1
2. प्रताप नारायण मिश्र – शुभचिंतक, ब्राह्मण, खण्ड – 1
3. प्रभाकेश्वर संपादित – प्रेमघन सर्वस्व, द्वि0 भाग – पृ0 – 187

और आयुष्य को नष्ट करने का उपक्रम बताया। भारतन्दु के ही शब्दों में – "लड़को का छोटपन में ब्याह करक उनका बल, वीर्य, आयुष्य सब मत घटाइयें। आप उनके मां–बाप हैं या शत्रु हैं। वीर्य उनके शरीर मे पुष्ट होने दीजिए विद्या कुछ पढ़ लेने दीजिए, नोन, तेल, लकड़ी की फिक्र करने की बुद्वि सीख लेने दीजिए तब उनका पैर काठ में डालिये।[1]

भारतेन्दु युगीन कवियों एवं लेखकों के विचारों के अवलोकन से स्पष्ट है कि उस युग के समस्त कवि ने समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पूरा का पूरा निर्वाह किया है। वे सभी समाज के प्रति जागरूक थे। उनका चेतन मस्तिक, सामाजिक रूढ़ियों एवं कुरीतियों के प्रति प्रबुद्ध था। फलस्वरूप उन्होंने सामाजिक अभ्युत्थान के प्रति सजग होकर अपनी वाणी से समाज को प्रेरणा दी। समाज एक स्वस्थ और सबल रूप में गढ़ा जा सके इसलिए समाज मे व्याप्त रूढ़ियों, अंधविश्वासों और पाखण्डों का विच्छेदन करते हुए सर्व धर्म समत्व एवं एकता की भावना का बीजारोपण किया गया। भारतेन्दु युग कुल मिलाकर लोकदृष्टि के विस्तार का युग था। कवियों का दृष्टिकोण भक्तिकालीन दृष्टिकोण स्वान्तः सुखाय न होकर बल्कि बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय था।

भारतेन्दु युगीन भक्तिधारा : परम्परागत और नवीन स्वरूपः–

हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारतेन्दुयुग है, जो आधुनिक कविता का प्रवेश द्वार है। भारतेन्दु के प्रयास से ही कविता रीतिकालीन दरबारी तथा श्रृंगार प्रधान वातावरण से निकल कर जनता के सीधे सम्पर्क में आई। भारतेन्दु युग आधुनिक कविता का ऐसा प्रांगण है, जिसमें भक्ति कालीन रंगों से आरक्त फूलों की क्यारियों तो हैं ही दूसरी तरफ रीतिकालीन श्रृंगार भावना से भरी लतायें भी अपने ऐन्द्र जालिक रूप में फैली दृष्टिगोचर होती है। भारतेन्दु ने तद्‌युगीन प्रवृत्तियों में परिवर्तन करके एवं रीतिकालीन श्रृंगारिका वृत्ति को युगानुरूप मोड़ देकर उसमें राष्ट्रीयता और समाज सुधार आदि भावना का समावेश किया। डॉ0 श्याम सुन्दर दास ने लिखा है कि "रीति कविता की शताब्दियों से चली आती हुई गन्दी गली से निकल शुद्ध वायु में विचरण करने का श्रेय हरिश्चन्द्र को पूरा–पूरा है।[2]

---

1. भारतेन्दु ग्रंथावली – तीसरा खण्ड – पृ0 191
2. श्याम सुन्दर दास – हिन्दी साहित्य – पृ0 280

इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने कविता के प्रवाह को रोका नहीं, बल्कि एक नया रास्ता दिखाया। रीति कालीन कविता के प्रवाह का स्पष्ट प्रभाव इस युग की भक्ति काव्य धाराओं पर परिलक्षित होती है। वर्तमान काल अपनी अतीत का पोषण करता है और भविष्य की उज्ज्वल सम्भावनाओं को सिद्ध करता है। वास्तविकता तो ये है कि किसी युग के साहित्य में कोई भी नवीन प्रवृत्ति एकाएक विस्फोटक रूप से उत्पन्न नहीं होती वरन् उसका बीज प्रस्तुत वातावरण में बहुत गहराई तक होता है। और जैसे ही उसे उपयुक्त वातावरण मिलता है अंकुरित होकर विकसित एवं पल्लवित पुष्पित हो जाता है। पर ऐसा भी नहीं कि भारतेन्दु काल ने रीतिकालीन वातावरण का पोषण किया। लेकिन इतना सच अवश्य है कि वह उससे प्रेरित रहा। भारतीय जनता की मूल भावना को देखा जाय तो वह धर्म प्रधान देश के निवासी होने के कारण धार्मिक दृष्टि को ही विशेष महत्व देती है। मनुष्य की चेतना को वर्तमान में जब कोई सुख सन्तोष नहीं मिलता तो वह कभी-कभी भूतकाल की ओर पलायन करके उस युग का स्मरण करना चाहती है, जिसमें उसके आहत अहं को परितोष मिल सके एवं उसकी आत्महीनता की भावना की क्षति-पूर्ति हो सके। भारतेन्दु युग के कवियों को हम वर्तमान से पूर्णतः निराश तो नहीं पाते फिर भी कुछ अंश तक उनमें निराशा अवश्य दिखाई देती है और उनका केवल ईश्वर को ही देश का रक्षक अनुभव करना और उससे ही देश के उद्धार के लिए अनुनय विनय करना आदि से सिद्ध हो जाता कि वे भागवत् कृपा के आकांक्षी हैं। वह अपनी मातृभूमि की परतंत्र जनता को अत्याचारों से परित्राण दिलाने के लिए भगवान को पुकार उठते हैं।

> कहाँ करूणानिधि केशव सोये।
>
> जगत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोये।[1]
>
> ×　　×　　×　　×
>
> प्रभु हो पुनि भू-तल अवतारिए।
>
> अपने या प्यारे भारत के पुनि दुःख दारिद हारिए।
>
> महा अविद्या राक्षस ने या देसहि बहुत सतायो।
>
> साहस पुरूषारथ उद्यम धन सबही निधिन गंवायो।
>
> जो कोउ हित की बात कहत तो कोपैं सबही भारी।
>
> धरम-बहिर मुख मूरख नास्तिक कहि कहि देवें गारी।[2]

---

1. भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – पृ0 683

प्रभु को पुनः भू:तल पर अवतरित होने का यह आग्रह युगानुरूप है, क्योंकि तत्युगीन वातावरण में उन्हें पग–पग पर उपेक्षा एवं घृणा का सामना करना पड़ता था। जिससे उनका अन्तःकरण इस उपेक्षा, घृणा, अपमान एवं तिरस्कार के कारण त्राहि–त्राहि कर उठता था। ऐसे परिवेश में स्वाभाविक है कि वह अपने स्वर्णिम अतीत पर गर्व करें। भारतेन्दु जी देश की इस अधोगति, से अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्होंने "भारत दुर्दशा" नामक नाटक लिखा। जिसका आरम्भ उन्होंने अश्रुसिक्त नेत्रों से किया। भारत की दुदर्शा और उसके अधःपतन पर वह अकेले अश्रुपात नहीं करते साथ ही साथ वह समस्त देशवासियों को उसकी कुदशा पर अश्रु बहाने को कहते हैं।

रोवहु सब मिलके आवहु भारत भाई।
हा हा। भारत दुर्दशा न देखी जाई।[1]

धार्मिक परिस्थितियां मानव मस्तिष्क के चिन्तन चक्र पर आध्यात्मिक प्रभाव डालती है। इस युग की स्थिति में धार्मिक प्रभाव का स्वतंत्र रूप प्रायः स्पष्ट नहीं होता है। मध्यकालीन भक्ति–भावना का परम्परागत चित्रण ही देखने को मिलता है। इस युग के उपास्य भी विष्णु, शिव, दुर्गा, सरस्वती आदि देवी, देवता ही हैं। अवतारवाद, मूर्ति पूजा, कर्मकाण्ड का वही परम्परागत रूप ही दृष्टिगोचर होता है। कुछ कवियों ने परम्परा के प्रभाव स्वरूप संसार की नश्वरता, माया मोह की व्यर्थता, विषया-सक्ति की निन्दा आदि विषयों पर उपदेशात्मक ढंग से विचार व्यक्त किये हैं।[2] मुख्य रूप से सगुण भक्ति भावों की ओर कवियों का आकर्षण अधिक देखने को मिलता है। इसमें भी कृष्ण काव्य का सृजन राम काव्य की अपेक्षा अधिक हुआ। भक्ति भावना की अभिव्यक्ति में नवधा भक्ति को ही आधार माना गया और अपने उपास्य देव के प्रति श्रवण, कीर्तन आदि का शुद्ध हृदय से स्तुति गाइ गई धार्मिक जगत् की भावनाओं में नवीनता तो नहीं दिखाइ पड़ती, लेकिन रूढ़िगत धार्मिक प्रवृत्तियों में सत्यता का समन्वय सराहनीय है।[3]

---

1. भारतेन्दु: भारतेन्दु नाटकावली – भारत दुर्दशा – पृ0 457
2. डॉ0 नगेन्द्र – हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 463
3. डॉ0 रंजन – भारतेन्दु युगीन काव्य में भक्ति धारा – पृ0 107

भारतेन्दु युगीन काव्य जगत कबीर, सूर, तुलसी मीरा आदि से प्रभावित है। घनानन्द. बिहारी और देव से भी प्रभाव ग्रहण करने में उन्होंने संकोच नहीं किया क्योंकि आधुनिक काल में भारतीय समाज के सामने पुनः वैसी ही समस्यायें उत्पन्न हो गयी थी जैसी की मध्यकाल में थी। ऐसी अवस्था में अगर कबीर की विचारधारा को अपना उद्देश्य एवं प्रेरणा क रूप मे अपनाया गया तो गलत क्या है। आचार्य द्विवेदी ने भी लिखा है कि "कबीर न ऐसी बहुत सी बातें कही है, जिनके प्रयोग से समाज सुधार में सहायता मिल सकती है।[1] भारतेन्दु जी स्वयं वैष्णव थे। लेकिन किसी भी धर्म से उन्हे घृणा नहीं थी। वे जन्मजात भक्त थे। उनका हृदय भक्तिरस स्नात था। वे नदिया एक, घाट बहु तेरे की तरह सभी धर्मों को ईश्वर के नजदीक पहुँचने का भिन्न-भिन्न मार्ग मानते थे। यही कारण है कि भारतेन्दु युग प्रभाव ग्रहण करने में कोई हिचक नहीं रखता। डा0 किशोरी लाल गुप्त ने भारतेन्दु जी के बारे में लिखा है कि "अन्य कवियों का प्रभाव ग्रहण करना उन्हें अस्वीकार नहीं था, प्रत्युत अपने पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं से पूर्ण लाभ उठाने के पक्षपाती थे।[2] कवि अपने कवि कर्म में बड़ा ही रूढ़िप्रिय होता है। इस युग के कवियों की यही रूढ़िप्रियता सूर, बिहारी देव, पद्माकर आदि। से प्रभाव ग्रहण करने से वंचित नहीं रख सकी।

भारतेन्दु जी भी सूर की ही भांति बल्लभ सम्प्रदाय के शिष्य थे। वे अपने साहित्यिक जीवन के शैशव अवस्था में ही सूर के अनुकरण पर निम्न पद की रचना कर दी थी।

बावरी प्रीति करो मति कोय।
प्रीति किए कौने सुख पायो मोहिं सुनाओ सोय।
प्रीति कियो गोपिन माधव सो लोक लाज भय खोय।
उनको छोड़ गये मथुरा को बैठि रही सब रोय
प्रीति पतंग करत दीपक सौ सुन्दरता कहँ जोय।
सो उलटो तेंहि दाह करत है पच्छ नसावत दोय ।

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी – कबीर – पृ0 219
2. डॉ0 किशोरी लाल गुप्त – भारतेन्दु और उनके पूर्ववर्ती कवि – पृ0 21

जानि बूझि के प्रीति करी हम कुल मरजादा धोय ।

अब तो प्रीतम रंगरंगी में होनी होय सो होय ।[1]

उपरोक्त पद सूर के निम्नोक्त पद से प्रेरित प्रतीत होता है –

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो ।

प्रीति पतंक करी दीपक सों आपै प्रान दह्यो

अलि–सुत प्रीत करी जल–सुत सों, संपुट मांझ गह्यो।

सारंग प्रीति करी जु नाद सौ सन्मुख बान सह्यो।

हम जो प्रीति करी माधव सों चलत न कछु कह्यो ।

सूरदास प्रभु बिन दुख पावत नैननि नीर बह्यो।[2]

भारतेन्दु जी भावुक प्रकृति में व्यक्ति थे, किसी का भी कष्ट उन्हे असह्य था। उनके काव्य में जीवन के दुखद वातावरण पर अत्यधिक ग्लानि व्यक्त हुई दिखाई देती है। क्योंकि यह सम्पूर्ण जीवन ही रोते–रोते बीता फिर भी शान्ति नहीं मिली।

बैस सिरानी रोअत रोअत।

सपनेहु चौंकि तनिक नहिं जागौं बीती सबहीं सोअत

गई कमाइ दूर सबै छन रहे गाँठ को खोअत।

औरहु कजरी तन तन लपटानी मन जानी हम धोअत

स्वाद मिलौ न मजूरी को सिर टूट्यौ बोझा ढोवत

"हरीचंद" नहिं भर्‌यौ पेट पै हाथ जरे दोउ पोअत।[3]

प्रस्तुत पद भी गोस्वामी तुलसी के पद का प्रतिरूप प्रतीत होता है। ऐसे प्रयास से भारतेन्दु जी तुलसी से प्रभावित थे इसमें कोई सन्देह नहीं–

ऐसेहि जनम–समूह सिराने।

प्राननाथ रघुनाथ से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने।[4]

---

1. ब्रजरत्न दास (सं.) भारतेन्दु ग्रन्थावली – भाग–2–पृ0–ल
2. नन्द दुलारे बाजपेयी(सं.) सूरसागर – दूसरा खण्ड – पद– 3906
3. ब्रजरत्न दास – (सं.) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा भाग – पृ0 542

भारतेन्दु मंडल के अन्य कवि भी मध्यकालीन रीति पर अपनी भक्ति भावना को व्यक्त करते है इस युग के प्रमुख कवि बदरी नारायण चौधरी प्रेमधन ने मधुरा भक्त का मार्ग अपनाया और भगवान के मधुर प्रेम का आस्वादन भगवान की प्रिया रूप में किया। प्रेमधन ने माधुर्य भक्ति के सर्वोत्तम भक्त मीराबाई का अनुकरण किया। वह मीरा की ही भांति कृष्ण को अपने आंखों में वसा लेने की याचना करते है। इस प्रकार के पदों को यदि परखा जाय तो मीरा से थोड़ा भी पीछे नहीं लगते।

> बसौ इन नैनन में नंदनन्द
> युगल जलज सारंग सोभित कचराहु सहित मुखचन्द।
> चिबुक गुलाव बिम्ब अधराधर सुख को सरस अमन्द।
> उर पनमान मृणाल बाहुयुग चाल रसाल गयन्द।
> बन्द्रीनाथ मिलो अब प्यारे छाड़ि सकल छल छन्द।[1]

ये पद मीरा के "बसौ मेरे नैनन में नन्दलाल [2] के अनुरूप ही है। इससे सिद्ध है कि भारतेन्दु युग भक्ति युग से प्रेरणा प्राप्त करने में किसी भी संकोच का अनुभव नहीं करता वरन् बड़े ही गर्व से उसका अनुमोदन और उसे अंगीकार करता है। भक्ति काल में व्याप्त भक्ति की विभिन्न शाखाओं को हम भारतेन्दु युग में बड़ी ही आसानी से देख सकते है। चाहे वह मध्य कालीन वैष्णव भक्ति हो या निर्गुण भक्ति हो इस युग में नवीन दृष्टिकोण अवश्य दिखाई देता है, वह है स्वदेशानुराग समन्वित ईश्वर भक्ति । लेकिन परम्परागत भक्ति का स्वरूप मध्ययुगीन ही है। इस युग ने किसी उल्लेखनीय नवीनता का परिचय न देकर मध्ययुगीन परिपाटी का अनुसरण मात्र ही किया है। इस युग की भक्ति साधना की दिशा मुख्य रूप से सगुण भक्ति की थी। कृष्ण के चरित्र को विशेष महत्व प्रदान किया गया। निर्गुण भक्ति कम दिखाई देती है। फलस्वरूप कुछ कवियों ने निर्गुण भक्ति की परम्परा का निर्वाह किया और भौतिक जगत की नश्वता, माया-मोह की व्यर्थता, विषया सक्तियों की निन्दा आदि पर ही उपदेशपरक अपने विचार व्यक्त किये। पर ब्रह्म चिन्तन और हठयोग उन्हें अभीष्ट नहीं था। तत्कालीन मानव सामाजिक कुव्यवस्था से पीड़ित था। इस प्रकार

---

1. प्रभाकेश्वर – (सं.) प्रेमधन सर्वस्य – पृ0 440
2. परशुराम चतुर्वेद्दी – (सं.) मीराबाई की पदावली – पृ0 96

दुखी और संतप्त ससार की सेवा करना इस युग के कवियों ने अपना उद्देश्य बनाया। क्योंकि सुख शान्ति स्थापित करने के लिए सेवा भावना नितान्त आवश्यक है। अतः प्रेम से मानव मात्र की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि संसार क्षणभंगुर है। सभी संतो ने संसार की इस निस्सारता पर प्रकाश डाला है। भारतेन्दु युग के भक्त कवियों ने भी इस असार संसार की ओर बार-बार दृष्टिपात किया भारतेन्दु का कहना है कि "इस निस्सार संसार के बारे में कौन नहीं जानता, सभी जानते है कि एक दिन मरना है। फिर भी वे अमृत-विष को खाते हैं।

अहो यह अति अचरज की बात।
जानि बूझि के विष के फलको क्यों भूल्यौ जग खात।
सब जानत मरनो है जग में झूठे सुत पितु मात ।
"हरीचंद" तो फिर क्यों नित-नित याही में लपटात।[1]

श्रीधर पाठक ने संसार के बारे में लिखा है कि यहाँ अपने वाले सभी लोग जाते हैं। वे जैसे आते हैं वैसे ही चले जाते हैं। मूर्ख मनुष्य कभी भी सृष्टि के सार को नहीं समझ पाया।

समझ के सारे जग को मिट्टी-मिट्टी जा कि रमता है।
मिट्टी करके सर्वस अपना मिट्टी में मिल जाता है।
कभी-कभी ऐसा मूरख नर सार सृष्टि का पाता है,
जैसा ही आया था जग में वैसा ही वह जाता है।[2]

निर्गुण काव्यधारा:-

धर्म आदि काल से ही अपनी त्रिमुखी धारा कर्म, ज्ञान और भक्ति में चलता रहा है।इन तीनों का सामंजस्य ही धर्म की पूर्ण अवस्था है। वैसे के कालानुसार इसकी तीनों धाराओं में कभी किसी को तो कभी किसी को महत्व प्रदान किया जाता रहा है। वैदिक काल यदि कर्म प्रधान व्यवस्था थी तो औपनिषद काल में ज्ञान को विशेष महत्व प्रदान किया गया। भक्ति को विशेष महत्व पुराणों एवं उसके बाद मध्ययुगीन वातावरण में दिया गया। यही कारण है कि मध्यकाल के पूर्वार्द्ध को समूचे अर्थवत्ता के साथ सर्वसम्मति से

---

1. ब्रजरत्न दास (सं.) – भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – पृ0 141

भक्तिकाल की संज्ञा दी गयी। इस प्रकार धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति जिसका सूत्रपात महाभारत काल में और विस्तृत प्रवर्त्तन पुराण काल में हुआ था, कभी कहीं दबती, कभी उभारती, किसी प्रकार चली भर जा रही थी।[1] भक्ति का यही न रूकने वाला प्रवाह दक्षिण प्रांत से शस्य स्यामला उत्तर भारत की ओर प्रवाहित हुआ। यद्यपि वातावरण राजनीतिक षट्चक्र से अशान्त था, फिर भी जनता के हृदय में इसे फूलने-फलने का उपयुक्त अवसर मिला। यही व्यवस्थित रूप निर्गुण पंथ के नाम से भक्ति जगत में प्रसिद्ध हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'यह सामान्य भक्ति मार्ग एकेश्वरवाद का एक अनिश्चित रूप लेकर खड़ा हुआ। जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था और कभी पैंगम्बरी खुदावाद की ओर। ये निर्गुण पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ'।[2]

साधना का क्षेत्र विस्तृत है। साधक के हृदय में भक्ति एवं श्रद्धा के विकास के साथ ही विश्वास का जन्म होता है। इसी अटूट विश्वास से ही साधक अपने इष्ट के मुखछवि का अवलोकन जागृत क्या सुषुप्तावस्था में भी करने लगता है। इस तरह श्रद्धा और प्रेम के मणि-कंचन योग से एक शुद्ध सामाजिक भावना जन्म लेती है। फिर तो विश्वास की नींव पर साधक अपनी साधना का एक भव्य भवन खड़ा कर देता है। विश्वास मनसा, वाचा, कर्मणा तीनों स्तर पर साधक के लिए आवश्यक है। इन तीनों रूपों के संयोग से ही साधक ब्रह्म लीन हो जाता है। उसकी समस्त भावनाएँ केन्द्रीभूत हो जाती हैं।

निर्गुण काव्यधारा के कवियों में दो प्रकार का विश्वास पाया जाता है प्रथम व्यक्तिगत विश्वास तथा द्वितीय सामान्य विश्वास। मनुष्य को सर्वथा ब्रह्म पर आश्रित रहना चाहिए, यही व्यक्तिगत विश्वास है सामान्य विश्वास तो समाज सापेक्ष है। इसे हम तीनों रूपों मे (दार्शनिक, सामाजिक एवं साधनात्मक) स्वीकार करते हैं।[3] मुख्यतः निर्गुण पंथ के कवियों के सिद्धान्त का आधार व्यक्तिगत साधना ही है। अतः इस साधना के अनुसार निर्गुण काव्य के निम्नलिखित सिद्धान्त हैं।

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 51–57
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 61
3. डॉ0 सावित्री शुक्ल– संतकाव्य की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि – 195
   डॉ0 पीताम्बर दत्त बडथ्वाल – हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय – पृ0 150

1. अद्वैत ब्रह्म
2. सद्गुरू की महत्ता
3. आत्मा–परमात्मा विचार
4. सत्संग की सर्वश्रेष्ठता
5. नाम महिमा

भारतेन्दु युग के भक्त कवियों में निर्गुण भक्ति परम्परा का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। इस युग के कवियों ने भी ब्रह्म को संत कवियों की ही भांति अलख, अनादि, अजेय, अचिन्त्य, अगम्य आदि कहकर उसकी उपासना की है। कविवर श्रीधर पाठक ने कबीर की भाँति राजा राम को भरतार कहा, लेकिन कबीर के भरतार और उनके भरतार में काफी अन्तर है। कबीर राम को सिर्फ अपना भरतार मानते हैं जबकि पाठक जी ने उन्हें अखिल भुवन का भरतार कहा।

अलख, अनादि, अमध्य, अनन्त, अचिन्त्य मते,
अमित, अमेष, अमान, अजेय, अगम्य–गते।
अनिश्य, अनश्य, अनाम, अनूपम ईश हरे
अनघ, अमोध, अजोग, अभोग अनिष्ट भरे
अमर, अवेष, अमेद्य, अदेख्य, अखेद्य खरे।
अमिल, अमेल, अमोल, अतोल, अनन्द भरे
अजर, अधर, अज, आध, अनाश्रय आश्रय है।
अखिल–भुवन–भरतार अमाय दयामय है।[1]

उनका ब्रह्म निर्गुण – निराकार तो है ही सम्पूर्ण संसार का आधार भी है ।

परब्रह्म निर्गुन निराकार तू
स्वयम्भूत संसार आधार तू।[2]

---

1. श्रीधर पाठक – मनोविनोद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग – पृ0–3–4
2. श्रीधर पाठक– मनोविनोद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग – पृ0 2

भक्त या जीव अपनी उपासना के निमित्त चाहे उसे जिस रूप में देखे या जिस नाम से उसे पुकारे वह फिर भी उससे परे रहेगा क्योंकि वह अनादि है, अनन्त और अचिन्त्य है। सम्बन्ध भेद से ही वह एक से अनेक हो जाता है। संत कवियों ने भी कभी उसे भरतार कहा तो कभी सखा और कभी स्वामी। सच तो ये है कि वह सर्वत्र सभी सम्बन्धों एवं कण-कण में समाया हुआ है। ये हमारी दृष्टिदोष का फल है जो उसे देख नहीं पाते।.

काया बीच में जाकर बैठ देखत सकल तमासा है,
देखो वह है अजब खिलाड़ी समझे में नहीं आता है।
पंच बयारि लगे मन डोले तिहुँ लोक भरमाता है,
जहं जहं मनुआं खेल करत है तंह तंह खेल खिलाता है।
चित्त माया दोऊ नाच नचावत कुल परिवार बनाता है,
ग्रसे रहत चहुँ ओर से मन को ता बिच आप न आता है।
है वह सदा सबन ते न्यारा छाया कर दरसाता है।
मन थिर करके देखहु मंगल आपै आप लखाता है।[1]

भारतेन्दु जी वल्लभानुयायी हैं और सगुण भक्ति के उपासक भी, फिर भी ईश्वर के परात्पर रूप में उनका विश्वास है।

परब्रह्म परमेश्वर परमात्मा परात्पर।
परपुरूष पदपूज्य पतित-पावन पद्मावर।।
परमानन्द प्रसन्न बदन प्रभु पद्म विलोचन
पद्मनाभ पुण्डरीकाक्ष प्रनता रति-मोचन।[2]

पंडित प्रताप नारायण मिश्र भी कबीर की भाँति ही ब्रह्म को घट-घट में देखते हैं। ब्रह्म के सम्बन्ध में मन्दिर, मस्जिद और गिरजा के मत-मतान्तरों को वे झूठा समझते हैं। प्रेम को आवश्यक मानते है उनका कहना है कि ब्रह्म को जानने के लिए पोथी ज्ञान आवश्यक नहीं प्रेम का होना जरूरी है।

---

1. ब्रजरत्न दास (सं.) भारतेन्दु ग्रंथावली – भाग दो – पृ0 739

मनुजा काहे इत उत धावे।

मतवालेन का चाल सीखि के नाहक बुद्धि गवावे।

मसजिद मन्दिर औ गिरजे में दौरत पांव थकावे

घट के भीतर साहब बैठा तेहिते लौ न लगावे।

अपन हाथन अपनी महिमा लिखि-लिखि दुनिया गावे

बिना पढ़े एक प्रेम की पोथी कबहुँ भरम न जावे।[1]

जीवात्मा – परमात्मा सम्बन्धः–

भारतेन्दु युग में जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में भी चर्चा देखने को मिलती है। भक्ति कालीन संत कबीर की भक्ति साधना में भी परमात्मा को पिया आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया, अर्थात परम सत्ता से विवाह सम्बन्ध स्थापित किया गया। कबीर ने कई जगहों पर अध्यात्मिक परिणय प्रतीकों के द्वारा विशुद्ध दाम्पत्य भाव भक्त किया है।

कियो सिंगार मिलन के ताईं।

हरि न मिले जग जीवन गुसाईं।

हरि मोरा पीव में हरि की बहुरिया।[2]

भारतेन्दु जी भी कुछ इसी प्रकार से आध्यात्मिक परिणय की आकांक्षा लिए हुए कहते है कि–

द्वारहिं पै लुटे जायगी बाग औ आतिसबाजी छिनै में जरैगी

ह्वै हैं बिदा टका लै हय-हथिनहु खाय पकाय बरात फिरैगी

दान दै मातु-पिता छुटि है "हरीचंद" सखीहु न साथ करैगी

गाय बजाय जुदा सब ह्वै हैं अकेली पिया के तूपाले परैगी।[3]

---

1. नारायण प्रसाद अरोड़ा (सं.) प्रताप लहरी – कानपुर –1949 – पृ0 145
2. कबीर ग्रंथावली – पृ0–3
3. ब्रजरत्नदास (सं) भारतेन्दु ग्रंथावली – पृ0 545

सद्गुरू की महत्ता–

भारतीय संस्कृति में गुरू की महत्ता की विषद व्याख्या मिलती है। सगुण उपासक हों, या निर्गुण उपासक सभी संतों एवं भक्तों ने गुरू की महिमा उन्मुक्त कंठ से गाई है। सगुण उपासक भक्त गोस्वामी तुलसीदास गुरू की महत्ता स्थापित करते हुए कहते है कि–

बंदउ गुरूपद पदुमपरागा । सुरूचि सुबास सरस अनुरागा ।

श्री गुरूपद नख मनिगन जोती । सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ।[1]

भक्ति कालीन समग्र साहित्य ही गुरू गाथा से परिपूर्ण है गुरू की महिमा असीम है। गुरू ही ज्ञान चक्षुओं को खोलकर असीम का दर्शन करा पाने में समर्थ है। ईश्वर के रूठने पर तो गुरू की शरण में जाया जा सकता है, लेकिन गुरू के विमुख होने पर ईश्वर भी सहायता नहीं करता। कई स्थलों पर तो गुरू को ईश्वर से भी श्रेष्ठ घोषित किया गया है। गुरू ही एक मात्र सच्चा पथ प्रदर्शक है। गुरू ही भवसागर से मुक्ति का मार्ग बता सकता है वही सम्पूर्ण पापों को विनष्ट करने वाला और पतित समाज को तारने वाला है।

जयति जयति तैलंग कुल रत्नदीप द्विजराज

श्री बल्लभ जग अघ–हरन तारन पतित समाज।[2]

सत्संग की श्रेष्ठता –

संत आत्मोद्धार के साधन हैं। उनके सत्संग में ईश्वरीय प्रेम बरसता है। इसलिए भक्ति साधना के क्षेत्र में सत्संग अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भक्ति ग्रंथों में सत्संग के महात्म्य का वर्णन बार–बार किया गया। भक्तों का, संतों का एक क्षण का साथ स्वर्ग और मोक्ष से भी बढ़कर भागवत में कहा गया है।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्ग ना पुनर्भवम् ।

भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुता शिषः।[3]

---

1. गोस्वामी तुलसीदास – बालकाण्ड – रामचरित मानस
2. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – भक्त सर्वस्व – पृ0 5
3. भागवत् – 1/18

सत्संग से ज्ञान रूपी तलवार की प्राप्ति होती है जिससे माया–मोह का काटा जा सकता है। कबीर का कथन है कि साधु की संगति कभी निष्फल नहीं होती।

कबीर संगति साधु की कदेन निष्फल होइ।
चंदन होसी श्रावनां, नींव न कहसी कोइ।[1]

लेकिन यह सत्संग भी सबको सुलभ नहीं जिस किसी पर इश्वर की कृपा होती है उसे ही इसका लाभ प्राप्त होता है। अथात सत्संग भी भगवान की कृपा का ही प्रसाद है।

बिनु सत्संग विवेक न होइ। रामकृपा बिनु सुलभ न सोइ।[2]

भारतेन्दु युग के कवियों ने भी सत्संग का महात्म्य गाया, भागवत नारायण सिंह सत्संग क विषय में कहते हैं कि –

राम सुयश सुठि गाइये संतन सो करू प्रीति।
छल बल सब को छाड़िये यहि सज्जन की रीति।[3]

नाम महत्ता –

नाम साधना से तात्पर्य भगवान के उन नामों के स्मरण से है जिनसे भगवान की सव शक्तिमत्ता प्रकट होती है। नाम स्मरण में भगवान के नामों का विशेष महत्व है। जिससे उसके स्वरूप, गुण, लीला, आदि का परिचय प्राप्त होता है। भक्ति साधना के क्षेत्र में नाम जप का अपना एक विशिष्ट स्थान है। भारतेन्दु युग में नाम जप की महत्ता को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार भारतेन्दु युग में निगुण की उपासना एवं उसके दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो हुआ, लेकिन इस परम्परा के प्रति किसी खास आकर्षण का प्रभाव नहीं देखने को मिलता है। भारतेन्दु युगीन कवियों की भक्ति भावना सगुण के प्रति विशेष रूप से निवेदित है। ऐसा नहीं कि निर्गुण धारा भारतेन्दु युग में आकर सूख गई हों उसका पाट विस्तृत न होकर ग्रीष्म कालीन नदी की भांति क्षीणकाय है। अतः निर्गुण भक्ति इस काल की मुख्य साधना–दिशा नहीं थी। इसके विपरीत वैष्णव भक्ति की प्रचुरता थी। इसके अन्तर्गत राम, कृष्ण और अन्य देवी–देवताओं का वर्णन अनेक कवियों का साध्य रहा। इसमें श्री राम की तुलना में कृष्ण की भक्ति को अधिकांश कवियों ने श्रेष्ठ बताया।

---

1. कबीर ग्रंथावली – 4/19
2. तुलसी दास – राम चरित मानस – बालकाण्ड – 1/36

सगुण भक्ति धारा –

भारतेन्दु युग क प्रमुख लेखक व कवि भारतेन्दु जी है, जिन्होंने अपनी प्रतिभा एव मौलिकता क साथ ही कृष्ण–काव्य परम्परा का पूण रूप से निवाह किया है। भारतेन्दु जी न वल्लभाचाय जी का शिष्यत्व ग्रहण किया था। अत. इनकी रचनाओं को सम्प्रदाय काव्य क अन्तगत रखा जा सकता है। भारतेन्दु जी यद्यपि आधुनिक युग के कवि थे, फिर भी उनकी भक्ति भावना एवं काव्य के स्वरूप के आधार पर उन्हें मध्यकालीन कृष्ण भक्तों की श्रेणी म रखा जा सकता है। भारतेन्दु युग मे वैधी और रागानुगा दोनों प्रकार की भक्तियों की पूर्ण अभिव्यक्ति हुइ है।

भगवान के प्रति निवेदित नवधा भक्ति से समस्त भारतेन्दु मण्डल हुलसित एव साधनारत दृष्टिगोचर होता है। भले ही नवधा के भव्य भवन पर नवीन विचारों की प्रेषणीयता की सम्भावना न हो।[1]

भारतेन्दु जी कृष्ण के परम उपासक थे उन्हीं की चरण शरण में अपनी भक्ति लता को हरी–भरी की। वह श्री कृष्ण के अनन्य भक्त थे। उनके दशन के लिए आत्मा विरहिणी की भांति प्रेमाकुल हो सदैव विकल रहती थी। चाहे वह घनश्याम का बाल रूप हो या यौवन कालीन रासलीला का भक्त भारतेन्दु की वाणी आजीवन उनके लीलागान से अपने को कृतार्थ करती रही।

मोहन दरस दिखा जा।
व्याकुल अति प्रान–प्यारे दरस दिखा जा
बिछुरी में जनम–जनम की फिरी सब जग छान।
अबकी न छोड़ो प्यारे यही राखो है ठान।
"हरिचन्द्र" बिलम न कीजै दीजै दरसन दान।[2]

पूरा का पूरा भारतेन्दु मण्डल ही ईश्वर के इस अलौकिक दर्शन की आकांक्षा रखता देखा जा सकता है। इस युग के प्रमुख कवि बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन की भी रचनाओं में भक्ति भावना प्रचुर मात्रा में दिखाई देती है। कवि प्रेमघन इस भौतिक संसार से ऊब चुके हैं उन्हें इस संसार की समस्त वस्तुएँ, यहाँ तक की राग–द्वेष, हानि–लाभ सब कुछ निस्सार लग रहा है

---

1. डॉ0 रंजन – भारतेन्दु युगीन काव्य में भक्तिधारा – पृ – 131
2. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – भाग– 2 – पृ0 – 541

उसके बदले में उनकी इच्छा है कि बस नन्द किशोर की कृपा का एक कोर मिल जाय।

सम्पत्ति सुयस का न अंत है विचार देखा।

तिसके लिए क्यों शोक सिंधु अवगाहिये।

लोभ की ललक में न अभिमानियों के तुच्छ

तवरों को देख उन्हे संकेत सराहिये।

दीन गुनी सज्जनों में निपट विनीत बने

प्रेमघन नित तातें नेह को निबाहिये।

राग रोष औरों से न हानि लाभ कुछ

उसी नन्द के किशोर की कृपा की कोर चाहिए।[1]

भारतेन्दु युग के भक्त को यह पूर्ण विश्वास है कि भगवान भक्त को दर्शन अवश्य देगा क्योंकि उसका स्वभाव ही है पापियों का उद्धार करना। इस विश्वास को और अधिक आस्थामय बनाने के लिए वह ईश्वर के गुणों का उद्धरण भी देता है। पंडित प्रताप नारायण मिश्र भी भगवत् कृपा के आकांक्षी हैं उनका अटूट विश्वास है कि जिस प्रभु ने गनिका, गज, गीध, (जटायु) जैसों को तारा तो वो मुझें भी स्वीकार कर लेगा।

आगे रहे गनिका गज गीध सु तौ जब कोऊ दिखात नहीं हैं।

पाप परायन ताप भरे "परताप" समान न आन कहीं हैं।

हैं सुख दायक प्रेम निधे जगयों तो भले और बुरे सबही हैं।

दीन दयाल और दीन प्रभों, तुमसे तुमही हमसे हमही हैं।[2]

प्रभु ही एक मात्र आधार हैं "जिनके कहुं और आधार नहीं, तिनके तुमही रखवारे हो।" मिश्र जी को ऐसा विश्वास था। जब वह अपनी बात कहने लगते हैं तो तुलसी की "विनय पत्रिका" भी पीछे छूट जाती है –

प्रभु तजि शरण काको जाऊँ।

---

1. प्रभाकेश्वर (सं0) प्रेमघन सर्वस्व – पृ0 – 200
2. ब्रजरत्नदास – भारतेन्दु मंडल (प्रताप नारायण मिश्र) – पृ0 – 107

आश करियें योग जन के एक ही तो ठाऊँ।

तिनहुँ की सुधि लेत जो जानत न दाहिन बांऊ।

कौन ऐसो और जाको प्रणत पालक नांऊ।

कौन सुख लूटत जो जग के फिरत पूजत पांउ।

कौन दुख मोको जो तेरे आसरे ऐड़ाउं।[1]

यह भक्ति श्रद्धा संवलित है। भक्ति के क्षेत्र में अपने इष्ट, आराध्य के प्रति श्रद्धा की भावना का होना अतिआवश्यक है। ठाकुर जगमोहन सिंह को तो भगवान के चरण कमलों में इतनी श्रद्धा है कि वह उसे पाने के लिए सुत, पितु, मातु और बन्धु सभी को त्याग सकते हैं।

हम नेह कियो तजि गेह सबै सुत मात पिता अरू भ्रात जहाँ।

बिनु मोल के दास भए तबहीं जब कीन्हों कृतारथ मोहि अहा।

अब तो उतनी नही चाह करो जगमोहन दु:ख अनेक सहा।

सब छाड़ि तुम्हे हम पायो अहो तुम छोड़ि हमें कहो पायो कहा।[2]

नवधा भक्ति –

भक्ति तो भक्ति से ही हो सकती है। लेकिन भक्ति के आचार्यो ने भक्ति के दो प्रधान भेद माने। पहला साधन भक्ति जिसे वैधी और नवधा भी कहा जाता है। दूसरा साध्य भक्ति जिसे प्रेमलक्षणा रागानुगा या रागात्मिका आदि नामों से जाना जाता है। जब तुलसीदास जी कहते हैं'साधन सिद्धि राम पगनेहूँ' अथात यदि साध्य प्रभु हों तो साधन भक्ति ही सिद्ध होकर पराभक्ति बन जाती है। साधन भक्ति का पराभक्ति में रूपान्तरण जिस सतत प्रक्रिया के कारण होता है वह वास्तव में अनुभव का विषय है, शब्दों अर्थात अभिव्याक्ति का नहीं, फिर भी भक्तों ने उसके कुछ प्रमुख हेतुओं का निर्देश किया है –

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं, पादसेवनम्।

अर्चनं, वन्दनं,दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम्।[3]

अर्थात भगवान के नाम, रूप गुण और प्रभाव का श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण तथा चरण की

---

1. नारायण प्रसाद अरोड़ा (सं0) प्रताप लहरी – (प्रेमपुष्पवली) – पृ0 – 145
2. श्री कृष्णलाल (सं0) ठाकुर जगमोहन सिंह (श्यामास्वप्न) (विनय) पृ0 – 164
3. भागवत् – 7/5/23,24

सेवा, पूजा और वन्दना एवं भगवान में दास्य एवं सख्य भाव का सम्बन्ध रखते हुए अन्त में अपने आप को समर्पण कर देना ही नवधा भक्ति है।

भारतेन्दु जी ने तथा उनके मंडल के प्रमुख कवियों ने अपनी भक्ति भावना की मोती को नवधा भक्ति रूपी धागे में पिरोने का जो प्रयास किया वह स्तुत्य है।

श्रवण भक्ति –

नवधा भक्ति का प्रथम सोपान श्रवण भक्ति है। भक्ति साधना के क्षेत्र में श्रवण का अर्थ है भगवान के नाम, चरित्र, गुण आदि को सुनना। यह क्रिया कम से कम दो व्यक्तियों के सहयोग से संभव है। इसीलिए श्रवण के लिए संतों का संग अर्थात सत्संग अनिवार्य है। गोस्वामी जी ने तो यहाँ तक कह दिया कि "प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।"[1] अन्यत्र भी कहा कि –

बिनु सत्संग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ़ अनुराग।[2]

अर्थात श्री राम के चरणों में दृढ़ नेह हो,ये नेह तभी उत्पन्न हो सकता है जब मोह का अज्ञान का नाश हो जाय। मोह और अज्ञान बिनु हरि कथा सुने दूर नहीं हो सकता। हरि कथा भी तो बिना सत्संग के नहीं सुनी जा सकती। अतः श्रवण भक्ति के लिए सत्संग आवश्यक है। भारतेन्दु जी भी कृष्ण नाम का श्रवण ही श्रेयस्कर मानते हैं। क्योंकि कृष्ण नाम के श्रवण से ही हिय रूपी घर में प्रकाश रूपी किरणें विकीर्ण होती है –

कृष्ण नाम मनिदीप जो हिय घर में न प्रकाश।
दीप बहुत बारे कहा हिय तम भयो न नाश।[3]

कीर्त्तन भक्ति –

कीर्त्तन का शब्दार्थ है, कीर्त्ति फैलाने की क्रिया। भक्ति के क्षेत्र में कीर्त्तन का तात्पर्य है भगवान के नाम, लीला, गुण, प्रभाव, चरित्र और रहस्य आदि का श्रद्धापूर्वक सस्वर उच्चारण, कथन, विवेचन आदि। श्रीमद्भागवत् में भी "संकीर्त्तनं भगवते गुणकर्मनाम्नाम"।[4] कहकर उसे जीवों के

---

1. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस – 3/34/8
2. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस – 7/61
3. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – भाग–2 – पृ0 – 78
4. श्रीमद्भागवत् – 6/3/24

पापनाश के लिए पर्याप्त बनाया गया है। संकीर्त्तनी भक्त भाववश में इतना मग्न हो जाता है कि नृत्य भी करने लगता है। मध्यकालीन भक्तों की भावदशा देखने की लायक है. मीरा कृष्ण कीर्त्तन में इतना बेसुध हो जाती थीं कि लोक लाज सब त्याग कर कीर्त्तन करने लगती थी। चैतन्य का नृत्य सर्वजानत ही है। भारतेन्दु जी की ब्रज–वनिता भी कृष्ण–प्रेम में पागल हो गइ उसे भी भगवान् के कीर्त्तन में अपने तन की सुधि तक नहीं रही। आंचल तो खुला ही है लट बिखर गई सम्पूर्ण अंग धूल धूसरित हो गइ। ऐसी दशा में वे कभी यहाँ कभी वहाँ तो कभी रोती है, तो कभी गाती है, और कभी हँसती है।

> आँचर खोले लट छिटकाए तन की सुधि नहिं ल्यावति हौ।
> धूर–धूसरित अंग संक कछु गुरू–जन की नांहें पावति हौ।
> "हरिचंद" इत सों उत व्याकुल कबहु हँसत कहुँ गावति हो।
> कहा भयो है पागल सी क्यों कान्ह कान्ह गोहरावति हौ।[1]

कीर्त्तन बाह्यतः कर्मेन्द्रिय वाणी का कार्य है। लेकिन भक्ति की दृष्टि से उसमें मन और बुद्धि का योग आवश्यक है। तुलसीदास तो "भायँ–कुभायँ, अनख, आलसहू" केवल जीभ से नाम लेने को भी परम मंगल का हेतु मानते हैं। प्रेमघन ने भी कीर्त्तन के इस स्वरूप को स्वीकार किया और –

> राधा राधा रट लगी माधव माधव टेर।
> सहित प्रेमघन परम सुख संचय सांझ सबेर।
> राधा राधा रट लगी माधव माधव टेर।
> दोउन के उर ध्यान ते दुइं लोक सुख ढेर।
> श्री राधा राधा रटत हटत सकल दुख द्वन्द।
> उमड़त मुख को सिन्धु उर ध्यान धरत नदनंद।[2]

भारतेन्दु का मन तो श्री राधा कृष्ण के प्रेमार्णव में सदा डूबता–उतराता था। वह सदा कृष्ण की ही आकांक्षा रखते थे उनका सोचना था कि इस भौतिक जगत के समस्त जंजालों को त्याग कर केवल कृष्ण–कृष्ण ही रटा करें,अर्थात कृष्ण नाम संकीर्त्तन ही करते रहें।

> हमहुँ कबहुँ सुख सों रहते।

---

1. ब्रजरत्नदास (सं0) – भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – पृ0 – 671
2. प्रभाकेश्वर (सं0) – प्रेमघन सर्वस्व (लालित्य लहरी) – पृ0 –331

छांड जाल सब, निसिदिन मुखसों, केवल कृष्ण हि कहत।

नदा मगन लीला अनुभव में, दृगदोउ अविचल वहते।

''हरिचद' घनस्यान–विरह इक जग–दुख तृन सम दहते।[1]

स्मरण –

स्मरण नवधा भक्ति का तीसरा सोपान है। स्मरण तो गौण रूप से श्रवण और कीर्त्तन दोनो में होता है, लेकिन सूक्ष्मता स विचार करने पर यह लगता है कि श्रवण और कीर्त्तन दोनों साधन स्मरण की तुलना में बाहिरंग हैं। स्मरण वास्तविक रूप से अभ्यान्तरिक क्रिया है। प्रभु ऐसे है, उनका रूप, गुण और लीला आदि इस प्रकार की हैं, कि स्मृति ही स्मरण कही जा सकती है।स्मरण की साथकता है, अनन्य चित्तता में मन किसी अन्य विषय का चिन्तन करन लगे ता स्मरण खण्डित हो जायेगा। अतः स्मरण सतत और नित्य होना चाहिए या यों कहें स्मरण श्वास क्रिया की भांति सहज होनी चाहिए तो गलत नहीं होगा।

भारतेन्दु तथा उनके मडल के भक्त कवियो ने स्मरण भक्ति का उल्लेख किया है। स्मरण भव–सिन्धु से तारने वाला होता है। राधा और राधा रमण के चरण कमल जुग पोत हैं। इनके सुमिरन से संसार–सागर को पार किया जा सकता है।

राधा राधा–रमण के चरण कमल जुग पोत।

सुमिरत ही भव–सिन्धु ते पार तुरत ही होत।[2]

बालमुकुन्द जी भी एक सच्चे भक्त थे स्वतंत्र रूप से वह प्रभु चिन्तन किया करते थे। उनका मानना था कि वह सब भांति अयोग्य हैं। अतः कर्मफल पर विश्वास कर मर्यादा पुरूषोत्तम श्री राम को अपने हिय में बसा लेना चाहते हैं।

हम प्रभु दीन मलीन हीन सब भाँति दुखारी।

धर्म रहित धनरहित ध्यान च्युत बहु अविचारी।

यद्यपि न काहू भाँति सुख भोगत कर मन फल।

सोचि सोचि निज दशा मर्‌यो आवत आँखिन जल।

---

1. ब्रजरत्न दास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड– प्रेम प्रलाप – पृ0 205
2. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं0) कविवचन सुधा–26 नवम्बर–1883 ई0 – (मासिक)– पृ0 2

पैं तदपि होत सूखो हियो
हर्यो सुमरि दिन आज को।[1]

बालमुकुन्द के ही भाँति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी गोपाल को अपने हिय में बसा लेना चाहते है, उनके बिना एक क्षण का जीवन भी मुश्किल है। उनके गोपाल देवी–देवता, मां–बाप, सखा आदि सभी कुछ है। अतः वे यदि प्रसन्न होते है तो गोपाल पर और क्रोध भी करते है तो गोपाल पर। गोपाल के अतिरिक्त अन्य कोई उनके अन्तस्तल में निवास नहीं करता

भजौ तो गुपाल ही को सेवै तो गुपालै एक,
मेरो मन लाग्यों सब भाँति गोपाल सों
मेरे देव देवी गुरू माता पिता बंधु इष्ट,
मित्र सखा हरि नाता एक गोपबाल सों।
"हरिचंद" और सो न मेरो सम्बन्ध कछु,
आसरो सदैव एक लोचन बिसाल सों।
मागौं तो गुपाल सों न माँगौ गुपाल ही सौ
रीझौं तो गुपाल पै औ खीझैं तो गुपाल सौं।[2]

यहाँ कवि अपना एक मात्र सहारा गुपाल (कृष्ण) को ही मानता है। रोना, हँसना यहाँ तक की सभी सम्बन्ध में भी वह गोपाल को ही स्वीकार करता है। जो कुछ भी वह मांगना चाहता है गोपाल से ही मांगता है गोपाल उसे कुछ भी न दे तो कोई शिकायत नहीं वह बड़े गर्व से गोपाल से आसरा लगाये बैठा है।

पादसेवन –

पादसेवन भगवान के चरणों की सेवा से सम्बन्ध रखता है। इस पद्धति में भगवान के उन चरण कमलों की वन्दना की गयी है जो सदा ध्यान करने योग्य पराजय निवारक निरन्तर अभीष्ट प्रदान करने में समर्थ परम तीर्थ स्वरूप सेवकों के विपत्ति के विनाशक एवं शरणागतों को भव सिंन्धु पार कराने वाले सुदृढ़ जलयान के समान हैं। भगवान के ऐसे चरण कमलों की सेवा से आत्मा पवित्र हो जाती है, तुलसीदास ने प्रभु के इन चरणों की महत्ता निषाद राज के प्रसंग में कहा है कि –

---

1. यशोदा नन्द अखौरी (सं0) बालमुकुन्द गुप्त – स्फुट कविता – पृ0 3
2. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – पृ0 544

पद पखारि जलपान करि आपु सहित परिवार।

पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार।[1]

आधुनिक कालीन कवि भक्त भारतेन्दु जी ने तो प्रभु चरण का वणन ऐसा किया कि एक अलग धारा ही प्रवाहित हो गई। अब तक भगवान के पदाम्बुजों की सेवा ही भक्त को अलम् थी। यहाँ भारतेन्दु उनके चरण चिन्हों का वर्णन कर अपनी वाणी को पवित्र करते है।[2] उनका कहना है कि भगवान के चरणों के स्पर्श से मनुष्य इन्द्र–तुल्य हो जाता है, क्योंकि उनके चरण कमलों में वज्र का चिन्ह है –

चरण परस नित ज करत इन्द्र तुल्य ते होत।

वज्र–चिन्ह हरि–पद–कमल येहि हित करत उदात।[3]

भारतेन्दु जी को विश्वास है कि प्रभु–चरण में अनन्यता का भाव रखने वाला परम अभय पद का लाभ प्राप्त करता है।

परम अभय पद पाइहों याकी सरनन आई।

मनहुँ चरण यह कहत है शंख बजाइ सुनाइ।[4]

कवि यहाँ यह स्वीकार करता है कि परम अभय पद बिना प्रभु के चरण–शरण गये संभव नहीं। इसीलिए वह आगे कहते हैं कि हे मन जगत् जाल से अपने को मुक्त कर और एक मात्र राधा–माधव के चरण को भजु। क्योंकि एक मात्र मुक्ति का मार्ग यही है।

बिनु हरि–पद–राधा–भजन नाहिन और उपाय।

क्यों मन तू भटकत वृथा जगत जाल फँसि धाय।[5]

इसका समर्थन वेदों, पुराणों ने भी किया है।

मथि के बेद पुरान बहु यहै लह्यौ इक सार।

राधा–माधव–चरण भजु तजु जप जोग हजार।[6]

---

1. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस – अयोध्याकाण्ड – 2/101
2. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – पृ0 – 3
3. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – पृ0 – 11
4. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड –पृ0 – 7
5. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड (कार्त्तिक स्नान) पृ0 – 77
6. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – पृ0 – 77

भक्त कवि प्रताप नारायण मिश्र भी उन्हीं के आसरे बैठे हैं उनकी मान्यता है कि उसके अतिरिक्त दीनों की हित–साधना करने वाला और कौन है।

शरणागत पाल कृपाल प्रभो। हमको इक आश तुम्हारी है।
तुम्हरे सम दूसर और कोऊ नाहि दीनन को हितकारी है।
परवाहि तिन्हें नहिं स्वर्गहु की जिनको तव कीरति प्यारी है।
धनि है धनि है सुखदायक जो तब प्रेम–सुधा अधिकारी है।
सब भाँति समथ सहायक हो तब आश्रित बुद्धि हमारी हैं।
प्रताप नारायण तो तुम्हारे पद–पंकज पे बलिहारी है।[1]

ठाकुर जगमोहन सिंह का स्थान भारतेन्दु मण्डल के कवियों म प्रमुख है। उन्होंने तो अपने गुसैंया से यहाँ तक कह डाला कि –

परि पैयां गुसैंया सरीस करी बिनती बहु जोर के हाथ गहा
तुमहूँ पहले बहुबात दइ "नाहिं छोड़हिंगी हम कै हू कहा।
जगमोहन हू तिमि ध्याय तुम्है परतीतिकरी पतिया बिनहा
सब छांड़ि तुम्है हम पायो अहो तुम छोड़े हमें कहो पायो कहाँ।[2]

अर्चन –

अपने इष्ट देव के प्रति मन को लगाने का, अपने प्रेम भाव को दृढ़ करने का सुगम शास्त्रीय उपाय है अचन। इस विधि में कपट और दंभ को त्याग कर अचक पत्र – पुष्प द्वारा ही भगवान की पूजा–अचन करता है और प्रभु उस पर प्रसन्न भी होते हैं। गीता में भी कहा गया है कि श्रद्धा समन्वित प्रेम से यदि प्रभु की पूजा की जाय तो वे स्वयं अपने दिव्य मंगल–विग्रह स्वरूप में प्रकट होकर भक्त के अर्पण किए हुए पदार्थो को ग्रहण करते है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतं अश्नामि प्रयतात्मनः।[3]

---

1. पं0 रामनरेश त्रिपाठी (सं0) कविता कौमुदी – भाग–2 पृ0 – 69
2. श्री कृष्ण लाल (सं0) ठाकुर जगमोहन सिंह (श्यामा स्वप्न) पृ0 – 165
3. श्री मद्भगवद्गीता – 9/26

भागवत् के इस श्लाक क आलाक में यह स्पष्ट है कि प्रभु की प्रीति में पत्र, पुष्प गंध आदि अर्पण करने का अर्चन कहते है। भारतेन्दु युग में भी भक्ति की इस विधि रूप का श्रेष्ठता से स्वीकार किया गया है। भारतेन्दु जी की गोपियाँ सायंकाल भगवान कृष्ण की आरती करती दिखाइ देती हैं –

साँझ समय आरति करत सब मिलि गोपि ग्वाल।
कबहुं अकेल ही मिलत पिय नंदलाल दयाल।[1]

अष्टयाम भक्ति की परम्परा म आरती के बाद भगवान को भोग कराने की व्यवस्था है। भक्त धूप–दीप, नैवेद्य आदि से अर्चना के उपरान्त विविध भाँति के षट्रस व्यंजन (छप्पन) प्रकार के व्यजनों से भगवान का भोग लगाता है। भारतेन्दु भी आरती के बाद भगवान के सम्मुख व्यजनों को प्रस्तुत करते है –

हरि को धूप–दीप लै कीजै।
षट्रस बीजन विविध भाति के नित नित भोग धरीजै।
दही मलाइ घी अरू माखन तातौ पै लै दीजै
''हरीचंद'' राधा–माधव–छवि देखि बलैया लीजै।[2]

प्रेमघन की भक्ति में भी अर्चन भक्ति का रूप देखने को मिलता है।

करि नित्य कृत्य निवृत्त सब जमुना पहुँचैजाय के।
अरचन लगै निज इष्ट देवहिं गोप सकल मनाय के।[3]

उपरोक्त पद में अर्चन भक्ति का स्वरूप स्पष्ट है। सारा ब्रज मण्डल समस्त नित्य क्रियाओं को संपादित करने के उपरान्त यमुना–तट पर एकत्रित हो जाते हैं, और अपने इष्ट की अर्चना करने लगते है।

अतः विवेच्य युग में अर्चन भक्ति की परम्परा का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

---

1. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथवली – दूसरा खण्ड – उत्तरार्द्ध भक्तमाल – पृ0 224
2. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – स्फुट कतिवाएं – पृ0 829
3. प्रभाकेश्वर (सं0) प्रेमघन सर्वस्व – पृ0 112

वन्दन:—

अचन भक्ति की ही भाँति वन्दन भक्ति का भी सम्बन्ध मूर्ति की उपासना से ही है। वन्दन का अर्थ है — अभिवादन, प्रणाम, श्रद्धा पूर्वक चरण स्पर्श। लेकिन भक्ति क्षेत्र मे यह प्रणाम — प्रभु को, उनके श्री विग्रह को, गुरु को, भगवत्भक्तों का विनम्र भाव से निवेदित भाव है। इसके विनम्र भाव होने के कारण भक्ति पथ मे इसका बहुत महत्व है। क्योंकि नम्रता के इस सोपान पर पहुँचकर भक्त अहता और ममता से मुक्त हो जाता है जो भक्ति के लिए अति आवश्यक है। इस प्रकार वास्तविक और सच्चा प्रणाम अहता और ममता दोनों को नष्ट कर भक्ति के पथ को सुगम बना देता है। गीता म स्वयं भगवान कृष्ण ने अर्जुन को यह आदेश दिया कि —

मन्मना भव, मद्भक्तों, मद्याजी, मां नमस्कुरू।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजानेप्रियोऽसि मे।[1]

उपरोक्त श्लोक में भगवान कृष्ण भक्त को आस्वस्त करते हैं कि जो मेरा भजन पूजन और नमस्कार करता है। वहीं मेरा प्रिय है और वही मुझें प्राप्त कर सकता है। अतः कृष्ण स्वयं स्पष्टोक्ति द्वारा वन्दन भक्ति का समर्थन करते हैं। अब यह प्रश्न उठ सकता है कि अर्जुन को भगवान प्रत्यक्ष सुलभ थे, अतः वे प्रभु को नमस्कार कर सकते थे। लेकिन यह मन में उठने वाली शंका निराधार है, इसे मन में उठने देना उचित नहीं क्योंकि प्रभु प्रत्यक्ष अवश्य नही, लेकिन उनकी प्रतिमा तो है, सद्गुरू तो है, संत आदि तो हैं जिनके प्रति हम अपनी श्रद्धा निवेदित कर सकते है। निस्सन्देह ही हमारी श्रद्धा उन तक पहुँच जायेगी जिस प्रकार वर्षा का पानी नालों, नदियों से होता हुआ समुद्र तक पहुँच जाता है। अतः मूर्ति चित्र आदि को श्रद्धा से नमस्कार करना वंदन भक्ति है। बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन भगवान के मानव रूप की उपासना करते हुए राधा—माधव की युगल जोड़ी को हृदय में स्थापित कर लेते हैं। इस प्रकार की मानसिक वन्दना भी वन्दन भक्ति है।

जयति सच्चिदानन्द घन जगपति मंगल मूल।
दयावारि बरसत रहो सदा होय अनुकूल ।।
जय जय मानव रूप धर सकल जगत करतार।

---

1. गीता — 18/65

जयति तुष्ट दलन श्रीकृष्ण तरन–भू–भार।।

जय जय जग जीवन करन भक्तन को प्रतिपाल।

जय राधारानी–रमन सदा बिहारी लाल।।

नवल नील नीरद रूचिर रूचि मोहत मन मोर।

दामिनि दुति कामिनि सहित फरि दया दृग कोर।।

बसहु सदा घनश्याम हिय सौदामिनी सरूप।

जय राधा–माधव मिली जारी युगल अनूप।।[1]

भारतेन्दु ने भी वन्दना के अनेक पद लिखे। कवि ये मानता है कि भगवान के नाम अनेकों हैं वह तो विभिन्न लीलाओं के लिए भिन्न भिन्न रूप धारण करता है। पर वास्तविकता ये है कि वह एक ही है। अतः भिन्न–भिन्न नामों वाले भगवान की वंदना करते हुए भारतेन्दु जी कहते हैं कि –

राधावल्लभ वल्लभी वल्लभ वल्लभ ताइ।

चार नाम वपु एक पद बंदत सीस नवाइ।।[2]

पंडित प्रताप नारायण मिश्र तो तुलसी दास की भांति ही संसार के सभी मनोरम दृश्यों को ईश्वर की प्रतिकृति माना और अपनी वंदना उसके प्रति ही अर्पित कर दी।

सुसौन्दर्य, जो पुष्प का तत्व है, सुआनन्द जो प्रेम का तत्व है।

कि जिसका यही सत्व आकार है, उसे ही हमारा नमस्कार है।[3]

वंदन भक्ति में भक्त साकार और निराकार का विवेचन नहीं करता। क्योंकि भक्त का विश्वास होता है कि उसका भगवान तो निराधार का आधार है, दया का विशाल भण्डार है। अतः वह उसे ही नमस्कार करता है।

निराकार है या कि साकार है, गुणागार या निर्गुणागार है।

निराधार का जो कि आधार है, उसे ही हमारा नमस्कार है।[4]

---

1. प्रभाकेश्वर (सं0) प्रेमघन सर्वस्व – (लालित्य लहरी) – पृ0 329
2. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – उत्तरार्द्ध भक्तमाल – पृ0 223
3. नारायण प्रसाद अरोड़ा (सं0) प्रताप लहरी – पृ0 256
4. नारायण प्रसाद अरोड़ा (सं0) प्रताप लहरी – पृ0 256

ठाकुर जगमोहन सिंह उन श्यामा–श्याम की वन्दना करते हैं जो भव–भय–तारन हैं –

बन्दौं श्यामा–श्याम चारहु भल को मूल।

करहु मोर उर धाम हरहु पीर अन पाइनी।

विनय करौ कर जोर सुनु जगमोहन लाड़ली।

करहु दया की कोर तुअ प्रभाव भव भय तरत।[1]

इस प्रकार भारतेन्दु युग में वदन भक्ति के उत्कृष्ट उदाहरण देखने को मिलता है। प्रत्येक भक्त कवि अपनी श्रद्धा भगवान के प्रति तो व्यक्त की ही है गुरू के प्रति भी उनकी वदना देखने लायक है।

दास्य भक्ति –

नवधा भक्ति के वर्णन में इस सोपान पर पहुँचकर मैं यह स्पष्ट करना चाहूँगा कि अब तक श्रवण से लेकर वन्दन तक की भक्तियों में क्रिया का स्थान मुख्य है और भावना गौण रूप में। अतः निर्विवाद रूप से इसे साधन भक्ति कहा जाता है। साध्य अवस्था की प्राप्ति के लिए आन्तरिक सामर्थ्य का होना आवश्यक है अतः दास्य, सख्य और आत्म निवेदन में क्रिया की अपेक्षा भाव को विशेष महत्व प्रदान किया गया। दास्य की पारभाषा व्यक्त करते हुए श्री रूप गोस्वामी पाद ने लिखा –

दास्यं कर्मार्पणं तस्य कैड.कर्यमपि सर्वथा।[2]

अर्थात अपने समस्त कर्म और उसके फल को प्रभु को अर्पितकर देना, और इष्ट के इच्छानुसार सेवा करते हुए जीवन यापन करना ही दास्य भक्ति है। अतः यह भक्ति निष्काम भाव की भक्ति है। इसमें भक्त अपने आप को भगवान का नित्यदास मान कर उसकी सेवा करता है। यही भक्ति एक मात्र ऐसी भक्ति है, जिसमें भगवान के अनन्य प्रेम की प्राप्ति होती है। तुलसीदास जी का तो कहना है कि "सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिउ उरगारि।[3] यह सच्चाई है तभी तो सभी भक्तों ने मुक्त कंठ इसकी महत्ता का गुणगान किया है।

मेरो दूसरो नहिं द्वार।

---

1. डॉ0 कृष्ण लाल (स0) जगमोहन सिंह – श्यामा स्वप्न – पृ0 – 164
2. श्री रूप गोस्वामी – भक्ति रसामृत सिन्धु – 1/2/52
3. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस – उत्तरकाण्ड – दो0 – 119 क

दीन बन्धु कृपायतन। मैं सबाह भाँति तुम्हार।
कौन शरणगत सुखद तुम सारेस सवप्रकार।
गहहु जाको आश तुम बिन हे दया आगार।[1]

यह भक्ति श्रद्धा समन्वित है। ठाकुर जगमोहन सिंह तो भगवान का दासत्व बिना मोल स्वीकार करते हैं। इस परम तत्व को प्राप्त करने मे सुत, पितु, मातु और भ्राता का त्यागना भी पड़ा तो उन्हें कोई कष्ट नही।

हम नेह कियो तजि गेह सबै सुत मात, पिता अरु भ्रात जहाँ।
बिनु मोल के दास भए तबहीं जब कीन्हों कृतारथ मोहि अहा।
अब तो उतनी नही चाह करो जगमोहन दुःख अनेक सहा।
सब छाड़ि तुम्हें हम पाया अहो तुम छोड़ि हमें कहो पायो कहा।[2]

भारतेन्दु दास्य भक्ति में अन्य सभी भक्तों, यहाँ तक कि मध्यकालीन भक्तों से भी आगे निकल जाते हैं, वह अपने आपको मात्र दास ही नहीं बल्कि दासानुदास कहते है। उनके दासत्व में दैन्य की प्रबलता जन्मजात है।

हम तो मोल लिए या घर के।
दास-दास श्री वल्लभ कुल के चाकर राधावर के।
माता श्री राधिका पिता हरिबन्धु दास गुनकर के।
"हरीचन्द" तुम्हरे ही कहावत नहिं विधि के नहिं हर के।[3]

इस दिशा में सबसे अधिक योगदान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का है। "सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी के"।[4] की भावना के अनुकूल सख्य और विनय-भाव की भक्ति का निर्देशन मिलता है। तुलसी और सूर की भाँति ही भारतेन्दु ने भी "पतित-पति" और "पतितन का सरदार" कहा दास्य भक्ति में भक्त अपने आप को सबसे बड़ा पापी और तुच्छ समझता है। भारतेन्दु जी भी इस सोपान पर पहुँचने में समर्थ एवं पूर्ण सफलता प्राप्त किए। कवि अपने को पतित पति की सज्ञा से अभिहित करता है।

हम में कौन कसर पिय प्यारे।
अजमिल में का अवगुन जे नहिं तन मांहि हमारे।
जानी और पतित के माथे सीग रही ह्वै भारी।
ता बिन हमहिं देखि नहिं तारत वृन्दा-विपिन-बिहारी।

---

1. नारायण प्रसाद अरोड़ा (सं0) -प्रताप लहरी - पृ0 - 154
2. श्री कृष्ण लाल (स0)- ठाकुर जगमोहन सिंह - श्यामा स्वप्न - पृ0 - 164
3. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली - दूसरा खण्ड - पृ0 - 56
4. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली - पृ0 - 536

जा पापहि करिबे मा जीव पतित कह वावै।

तौ हमसा बाढ़े के काउ नाहीं को मेरी सारे पावै।

कुछ तो बात हाइ है जासो तारत हम कहं नाहीं।

नाहीं तो "हरीचन्द" पतित–पति ह्वै हम कित बचि जाही।[1]

आगे कवि अपने आपको पतितन क सरदार कहकर दैन्य व्यक्त करता है।

बलिहारी या दरबार की।

बिधि–निषेध मरजाद शास्त्र की गति नहिं जहाँ पुकार की।

नेमी धरमी ज्ञानी जोगी दूर किये जमि नारकी।

पुछ होत जहं "हरीचंद" से पतितन के सरदार की।[2]

× × ×

सब दीननि की दीनता सब पापिन को पाप।

सिमटि आइ मो मे रह्यो यह मन समुझहु आप।[3]

भारतेन्दु जी की भक्ति में दास्य भाव की प्रधानता देखने को मिलती है। ऐसा लगता है कि उन्हें भगवान की भक्त वत्सलता पर पूर्ण विश्वास है। इस सन्दर्भ में डा0 किशोरी लाल गुप्त का कथन समीचीन प्रतीत होता है कि "भारतेन्दु को भी भगवान की रीझ, उनकी भक्त वत्सलता पर अनन्य विश्वास है। वे भगवान की रीझ पर बलिहार जाते हैं क्योंकि महापतितों से भी प्रेम करने वाला उनके अतिरिक्त अन्य कोई देव नहीं दिखाइ देता।[4]

भरोसो रीझन की लखि भारी।

हमहुं को विश्वास होत है मोहन पतित उधारी।

जो ऐसो सुभाव नहिं होतो क्यों अहीर कुल भायो।

तजि के कौस्तुभ सो मनि गल क्यों गुंजा–हार धरायो।

---

1. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – पृ0 – 836
2. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – पृ0 – 68
3. कल्याण – संतवाणी विशेषांक – वर्ष 29 सं0 –1 सं0–2011 पृ0 – 511
4. डा0 किशोरी लाल गुप्त – भारतेन्दु और उनके अन्य सहयोगी – पृ0 – 52

क्रीट मुकुट सिर छाड़ पखाआ मोरन को क्या धार्‌या।

फेंट कसी टेटन पै मवन का क्यों स्वाद बिसार्‌यो।

ऐसी उलटी रीझ देखि क उपजत है जिय आस।

जग–निंदित ''हरीचंदहु'' को अपनावहिंगे कारे दास।[1]

मोहन के ''पतित उधारो'' रूप पर ही वे मात्र नहीं रीझते वह स्वीकार करते हैं. कि ''गुलाम राधा रानी के'' इससे स्पष्ट है कि वे राधा रानी के चरणो की उपासना मे भी तल्लीन है। भक्त कवि समस्त जगत मं अपनी राधा रानी की सरस परिव्याप्ति पाता है। एक तरफ उसकी वाणी मे स्वयं राधा के रूप मे चकोरी बन जाने का आग्रह है, तो दूसरी तरफ वह श्री राधा रानी से एक सच्चे सीधे–साधे भक्त की भाँति याचना करते हैं –

श्री राधे मोहि अपनो कब करिहौ।

जुगल रूप रस अमित माधुरी कब इन नयनानि भरिहौ।

कब या दीन हीन निज पै ब्रज को बास बितरिहौ।

''हरीचंद'' कब भव बूड़त ते भुज धरि धाइ उबारिहौ।[2]

भक्त कवि प्रेमघन तो राधा–कृष्ण के अतिरिक्त सूय की भी उपासना करते हैं। वे सूर्य से अति दीन भाव में प्रार्थना करते है कि –

में पापी पामर परम तरयो पाप के ताप।

द्रवहु दया वारिद क्षमहुँ नाथ सरन अब आप।[3]

प्रेमघन जी ने सूर्य के प्रति अनन्य भाव की भक्ति की है। उनको सूर्य की महिमा और उसकी अनन्यता पर पूरा विश्वास है। भक्त कवि का कहना है कि अब उसके उद्धार की अन्यत्र आशा नहीं है।

त्राहि–त्राहि हे दीन बन्धु करूणा के सागर।

त्राहि–त्राहि त्रय ताप हरन तिहुँ लोक उजागर।

ता सौ अब हे नाथ। त्यागे औरन की आसा।

---

1. ब्रजरत्नदास (सं0)–भारतेन्दु ग्रंथावली– दूसरा खण्ड–प्रेम फुलवारी–खण्ड–9 पृ0 579
2. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली–छं0–1 – पृ0 577
3. प्रभाकेश्वर (सं0) प्रेमघन सर्वस्व – पृ0 240

आयो तुमरी सरन लहन मन की अभिलाषा।[1]

पंडित प्रताप नारायण मिश्र तो भक्ति साधना के क्षेत्र में फैले मतवादो से घबड़ाकर सीधे सरल रूप में यह कह जाते है कि –

झूठे झगड़ों से मेरा पिण्ड छुड़ाओ।
मुझको प्रभु अपना सच्चादास बनाओ।[2]

इतना ही नहीं कि मुझे सच्चा दास बनाओ। कवि का अटूट विश्वास है कि प्रभु ऐसे ही निसहाय लोगों की रक्षा करता है। वह उद्धरण भी देता है कि भगवान ने तो गनिका गज और गीध जैसे पापियों को तारा है। यहाँ तो अब बस पापी प्रताप ही बच गया है। अतः प्रार्थना करता है कि–

आगे रहे गनिका गज गीध सुतौ जब कोऊ दिखात नहीं है।
पाप परायन ताप भरे ''परताप'' समान न आन कहीं हैं।
हे सुखदायक प्रेमनिधे जग यों तो भले और बुरे सबहीं है।
दीनदयाल और दीन प्रभो, तुमसे तुमहीं हम से हम रहीं हैं।[3]

इसी प्रकार भारतेन्दु युग के अन्य कवि भक्तों संसार नाथ पाठक, राधा कृष्ण दास, सुमेर सिंह साहबजादे आदि में भी दैन्य भावना के भाव दिखाई देते हैं।

सख्य–

सख्य शब्द से ही स्पष्ट है कि सर्वाधिक विश्वास की दृढ़ता ही सख्य भाव को अंकुरित करता है। वैसे तो भक्ति का आधार ही है विश्वास, लेकिन सख्य भाव की भक्ति में विश्वास का तात्पर्य है भयरहित विश्वास जो अन्तरंगता से युक्त हो। प्रभु से निर्भयतापूर्वक अपने मन की गुप्त से गुप्त बात कहना और मित्रवत आचरण करना ही सख्य भक्ति है। भागवत् में लिखा है कि ''उन नन्दगोप के ब्रज में वास करने वाले लोगों का भाग्य धन्य है, जिनका मित्र परमानन्द परिपूर्ण सनातन ब्रह्म हैं।

---

1. प्रभाकेश्वर (सं0) प्रेमधन सर्वस्य – पृ0 248
2. नारायण प्रसाद अरोड़ा (सं0) प्रताप लहरी – पृ0 85
3. ब्रजरत्नदास – भारतेन्दु मण्डल – प्रताप नारायण मिश्र – पृ0 107

अहो भाग्य महो भाग्य नन्दगोप व्रजौकसाम्
यो मित्र परमानन्दं पूर्ण ब्रह्म सनातनम्।[1]

भगवान सचमुच ''स्वारथ-रहित सखा सबहीं के हैं। गीता में भी स्पष्ट घोषणा की गयी है कि –

सुहृद सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्ति मृच्छति।[2]

अर्थात प्रभु को सम्पूर्ण प्राणि जगत का सुहृद जानकर ही शान्ति प्राप्त की जा सकती है। सुहृद कहते हैं सुन्दर हृदय वाले मित्र को। स्पष्ट है जिसके मित्र परमानन्द स्वरूप पूर्ण ब्रह्म हो उसके सौभाग्य की कोई सीमा नहीं।

भारतेन्दु भी अपने आपको कम सौभाग्यशाली नहीं मानते उनकी स्पष्टोक्ति है ''सखा प्यारे कृष्ण'' के। भारतेन्दु जी ने कृष्ण के बाललीला सम्बन्धी पदों की रचना करके सख्य भक्ति का उत्कृष्ट एवं पूर्णरूपेण अभिनव उदाहरण प्रस्तुत किया है। भारतेन्दु के कृष्ण गोप-सखाओं के साथ गोचारण में जाते हैं वहाँ एक ही साथ मध्याह्न का भोजन ग्रहण करते हैं। बाल सुलभता का जो दर्शन इस स्थल पर वर्णित है वह अत्यन्त उत्कृष्ट है। ये बाल सुलभ आलोचना सख्य भाव के अनुरूप है इसमें कृष्णत्व का कहीं भी प्रभाव नहीं दिखाई देता।

सुदामा तेरी फीकी छाछ।
मेरी छाक रोहिनी पठई मीठी और सु-पाक।।
बलदाऊ की कोरी रोटी मोको घी की दोनी।।
सो सुनि सुबल तोक उठि बैठे मेरी बहुत सलोनी।।
जैसी तेरी मैया मोटी तैसी मोटी रोटी।।
मेरी छाक भली रे भैया जामें रोटी छोटी।।

---

1. श्रीमद्भागवत – 10/14/32
2. गीता – 5/29

बालत राम पताका ले ले बैठा भाजन कीजे।

बच्चा बचाया अपना जूठन "हरीचद" को दीजे।[1]

उपरोक्त पद में सुबल और तोक यह कहना है कि जैसी तेरी मैया मोटी वैसी मोटी रोटी कितना स्पष्ट और सटीक उत्तर है। ऐसी स्थिति में सख्य भाव अपने सर्वोत्तम रूप में दिखाइ देता है। यहाँ कृष्ण का इश्वरत्व छूता भी नहीं, बाल सुलभ चंचलता और वाचालता की आंधी में सब कुछ उड़ जाता है सिर्फ कृष्ण के प्रति सख्य भाव ही स्थिर रहता है। सख्य भाव की उत्पत्ति ही समानता के धरातल पर होती है। इस उच्चाकाश में सभी एक समान होते हैं। मित्र मित्र के बारे म सोचता है। एक के दुख में दूसरा दुखी होता है। गोस्वामी जी ने लिखा है कि –

जेन मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।[2]

भारतेन्दु युग में इस भावना को बल प्रदान किया गया। स्वयं भारतेन्दु ने भी सखाभाव से कृष्ण की उपासना की लौकिक जगत में भी इसी सख्य भाव को स्वीकार किया गया। फलस्वरूप भारतीय जनता की अधोगति से क्षुब्ध होकर राष्ट्रीय उन्नति और चरित्रगत सुदृढ़ता पर विशेष बल दिया गया। यहाँ पहुँच कर भारतेन्दु युग की भावना एक नवीन स्वरूप को धारण करती है। जो परम्परागत भक्ति से बिल्कुल पृथक रूप धारण करती है। परम्परागत भक्ति भी दिखाइ देती है। सख्य भाव चाहे वो लौकिक धरातल पर अवतरित हो या अलौकिक स्वाभाविक रूप से वो संवेदनात्मक होता है। मित्रता का जो आदर्श लौकिक व्यहवार में उपस्थित होता है वही सख्य भाव भक्ति में भगवान के प्रति भक्त रखता है। फलत. भगवान– भगवान न रह कर मित्रता की श्रेणी में आ जाता है। जहाँ प्रेम निःस्वार्थ भाव से किया जाता है।

भारतेन्दु युगीन कविता में सख्य भक्ति का विशेष उल्लेख बाल लीला, यौवन काल की आमोद–प्रमोदमयी घटनाओं में देखने को मिलता है। इन पदों में मौलिकता और

---

1. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु युग – दूसरा खण्ड – स्फुट कविताएं सं0–5 पृ0 829
2. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस – किष्कन्धाकाण्ड – 4/6/1

नवीनता दोनों है। कवि का कृष्ण आंगन में खेल रहा है। वह बार–बार मना करने पर भी नहीं मानता और धूप में चला जाता है।

अरी हौं बरजि रही बरज्यौ नहिं मानत ।
दौरी दौरी बार बार धूप ही में जाय ।।
× × × ×
हरीचन्द मातु के बचन सुनि आइ पौढ़े।
बिजन करत सब सखि हरखाय ।।[1]

भक्त कवियो ने कृष्ण के प्रत्येक वय का चित्र खींचा है और अपनी सख्य भक्ति को तृप्त किया है। कृष्ण अब अपने घुटनों से चलना छोड़ पैरों पर खड़े होकर चलने लगे हैं और गोचारण के लिए ग्वाल सखाओं के साथ वृन्दावन जाने लगे है।

सहज सुबालकों के संग सुख पावें श्याम।
गोधन चरावें गुहरावें नाम टेरि टेरि।।
आवें ढिग जे ते नित्य बिबुध – विरोधी तिन्हें।
पकरि पछारे मरे भूमि रन गेरि–गेरे ।
सारदा सुरेस संभु गिरिजा गनेस आदि।।
गावें "कमलेस" जासु गुन–गुन फेरि फेरि।
कुंज बन जावें, वर बांसुरी बजावें राग।
रागिनी सुनाबे और चितावे हंसि हेरि हेरि।।[2]

प्रस्तुत पद सख्य के स्वरूप को कितना स्पष्ट करता है यह स्पष्ट है। सख्य भाव किसी भी अन्तर्विरोध को बर्दाश्त नहीं करता सभी समान होते हैं। यहाँ एक चरवाहा दूसरे चरवाहे का नाम पुकारता है। बात ही बात में झड़प हो जाती है। इस प्रकार हाथा पाई में पकड़कर

---

1. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड–प्रेम मालिका– छं0–60 पृ0 63
2. शिवपूजन सहाय – हिन्दी साहित्य और बिहार – भाग–2 – पृ0 79

पछाड़–पछाड़ मारने का भाव बड़ा ही चित्ताकर्षक है। भारतेन्दु जी की सख्य भक्ति सर्वोत्कृष्ट है। उनके कृष्ण जब उनकी बात नहीं सुनते तो बाल सखाओं की भांति ही वे उन्हें बहलाते हैं, फुसलाते है। उनसे कहते हैं कि ये तुम्हारे हित की बात है। अब इस बार मुझ तार लो नहीं तो तुम्हारा प्रन चला जायेगा। अगर मुझे नहीं तारोगे तो इसमें मेरा कुछ नहीं होगा। तुम्हारी ही बदनामी होगी। इस प्रकार भारतेन्दु जी एक सच्चे मित्र की भांति कृष्ण को सचेत करते हैं, जिससे जग में उनके मित्र की जग हसाई न हो।

तुम्हारे हित की भाखत बात ।
कोउ बिधि अबकी तार देहु मोहि नाही तो प्रन जात ।।
बूंद चूकि फिर घट ढरकावत रहि जैहो पछितात।
बात गए कछु हाथ न ऐहे क्यों इतनो इतरात।।
चूक्यो समय फरि नहिं पैहो यह जिय धरि के तात।
तारि लीजिए "हरीचंद" को छांड़ि पांच अरू सात।।[1]

आत्म निवेदनः–

यह नवधा भक्ति परिवार की अन्तिम और सबसे महत्वपूर्ण भक्ति है। इस भाव के बिना भक्ति अधूरी रहती है। आत्म निवेदन का अर्थ है भगवान को अपना सब कुछ अर्पित कर देना। इसमें भक्त मन, वचन और कर्म से अपने आप को भगवान के चरणों में निछावर कर देता है। सच तो ये है कि मनुष्य का अपना कुछ भी नहीं जो है वो सब प्रभु का ही है। फिर जिस अहं भावना से मनुष्य उसे अपना स्वीकारता है उसी का समर्पण आत्म निवेदन है। समस्त भक्त एवं संत, भक्ति के इस सोपान पर पहुँच कर यह स्वीकारने में किंचित मात्र भी संकोच नहीं किया कि "सब कुछ प्रभु का है। कबीर तो बड़े साहस और प्रसन्नता का अनुभव करते है और कहते है कि – "मेरा मुझ में कुछ नही, जो कछु सो तेरा। तेरा तुझको सौंपता क्या लागै है मेरा। यही त्वदीयं वस्तु गोविन्द"- की भावना आत्मनिवेदन है।

---

1. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – प्रेम फुलवारी – पृ0 579

भारतेन्दु युग इस भावना के पोषण में पीछे नहीं रहा। अथात इस युग में आत्म निवेदन की भावना का विकास पर्याप्त मात्रा में हुआ। कारण भी यथेष्ट था, देश में अशांति थी. जनता के मुख से यही सुनाइ देता था कि कहा करूणा निधि केशव सोय। स्पष्ट है जनता आर्त्त भावना से भगवान को पुकार रही थी क्योंकि वही एक मात्र सबल संबल था। कवि भारतेन्दु अत्यन्त उत्कंठा से ये आशा रखते है कि श्री राधिका कब मुझे अपने चरणों में स्थान देंगी।

श्री राधे मोहिं अपनो कब करिहौ।
जुगल–रूप–रस–अमित–माधुरी कब–इन नैननि भरिहौ।
कब या दीन–हीन निज मन पै ब्रज को बास बितरिहो।
हरीचंद कब भव बूड़त तैं भुज धरि धाइ उबारिहौ।[1]

भारतेन्दु जी मात्र राधा रानी के चरण–शरण की कामना ही नहीं रखते। उन्हें उस शरण पर पूर्ण विश्वास भी हैं कि वो मेरी रक्षा करेंगे। व्यक्ति दीनता की याचना वहीं करता है जहां उसे विश्वास होता है कि यहां मेरा हित होगा। इसी भावना से भारतेन्दु जी भी कहते है कि –

प्रभु जो करिहौ सोइ न्याव ।
सुगति कुगति सबही अति समुचित हम पतितन के दाव ।।
जो तुन मात्रहु न्याव करौ प्रभु करि शास्त्रन पे नेह।
तौ हम कठिन नरक के लायक यामै कछु न संदेह।।
पै जो ढरौ नाथ करूना–देसि तौ का मेरे पाप।
कोटि–कोटि बैकुण्ठ सुलभतर तनिक कटाक्ष–प्रताप।
जौं हमारी दिसि लखहु उचित तौ सब बिधि दण्ड विधान।।
''हरिचंद'' तो यही जोग पै प्रभु दया निधान।[2]

---

1. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – प्रेम फुलवारी – पृ0 577
2. ब्रजरत्नदास (सं0) – दूसरा खण्ड – विनय प्रेम पचासा – छं0 10 – पृ0 541

पंडित प्रताप नारायण मिश्र भी भगवान की अनन्यता पर पूर्ण विश्वास करते हैं। वे अपने आप को भगवान का गुलाम कहते हैं। भारतेन्दु की ही भाँति उनका प्रभु जो भी करेगा अच्छा ही करेगा अर्थात वही न्याय होगा। मिश्र जी कहते हैं कि –

> कहने सुनने को था मुझ पास एक दिले नाकाम अपना।
> मुद्दत गुजरी, बनाया तूने उसे गुलाम अपना।।
> अब तो तेरे सिवा कोई खुदा न कोई राम अपना।
> जो कुछ है तो तू ही है और से क्या है काम अपना ।।
> तेरी याद याद में भूल गया अब आज जो अंजाम अपना।।
> किसे खबर है, कहाँ हूँ? कौन हूँ? क्या है नाम अपना ।।[1]

इस प्रकार का आत्म समर्पण कवि की अनन्य श्रद्धा का परिचायक है। श्रीधर पाठक प्रभु से आत्मनिवेदन करते हुए उससे इस तरह की बुद्धि माँगते है जिसका कभी भी नाश न हो।[2]

अतः भारतेन्दु युग में यद्यपि भक्ति की परम्परा का निर्वाह मात्र ही देखने को मिलता है, फिर भी नवधा भक्ति अपनी पूर्ण सात्विकता को लेकर युग चेतना पर प्रभावी है इस युग के भक्त कवियों में एक तरफ कबीर जैसी प्रेमाकुलता है तो दूसरी तरफ सूर और तुलसी जैसी तन्यमता और अनन्यता भी कम नहीं। समस्त भक्त कवि नवधा भक्ति के विविध सोपानों को अपने अभिष्ट प्राप्ति के रूप में वर्णित करता दिखाई देता है।

बहु देवोपासना :–

इस युग की स्थिति कुछ ऐसी थी जिसमें धार्मिक प्रभाव का स्वतंत्र रूप प्रायः स्पष्ट नहीं होता है। पूर्वकाल के ही अनुकरण पर विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, पार्वती, सरस्वती

---

1. नारायण प्रसाद अरोड़ा(सं0) प्रताप लहरी – पृ0 80
2. श्रीधर पाठक – मनोविनोद – पृ0 2

दुर्गा, गंगा आदि की भक्ति के दर्शन होते हैं। इतना अवश्य है कि राम और कृष्ण की अपेक्षा अन्य सभी देवी, देवताओं को गौण स्थान प्राप्त हुआ। राम और कृष्ण में भी कृष्ण की भक्ति विशेष रूप से की गयी। ऐसा प्रभाव रीतिकालीन कविता से पड़ा। युग–विधायक भारतेन्दु जी ने भी रसखान, बिहारी, देव, मतिराम आदि से प्रभाव ग्रहण किया। उदाहरण स्वरूप यह देखा जा सकता है कि भारतेन्दु जी ने किस तरह रसखान के एक सवैय्या का अनुकरण किया।

सेस महेस गनेस दिनेश प्रजेश सुरेस धनेस मनाओ
कोऊ भवानी भजौ मन ही सब आस सबै विधि जाय पुराओ
कोऊ रमा भजि लेहु महाधन कोऊ कहुँ मनवांछित पाऔ।
पै रसखानि वही मेरो साधन और त्रिलोक रहौ कि न साऔ।[1]

इसी के अनुरूप ही भारतेन्दु जी का यह पद प्रतीत होता है।

पूजि के कालिहि सत्रु हतौ कोऊ लक्ष्मी पूजि महाधन पाओ।
सेइ सरस्वति पंडित होउ गनेसहि पूजिकै विघ्न नसाऔ।
त्यौं "हरिचंद जू" ध्यान शिवै कोऊ चार पदारथ हाथ ही लाओ।
मेरे तो राधिका–नायक ही गति लोक दोऊ रहौ के नसि जाऔ।[2]

भारतेन्दु के इस पद से तद्युगीन बहुदेवोपासना तो स्पष्ट होती ही है, साथ ही साथ उनकी कृष्ण के प्रति अनन्यता और रीतिकालीन प्रभाव भी स्पष्ट है। अतः यह कहना कि भारतेन्दु युग की कविता अपनी पूर्व परम्परा का अनुकरण करने में सिद्धहस्त है। अत्युक्ति नहीं होगी।

आलोच्य काल की कविता का आंगन विशेष रूप से राम और कृष्ण के श्रवण, कीर्तन से गूँज रहा था। सामयिक अवसर विशेष जैसे शिवरात्रि आदि समयों पर विशेष

---

1. लल्लुभाई छगन लाल देसाई (सं0) महानुभाव रसखान – पृ0 28

2. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु गंथावली – पृ0 79

देवी, देवाता का गुणगान देखने को मिलता है। भारतीय धार्मिक जगत् में शिवरात्रि की अनुपम महत्ता है। इस दिन भक्त जन शिव भक्ति सम्बन्धी अनेक भजन गाते हैं। यद्यपि भारतेन्दु जी वल्लभ सम्प्रदाय के थे, और उनका उद्देश्य कृष्ण भजन था, पर अन्य देवताओं से उन्हें कोई दुराव भी नहीं था। अतः शिवरात्रि का पद उनके कवि हृदय से अनायास ही निकल पड़ता है –

आजु शिव पूजहु ह बनमाली।
छांड़ि कुटी बाहर ह्वै बैठे ए दोउ शोभाशाली।
नाहिं गंगा मृग चरम नाहिं कटि नहिं विभूषति सिर राजै।
नहि चंद केवल कछु नागिन लटकत सिर पर छाजै।
तुम बड़भागी भक्त लाल चलि सेवन बहु बिधि कीजै।
"हरिचंद" ऐसी भामिनी को काहें रूसन दीजै।[1]

× × × ×

शिवहि पूजि कै तीज दिन शिव-हित पै छट दान।
शिवपुर सो नर पावइ भाषत शिव भगवान।।[2]

बहुदेवोपासन में शिव के बाद दुर्गा को विशेष महत्व प्राप्त है। भारतेन्दु मंडल के प्रमुख कवियों प्रताप नारायण मिश्र, ठाकुर जग मोहन सिंह, बालमुकुन्द गुप्त आदि ने नेहमयी त्रिभुवन की महारानी और अरिदल का नाश करने वाली दुर्गा की प्रार्थना की है।

जय जय त्रिभुवन महरानी।
बिबुध बृन्द पूजित पद पंकज नेहमयी जननी जग जानी।
पुरूष सिंह मानस अरूढ़ नित शूल प्रहार कुशल बल खानी।।
सेवक रच्छिनि, अरि-दल-भच्छिनि अतुल प्रभाव न जात बखानी।

---

1. ब्रजरत्नदास (सं०) – भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – मुकुंद छं०–73 पृ० 430
2. ब्रजरत्नदास (सं०) – भारतेन्दु ग्रंथावली – वैशाश्व महात्मा – छं०–34 पृ० 92

सिरजन पालन नाशत निरता सुख दुख बंध मुक्ति बरदानी।
निशि दिन राहित प्रेम मदमाती चहति सदा, मैं की हानी।[1]

मां दुगा रिपु का नाश करन वाली और सुख शान्ति और चैन व्याप्त करने वाली है। ठाकुर जगमोहन सिहं को भी मा के इस स्वभाव पर पूर्ण विश्वास है। वे मां भगवती से कहते है कि –

ध्यान तोर निस द्यौस चरन जलज सेवत सदा।
जिनि वासो मिलि हौस बीतें रैन सुचैन सों।
याहि बांचि रिपुनास होहु जाहे सुमिरों जिवहिं।
पुर वहु सब मय आस दुर्गा दुर्गति नाशिनी।[2]

दुर्गा के इस दुर्गति नाशिनी स्वरूप का ही परिणाम है कि जगत का कल्याण होता है। विद्या–बुद्धि आदि भी जगत् माता दुर्गा की अनुकम्पा का ही फल है। बालमुकुन्द गुप्त जी का कहना है कि दुर्गा की शक्ति का वर्णन कर पाना असंभव है। क्योंकि सम्पूण जगत में उसी की लीला व्याप्त है। उसके ही प्रभाव से रत्नाकर उमड़ता है, हुतासह दाह करता है और वायु बहती है सूर्य प्रकाशमान होता है।

सव्वे ‍तमय शक्ति स्वरूपिनि शक्ति तुम्हारी।
को बरनन कर सके तुम्हारी महिमा भारी।
तब लीला सों व्यापे रहयो हैं यह जग सारो।
तेरे बल रवि तपत बहत अति वायु भयंकर।
कुपति हुतासन दाह करत उमड़त रत्नाकर।[3]

---

1. प्रताप नारायण मिश्र – नवरात्र के पद – ब्राह्मण – खण्ड–4 संख्या–4 पृ0 185
2. डा0 श्रीकृष्णलाल (सं0) डॉ0 जगमोहन सिहं – श्यामा स्वप्न – पृ0 149
3. बालमुकुन्द गुप्त – स्फुट कविता – पृ0 43

सरस्वती :-

वीणावादिनी मा सरस्वती ज्ञान की देवी है। इनकी उपासना से ज्ञान तत्व की प्राप्ति होती है। प्रेमघन जी मां भारती के अनन्य भक्त है उनका विश्वास है कि उसके युगल पदों की वंदना से सब कार्य पूर्ण हो जाते हैं-

जयति भारती देवि कर वीणा पुस्तक साज।
जासु जुगल पद ध्यान सों सिद्धि होत सब काज।।[1]

ठाकुर जगमोहन सिहं मां सरस्वती के महिमा का गुणगान करते हुए अनन्य श्रद्धा और भक्ति में विनतमाथ प्रार्थना करते हैं, कि हे मां इस जीवन में अविद्या का नाश कर ज्ञान रूपी दीपक प्रदान कर जिससे भव तिमिर विनष्ट हो जाय-

कविता सरिता अथाह धारा सुइ कबहुँ न रूके।
मांगे चाहती लाहु जननि दीजिए वर सुयस ।।
बरू समेर रत्न होय शीतल अनलहु पवन थिर।
पै तुअ धार न जोय रूके न कबहुँ देवि चिर।।
यह न अहै कछु दूरि तुअ प्रताप सेवा सकल।
जो तुअ किरपा भूरि तो न कठिन कछु तोर बल।।
यह बिनवां करजोर, असरन सरनि निकेत सुख।
ह्वै प्रसन्न करि कोर दया शील रावरि सुरूख।।
हरहु अविद्या दे विद्या विवुधान की।
ना सहु तिमिर जुतासु ज्ञान दीप राखि मन ।।[2]

मां भगवती सरस्वती मनुष्य जीवन में विद्या, कला, ज्ञान, आदि का प्रकाश भरती है। वही ब्रह्म स्वरूपा भी है और आनन्द स्वरूपा भी। वही प्राणी मात्र का दिशा निर्देश करती है। वे ही कमल-दल-सोचनि और कुटिल-कुटेव, कुमति-भक्त-मोचनि है। प्रत्येक

---

1. प्रभाकेश्वर (सं0) प्रेमघन सर्वस्व - ललित्य प्रहरी - पृ0 332
2. ठाकुर जगमोहन सिहं - देवयानी - पृ0 15

व्यक्ति उसके स्मरण से ही अपना कार्य प्रारम्भ करता है। श्रीधर पाठक भी उसी मा सरस्वती को प्रार्थना करते हैं जो सब मंगलकारी है।

जय सारदा जय गिरा भवानी ।
जय जग–ज्याति जयति जग–रानी ।।
जय जय विसद्–ब्रह्म–बर–बानी।
ब्रह्म स्वरूपिनि वद बखानी ।।
जय अज्ञान–निसा–तमन्नासिनि।
जय जय ज्ञान–दिनेश प्रकासिनि।।
अमल–प्रफुल्ल–कमल–दल–लोचनि।
कुटिल–कुटेव–कुमति–मल–मोचनि।
अक्ष–सूत्र दक्षिण कर धारै।
बाम–बंद–वर बीन संभारै।
रूचिर–पद्म–आसन–आसीना।
रूचिर–साम–पद–गान–प्रवीना।
मुक्ताहार कंठ सुठ राजै।
सिर सुहाग–सिन्दूर बिराजै।[1]

गणेशः–

पंच देवोंपासना में भगवान गणपति का स्थान मुख्य है। लोगों की ऐसी मान्यता है, कि किसी भी कार्य के प्रारम्भ में ही श्री गणेशाय नमः कह लेना शुभकर होता है क्योंकि ये विघ्नों के विनाशक और मंगलदाता हैं। भारतेन्दु युग के भक्त कवियों ने भी इस विघ्न विनाशक, मंगलकारी गजवदन गणपति महादेव की आराधना में स्तुति की।

जै गौरी सुत गजवदन गणनायक उर ध्यान।
एकरदन अघ करन शुभ मंगल करन मनाय।।
जय गणेश मंगल करन हरन सकल दुख द्वन्द।

---

1. श्रीधर पाठक – मनोविनोद – पृ० 181

सिद्धि सनिल नित प्रमघन पर बरसहु सानन्द ।।
मंगल मूरति गजानन गौरी लीने गोद।
शंकर संग राखै सदा सह वस्वधू बिनोव ।।[1]

इसी प्रकार श्रीधर पाठक ने भी गणनायक की वन्दना की –

जयति गजानन गिरिजानन्द
गणनायक करूणा–सुख कंद।
तुन्दिल – काय, भाज–शिशु–चंद
करमोदक उर–मोद–अमंद।
चंचल–शुन्डि प्रबल–भुज–दण्ड
दुष्ट–दलन–दुंग्कार–प्रचंड।
बिध्न–विनाशक–नाम–सुधन्य
विज्ञ–वरेन्य स्वभक्त शरन्य।
काटहु–कुमति–कलेश–दृढ़ फेर
देउ सुमति विद्या आनन्द ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग का काव्य विशेष कर भक्ति काव्य राधा–कृष्ण के मधुर उपासना से भरा हुआ है। कृष्ण की माधुर्य लीला का रसास्वाद सम्पूर्ण भारतेन्दु युग करता है। परन्तु ऐसा नहीं कि कृष्ण के अतिरिक्त राम तथा अन्य देवी–देवताओं को मान्यता नहीं मिली। स्वयं भारतेन्दु जी जो अपने स्वयोक्ति में यह कहते है कि "सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी को।" उन्होंने भी "रामलीला" नामक एक चंपू का प्रणयन किया। जिसमें कवि ने बाल एवं अयोध्याकाण्ड की कथा को अभियंजित किया है। भारतेन्दु मण्डल के अन्य कवियों ने भी भक्ति परक पदों की रचना की। कृष्ण के अतिरिक्त बहुदेवोंपासना का स्वरूप भी पूर्वकाल की भांति उसी रूप में व्यक्त हुआ है।

---

1. प्रभाकेश्वर (सं0) प्रेमघन सर्वस्व – ललित्य लहरी – पृ0 332

भक्ति का स्वरूप पूर्णरूपेण अपनी परम्परा का पालन करती हुइ आगे बढ़ी है। ये युग किसी नवीनता का परिचय नहीं देता वही मध्ययुगीन पारिपाटी का अनुसरण मात्र है। नवीनता के रूप में एक प्रवृत्ति ने अवश्य जन्म लिया। जिसे देशानुराग व्यंजक–भक्ति भावना कह सकते हैं। जिसमें साम्प्रदायिक मत–मतान्तरो से उपर उठकर धार्मिकता के स्थान पर उदारता का परिचय दिया गया है।

भक्ति का नवीन स्परूपः–

भारतेन्दु युग का कवि जहाँ एक ओर प्राचीनता का प्रेमी है, वहाँ दूसरी ओर अर्वाचीनता का सूत्रधार भी है। तत्कालीन समस्याओं ने उसे इतना झकझोर दिया कि उसके प्रति उसकी जागरूगता बढ़ गयी। फलस्वरूप काव्य में जहाँ परम्परागत भक्ति उत्पन्न हुइ वहीं उसके काव्य में राज-भक्ति के साथ देश-भक्ति का नीवन एवं मौलिक स्वरूप भी दिखाइ देता है। इस प्रकार की भक्ति में साम्प्रदायिक मत–मतान्तरों पर आधारित धार्मिकता के स्थान पर उदारता का परिचय देखने को मिलता है। इस प्रकार का परिवर्तन नई शिक्षा के प्रसार के कारण हुआ। कवियों के विचारों में प्रगति अवश्य हुई, लेकिन काव्य के क्षेत्र में नवोन्मेष गौण रहा, और पूर्व की भांति ही भक्ति और श्रृंगार परक रचनाओं का प्राधान्य दिखाइ देता है। ऐसे संक्रांति काल में भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों ने अवसर का लाभ उठाया और देश की प्रगति के प्रश्न को सामने लाकर सुगम्भीर चिंतन साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया। भारतेन्दु इस आन्दोलन के अगुवा थे। भारतेन्दु के व्यक्तित्व में राष्ट्रीय भावना कूट–कूट कर भरी हुइ थी। परिणाम स्वरूप उन्होंने भारत की प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान की नींव को हिलते देखा। ऐसी स्थिति में इन्होंने प्राचीन गौरव गाथा की कलात्मक अभिव्यक्ति से देशवासियों के सुषुप्त विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन पैदाकर दिया। उदाहरण स्वरूप भारतेन्दु का यह वर्णन अत्यन्त आर्त स्वर में मुखरित है, जो वर्तमान की अधोगति का स्मरण तो कराता ही है साथ ही साथ अपने आध्यात्मिक वीर पुरूषों का आह्वान भी करता है।

कहाँ गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर।

चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करिके थिर।

कहं क्षत्रिय सब मरे जरे सब गये किते गिर।

कहां राज को तौन साज जेहि जानत है चिर।

कहं दुर्ग–सेन–धन–बल गयो धूरहि धूर दिखात जग।

जागो अब तो खल–बल–दलन रहु अपने आर्यमग।[1]

कवि का य आहवान देखवासियों को उनकी अवनति का अनुभव कराने की दृष्टि स हुआ प्रतीत होता है। ऐसा आवश्यक भी था। क्योंकि बिना अतीत और वर्तमान के स्वर को मिलायें। इस देश के वासियों के हृदय में राष्ट्रीय भावना को पैदा नहीं किया जा सकता था।

अतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय कविता को निश्चित परम्परा के साथ गतिशील बनानें में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उन्होंने जीवन और साहित्य की खाई को भरते हुए देश भक्ति क स्वर को जन–जन तक पहुँचाने का उल्लेखनीय प्रयास किया।[2]

राजभक्ति –

अंग्रेजो का आगमन कुछ रूपों में भारत के लिए लाभकर भी सिद्ध हुआ जैसे भारतीय जन–मानस में सोई हुई राष्ट्रीय चेतना ने अपनी नींद खोली, विस्मृत आत्मशक्ति बोध प्राप्त करने में सफल हुई। संचार माध्यमों प्रेस और शिक्षा आदि में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। यहाँ तक का विकास तो उचित था, लेकिन ये भारतीयों को उस समय असह्य हो गया जब व्यापरियों के रूप में भारत आने वाले अंग्रेजों ने यहाँ के शासन–सम्बन्धी कार्यों में भी अनुचित हस्तक्षेप प्रारम्भ कर दिया। सन् 1857 का विद्रोह इसी हस्तक्षेप की टकराहट से उत्पन्न चिंगारी का विध्वंसक रूप था। पर सांगठनिक शक्ति के अभाव में यह चैतन्य ज्योति ग्रीष्म कालीन वायु के झोंके सदृश क्षणिक और आकस्मिक सिद्ध हुई। जनता विक्षुब्ध हो उठी। ऐसे असन्तोष और अविश्वास को शांत करने के लिए महारानी विक्टोरिया ने उद्घोषणा की कि भारतीयों को उनकी योग्यतानुसार समान रूप से नौकरी मिलेगी, रंग भेद नहीं किया जायेगा और सबको धार्मिक स्वतंत्रता होगी।

---

1. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा भाग – पृ0 – 683
2. डा0 शुभलक्ष्मी – आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय चतना – पृ0 – 37

भारतवासियों को और क्या चाहिए था। वे परम प्रसन्न हुए, उन्हें जीते जी परम पद प्राप्त हो गया और राज-भक्ति का सागर उनके हृदय में तरंग मारने लगा।[1] बस अब क्या कवियों ने अंग्रेजो राज्य को ईश्वर की कृपा का वरदान मानकर, उसकी वंदना प्रारम्भ कर दी। चौधरी प्रेमघन ने भारतीय जनता के कष्टों का निवारण करने वाली अंग्रेजी राज्य का स्वागत करते हुए लिखा कि –

जाकी कृपा प्रभाय गयो भारत को दुरदिन।
यह अंग्रेजी राज दूतै आयौ प्रयास बिन।
स्वस्थ भये स्वच्छन्द स्वाद लहि हर्षित हम सब।
पाय ज्ञान विद्या नव उन्नति लखन लगे अब।
हरे अनेक न दुख राजा बिन कहे हमारे।
बचे अहैं, वानएभए जे टरत न हारे।[2]

कवियों ने महारानी विक्टोरिया की जयकार भी कि –

जयति धर्म सब देश जय भारत भूमि नरेश।
जयति राज राजेश्वरी जय–जय–जय परमेश।[3]

इस राजभक्ति की पीछे प्रमुख कारण राजनीतिक संगठन का अभाव ही था। जनता ये सोच रही थी कि संगठन के अभाव में अंग्रेजों का साथ एवं सहयोग ही लाभकारी है। युग नियामक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी खानदानी राजभक्त थे। उनमें राज भक्ति कूट–कूट भरी हुई थी। उनके अनेक पदों में राज भक्ति दर्शनीय है।

जासु राज सुख बस्यो सदा भारत भय त्यागी
जासु बुद्धि नित प्रजा–पुंज–रंजन महं पागी।
× × ×
जों न प्रजा–तिय दिसि सपनेहुँ चित चलावै।
जो न प्रजा के धर्महि हठ कर कबहुँ नसावै

---

1. डा0 किशोरी लाल गुप्त – भारतेन्दु युग और उनके अन्य सहयोगी कवि – पृ0–206
2. प्रेमघन सर्वस्व – पहला भाग (मंगलाशा अथवा हार्दिक धन्यवाद) – पृ0 – 248
3. अम्बिका दत्त ब्यास – मन की उमंग – देवपुरूष दृश्य -- पृ0 – 16

करि वारड–कानून अनेकन कुलहिं बचायौ।

विद्या दान महान नगर प्रति नगर चलायौ।

× × ×

सबही बिधि हित किये विविध विधि नीति सिखाइ।

अभय बाह की छांह सबही सुख दियो सो आई।

× × ×

जिनके राज अनेक भाति सुख किये सदा हीं

समर भूमि तिन सों छिपनों कछु उत्तम नाहीं।[1]

इस प्रकार भारतेन्दु सहित इस मंडल के समस्त कवियों में राजभक्ति का स्वर निनादित है। डा0 केसरी नारायण शुक्ल के शब्दों में इस समय की अधिकांश राजनीतिक कविताऐं सुव्यवस्थित शासन की स्वीकृति और नवीन सुविधाओं की आशा से विक्टोरिया वायसराय तथा गवर्नरों के प्रति प्रदर्शित राजभक्ति से ओत–प्रोत होती थी।[2] कवियों की इस राजभक्ति के पीछे एक सुव्यवस्थित शासन एवं सर्वहित व्यवस्था की आशा छिपी हुई थी। ऐसा नहीं कि इन कवियों में राष्ट्रीय चेतना का पूर्ण रूपेण अभाव था। वस्तुत. उनकी राज भक्ति परिस्थितियों की कोड़ से उपजी जुगुनु की चमक मात्र थी।

देश भक्ति –

देश भक्ति की भावना समाजगत एवं जातिगत होती है। यह एक मनोभाव है जिसका उद्‌देश्य मातृभूमि की स्वतंत्रता और उसकी संस्कृति की रक्षा है।[3] भारतेन्दु युगीन देश भक्ति तद्‌युगीन राजभक्ति की ही प्रतिक्रियात्मक देन है। इस युग के कवि राजभक्त पहले हैं, देश भक्त बाद में। इसके पीछे भी एक कारण था वे ये कि स्वयं भारतेन्दु भी संवत् 1931 तक राजभक्ति के पालने में झूल रहे थे। आखिर कब तक गौरांग महा प्रभुओं का गुणगान करते। जिस आशा और उद्‌देश्य से वे उनकी भक्ति एवं प्रशस्ति गाते रहे, समयान्तराल में उनकी वह आशा बालू में खड़े प्रासाद की भाँति ध्वस्त हो गयी। अंग्रेज जिनकी कृपा के प्रभाव से भारत का दुर्दिन समाप्त हो गया था अब वह शोषक के रूप में दिखाई देने लगे।

---

1. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – पृ0 – 763–64
2. डा0 केसरी नारायण शुक्ल – आधुनिक काव्य धारा – पृ0 – 29
3. डा0 केसरी नारायण शुक्ल – आधुनिक काव्य धारा – पृ0 – 51

''प्रेस एक्ट'' जैसे कानून बनाये गये जिससे देशवासियों की अभिव्यक्ति पर प्रतिबंध लग गया। जहाँ जीवन की चहक थी उन्हीं स्थलों पर अब श्मशान की सी खामोशी व्याप्त हो गई। इस प्रकार की दुर्दशा उन लोगों के लिए असहनीय हो गई जो बड़े ही गर्व से राजभक्ति का गीत गया करते थे। अब उन्हें ईश्वर के अतिरिक्त कोई भी अवलम्ब परिलक्षित नहीं होता था, जो इस कठिन विपद् घड़ी में उनका हाथ थाम उन्हें सान्त्वना दे सके। एक मात्र ईश्वर ही अवलम्ब दिखाई दिया, जहाँ कवियों की करूण पुकार सुनाई देने लगी।

कहाँ करूणानिधि केशव सोये ?
जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोये।[1]

अंग्रेजों से सारे भावात्मक सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो गये उन्हें पराया समझा जाने लगा। उनकी वस्तु भी पराई हो गई और जनता को उनकी वस्तुओं को त्याग देने की सलाह दी गई –

हे देश बिदेशन वस्तु छोड़ो,
सम्बन्ध सर्व उनसे तुम शीघ्र तोड़ो।
मोड़ो तुरन्त उनसे मुंह आज से ही।
कल्याण जान अपना इस बात में ही।[2]

क्योंकि अंग्रेजों ने भारतीय घरेलु उद्योग-धन्धों को नष्ट कर दिया। प्रतिदिन करों में वृद्धि होती रही ओर देशी रियासतो का शोषण किया गया। भारत उनका एक बाजार बन गया था। भारतेन्दु जी भारत की इस दुरावस्था से बेहद चिंतित दिखाई देते हैं –

अंग्रेज राज सुखसाज सजे सब भारी।
पै धन बिदेश चली जात यहै अति ख्वारी।[3]

अंग्रेजों के इस शोषण की नीति से देश दुखी था। कवियों की वाणी देशवासियों को जागृति के सन्देश सुना रही थीं। वे देश की इस कु-दशा का जिम्मेदार अंग्रेजों को बता रहे थे। वास्तविकता भी यही थी। हरिश्चन्द्र, प्रेमघन अम्बिका दत्त व्यास, राधा चरण गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र आदि ने भारतीय दुर्दशा के अनेकों चित्र खींचे हैं। बाल मुकुन्द गुप्त भी देश के

---

1. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – पृ0 – 633
2. आनन्द कादम्बिनी, माघ-फाल्गुन – सं0 1963 वि0 – पृ0 – 209
3. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रंथावली – दूसरा खण्ड – पृ0 – 406

इस पराभव से अत्यधिक व्यग्र थ, लेकिन उनका प्रयास बहुत ही सराहनीय है वह भारतवासियों को इस गहन-कारा से बाहर निकलने को प्रेरित करते है। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारतीयों में विलासिता एवं ऐश्वर्य प्रियता की भावना उद्भूत हो गयी थी। वह उन सब भावनाओं का तिलांजलि देकर पूर्ण रूपेण भारतीय बनने के लिए आग्रह करते हैं। जिससे पतन के गर्त में गिरे देश का उद्धार सम्भव हो सके।

आओ एक प्रतिज्ञा करें,
एक साथ सब जीयें मरें।
चाहे बग होय सौ भाग।
पर न छूटे अपना अनुराग।[1]

इस युग के कवियों की देश भक्ति कहीं तो स्वतत्र रूप में व्यक्त हुई और कहीं राजभक्ति के साथ ही देश भक्ति की व्यंजना देखने को मिलती है। इसलिए यह कहना गलत न होगा कि उनकी राजभक्ति और देश भक्ति साथ-साथ भी चलती रही।

अतिहिं अकिंचन भारत-बसा।
अतिहिं छीन हिन्दुन की आशा।
भूलि बृटिश बल धारि सनेहू।
भारत-सुतन गोद करि लेहू।
कहि कृष्ण इन्हें मति तुच्छ करौ।
नहिं कीटहु तुच्छ विचार धरौ।
इनहूँ कहै जीवन देह दया।
इनहूँ कहं ज्ञान सनेह मया।
इनहूँ कहं लाज तृषा ममता।
इनहूँ कहं क्रोध सुधा समता।
इनहूँ कहं सोनित हाड़ तुचा।
इनहूँ कहं आखिर ईस रचा।[2]

---

1. बाल मुकुन्द गुप्त - निबन्धावली - स्वदेशी आन्दोलन - पृ0 - 711
2. ब्रजरत्नदास (सं0) भारतेन्दु ग्रेंथावली - दूसरा खण्ड - पृ0 - 709

इस प्रकार की भक्ति भावना का समुचित विकास भारतेन्दु युग के बाद दिखाई देता है जहाँ समता विश्व बन्धुत्व का रूप ग्रहण करती हुई समस्त मानवता को एक रूप देखती है। जातीयता और देशहित की भावनाओं को भारतेन्दु "जागो अब तो खल बल दलन रक्षहु अपनो आर्य मग" द्वारा तथा प्रताप नारायण मिश्र ने "विधवा विलपै नित धेनु कटै कोउ लागत हाय गोहार नहीं।" कह कर भली भाँति व्यक्त किया है। इसी प्रकार पं0 प्रताप नारायण मिश्र ने "हम आरत भारतवासिन पै अब दीन दयाल दया करिये" द्वारा और राधा कृष्ण दास ने "विनय" शीर्षक कविता में "अपने या प्यारे भारत के पुनि दुख दारिद हरिए" कह कर ईश्वर भक्ति और देश भक्ति का सुन्दर समन्वय किया है।[1]

समाहार –

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि भारतेन्दु युगीन काव्य में भक्ति चेतना का स्वरूप प्रमुखतः परम्परागत ही रहा। पूर्व काल की ही भांति श्रवण कीर्त्तन विधि से भक्त अपना आत्मनिवेदन प्रस्तुत करता रहा। बहु देवोपासना भी परम्परागत रूप में ही दिखाई देती है। कविता परम्परागत तत्वों से ही बंधी रही। यद्यपि जीवन और समाज में नई चेतना उठी, फिर भी कविता के स्तर पर नवोन्मेष गौण रहा। नवधा भक्ति की सात्विकता ही समस्त युग–चेतना पर प्रभावी दिखाई देती है। इस काल की प्रवृत्तियों के अध्ययन से स्पष्ट है कि ये काल किसी न किसी रूप में वीर गाथा काल, भक्ति काल, रीतिकाल और आधुनिक काल – चारों कालों का साहित्यिक प्रतिनिधित्व करता है।

नवीन साहित्यिक परम्पराओं के रूप में इस युग में राष्ट्रीय चेतना का बीजारोपण देखने को मिलता है। राष्ट्रीय चेतना का अभ्युदय साथ ही साथ राजभक्ति और देश भक्ति दोनों ही युगीन प्रभाव से प्रादुर्भूत हुई। राजभक्ति के अन्तर्गत भारतेन्दु युगीन कवियों ने अंग्रेजी शासन और महारानी विक्टोरिया की प्रशस्ति गाई, तो देश भक्त के रूप में उसी राज के प्रति कटु और उग्र वाणी का प्रयोग भी किया। भारतेन्दु की प्राम्भिक कविताओं में स्पष्ट रूप से राज भक्ति के दर्शन होते हैं। परन्तु बुद्धि की परिपक्वता के साथ ही साथ उनकी वाणी पर देश भक्ति का गाढ़ा रंग चढ़ता गया। भारतेन्दु युगीन काव्य में जिन जिन बिन्दुओं

---

1. डा0 नगेन्द्र – हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 – 464

पर विशेष दृष्टि डाली गई उनमें देशप्रेम, सामाजिक दुरावस्था, कुप्रथाओं का खण्डन, विधवाओं की दयनीय अवस्था पर विचार बाल विवाह विरोध, स्त्री शिक्षा और स्वतंत्रता आदि प्रमुख विषय थे।

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहना संगत होगा कि भारतेन्दु युग में परम्पराओं के पोषण के साथ ही साथ तद्युगीन सामाजिक समस्याओं पर भी विचार किया गया यही आधुनिक काल का जागरण काल है जहाँ सभी प्रकार की सुषुप्तियां अपना दम तोड़ती हैं, और नवजागरण की आवाज में आवाज मिला कर आगे बढ़ती हुई द्विवेदी युग में प्रवेश करती है। भारतेन्दु युगीन भक्ति चेतना इसी मनोभूमि का प्रतिफलन है।

तृतीय अध्याय

द्विवेदी युगीन काव्य और भक्ति चेतना

1. द्विवेदी–युग की भूमिका
2. भक्ति के सन्दर्भ मे द्विवेदी–युगीन कवियों का दृष्टिकोण
3. भक्ति का परम्परागत स्वरूप
4. सामाजिक आन्दोलनों के प्रभावस्वरूप दृष्टि में परिवर्तन
5. समाहार

द्विवेदी युग में भक्ति चेतना का स्वरूप ।

द्विवेदी युग की भूमिका –

आधुनिक हिन्दी साहित्य का द्वितीय चरण द्विवेदी–युग के नाम से अभिहित किया जाता है। भारतेन्दु युग की परिसमाप्ति के साथ ही इस युग का शुभारम्भ होता है। इस युग की समग्र साहित्य–चेतना के सुत्रधार पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। वह एक लम्बे समय तक "सरस्वती" मासिक पत्रिका का संपादन करते रहे, तथा युग की भाषा और उसके साहित्य के रूपों को सुदृढ़ हाथों से निर्धारित करते रहे। द्विवेदी जी की युगान्तरकारी भूमिका यह है कि उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से अनेक समस्याओं की विवेचन गहराई से किया क्योंकि युग परिवर्तन के साथ ही साथ तत्युगीन भावनाएँ भी परिवर्तित होनी प्रारम्भ हो गयी। भारतेन्दु–युगीन शासन सुधार की मांग करने वाली राष्ट्रीय चेतना अब स्वशासन की अधिकार–घोषण करने लगी। ब्रिटिश प्रशासक की दमन नीतिं से भारतीय जनता अतीव व्यथित थी फलस्वरूप वे विनत मार्ग का परित्याग कर विदेशी सरकार के विरूद्ध क्रान्ति करने को उद्धत हो गयी। तत्कालीन प्रशासक कर्जन ने भारतीयों की राष्ट्रीय एकता को तहस–नहस करने का एक प्रयास किया, और उसने बंगाल का विभाजन करने का निश्चय किया, क्योंकि उस समय समस्त क्रंान्ति का मुख्य केन्द्र बंगाल ही था। कर्जन की इस नीति से बंगाली और भी उग्र हो उठे और ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य भारतीयों में देश–प्रेम की भावना को जाग्रत करना था। इसी स्वदेशी प्रेम का परिणाम था, विदेशी वस्तुओं का पूर्णरूपेण बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार। इसी राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ ही द्विवेदी युग प्रारम्भ होता है।

भारतेन्दु युग आधुनिक राष्ट्रीय चेतना का अंकुरण काल है, यही राष्ट्रीय चेतना द्विवेदी युग में पल्लवित और पुष्पित होती है। इस युग के कवियों ने जहाँ जन-रूचि को पथभ्रष्ट होते देखा वहाँ उसे सावधान किया, जहाँ उन्होंने पाश्चात्य रंग ढ़ंग का आधिक्य देखा, वहाँ सचेत किया और कभी–कभी उपहास भी किया। इस प्रकार पश्चिम की आंधी को इस युग के कवियों ने बहुत कुछ कम किया।[1] बंग–भंग तथा स्वदेशी आन्दोलन जिस उग्र लहर को लेकर आगे बढ़ा, उसके प्रभाव से भारतीय नवयुवकों में जागृति आइ और उन्होंने मातृभूमि की रक्षा और उसकी मुक्ति के लिए हिंसात्मक कार्यो का आश्रय लिया।

---

1. डॉ0 केसरी नारायण शुक्ल – आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत – पृ0–119

खुदीराम बोस ऐसे ही नवयुवकों में से एक थे जिनहोंने 1908 मुज्जफरपुर में जिला जज पर बम चलाया। लाला हर दयाल ने अमेरिका में 'गदर पार्टी' की स्थापना की। इन गृह राजनीतिक परिस्थितयों के बावजूद कुछ विदेशी परिस्थितियों ने भी भारत की राष्ट्रीयता को तीव्र किया। जेसे रूस पर जापान की विजय। इस प्रेरणा से सम्पूर्ण देश नवीन जागृति से कर्ममय हो उठा। दूसरी घटना 1917 में रूस की जारशाही को समाप्ति कर वहाँ किसानो और मजदूरों की गणराज्य स्थापना है। इससे भी राष्ट्रीय चेतना को शक्ति मिली।[1]

सामाजिक परिस्थितियां –

राजनैतिक परिवर्तन के आलोक में सामाजिक परिर्वतन एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। भारतेन्दु युग की भांति द्विवेदी युग में समाज की आलोचना-प्रत्यालोचना ही परिलक्षित नहीं होती, न धार्मिक कट्टरता ही अपने पूर्व रूप में दिखाई देती है। ये युग जीवन के प्रति एक स्वस्थ एवं नवीन तथा व्यापक दृष्टिकोण लेकर प्रस्तुत हुआ। जिसमें पुरातन रूढ़ियों को बाहर कर देने का विधान था। जाति भेद एवं सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया जा रहा था। विशेषकर स्त्रियों की दशा में सुधार, अछूतों के प्रति उदारता और कृषक वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गई। इसी सुधार भावना के परिणाम स्वरूप 1906 ई0 में "डिप्रेस्ड क्लासेज मिशन सोसाइटी" की स्थापना की गई। जिसने समाज के दलित वर्ग के सुधार के लिए अनेक कार्य किये। आलोच्य काल का कृषक बड़े ही दिक्कत से जीवन यापन कर रहा था। पूरा दिन कठोर श्रम के पश्चात भी उसे भर पेट भोजन मयस्सर नहीं होता था। भूख की तड़प तो थी ही, उपर से उन पर जमींदार, तहसीलदार और महाजन का अत्याचार। कृषकों की इस दयनीय स्थिति से द्विवेदी युग का कवि चुप न रह सका और कृषक वर्ग की इस दशा से देशवासियों को अवगत कराना अपना कर्तव्य समझा। गुप्त जी की "भारत–भारती" में कृषकों की ऐसी ही हीन अवस्था का चित्रण अत्यन्त हृदय विदारक रूप से किया गया है।[2]

इसी प्रकार की एक अन्य संस्था की भी स्थापना हुई, जिसका नाम "इण्यिन सोशल

---

1. डॉ0 जितराम पाठक – आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय चेतना का विकास–पृ0–112
2. मैथिली शरण गुप्त – भारत भारती – वर्तमान खण्ड – पृ0 – 101

कांग्रेस'' था। ये संस्था भी जन कल्याण की भावना से भरी थी, इस संस्था ने दलित वर्ग के लिए प्रयास तो किया ही साथ ही साथ स्त्रियों की समस्या को भी खोद निकाला। बाल–विवाह, विधवा समस्या जैसी सामाजिक दुर्व्यवस्था को दूर करने का प्रयास किया। द्विवेदी युगीन कवि की दृष्टि समाज के सभी पक्षों पर पड़ी। तत्कालीन समय में विधवाओं को समाज का कलंक समझा जाता था। वे किसी भी शुभकार्य में उपस्थित नहीं हो सकती थी। यद्यपि उसका जीवन था, पर जीवन कलंकित और अपमानित। नारी की इसी दयनीयता का चित्रण सियाराम शरण गुप्त ने अपनी ''आर्द्रा'' काव्यकृति के अनेक कविताओं में किया है। ''खादी की चादर'' कविता में हिन्दू विधवा के दुःखो पर अश्रुपात है, तो ''नृशंस'' नामक कविता दहेज प्रथा के कारण व्यथित परिवार की कहानी। ''अग्नि परीक्षा'' में सुभद्रा के सतीत्व का वर्णन प्रस्तुत किया है। एक हिन्दू विधवा समाज में किस उपेक्षा के साथ जी रही है सियाराम शरण जी ने इस प्रकार चित्रांकित किया।

> घर के लोग कोसते जब तक
> उसे राक्षसी कह कह कर,
> उसकी वह छोटी बच्ची भी
> खलती सबको रह रह कर।[1]

कृषक, और नारी की समस्या तो थी ही इस युग में अछूतों की भी एक बड़ी समस्या थी समाज का एक महत्वपूर्ण वर्ग अस्पृश्य समझा जाता था और उसे सामाजिक सुविधाओं से वंचित रखा गया था। इस युग के कवियों ने अछूतोद्धार पर व्यंग्यात्मक कविताऐं लिखीं इन्होंने जन्म और वंशगत कुलीनता की अपेक्षा कर्मगत उच्चता को श्रेयस्कर बताया। युगनेता गांधी ने तो इस अस्पृश्यता को सामाजिक कोढ़ के रूप में देखा और इस अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिए अछूतों को ''हरि'' के ''जन'' कह कर इनके प्रति भ्रातृ–भाव जागृत करने का प्रयास किया। अछूतो के उद्धार के विषय को लेकर तत्कालीन सभी कवियों ने अपनी लेखनी चलाई। ''हरिऔध'' जी का कवि हृदय छुआ–छूत की इस संकीर्ण भावना के कारण विश्रृंखलित हुई राष्ट्रीय चेतना को देखकर करूणार्द्र हो उठता है।

---

1. सियाराम शरण गुप्त – आर्द्रा – खादी की चादर – पृ0 – 104

पांव छू छू उनके तरे हैं छितितल पापी,

और हम छाँह से अछूत की हैं हटते।[1]

राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त का मन्तव्य है कि जब हम सभी (चारों वर्ण) अपनी उत्पत्ति उस विराट पुरूष से मानते हैं तो कैसा ऊंच, नीच।

छोड़ो ऊंच–नीच का दंभ सम हैं हम सब का आरम्भ

वह विराट है एक उदार जिससे जन्में हैं हम चार।[2]

द्विवेदी युग अपने इसी प्रयास से प्रेम के क्षेत्र में उत्तरोत्तर व्यापकता प्राप्त करने लगा और आगे चलकर यही भावना विश्वप्रेम की भावना में परिणत हो गई।

धार्मिक परिस्थितियां –

द्विवेदी युग में धार्मिक कट्टरता भी टूटती हुई दिखाई देती है। अनेक धार्मिक बाह्याडम्बरों के प्रति भारतीय उदासीन होते जा रहे थे। फलस्वरूप परिवर्तन की आकांक्षा जन्म लेने लगी। ये परिवर्तन कुछ तो भारतीयों की इच्छा थी और कुछ पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता का प्रभाव। इस युग में धार्मिक भावना का मुख्य आधार मानवतावादी दृष्टिकोण है। अब राम और कृष्ण की उपासना ईश्वर रूप में न होकर, उनमें मानवीय गुणों की परिस्थापना कर मनुष्यों के निकट लाने का अदम्य साहस किया गया। पुरातन विचारों का परित्याग कर नवीन भावनाओं को स्थान दिया जाने लगा। द्विवेदी–युगीन महाकाव्यों "प्रियप्रवास" और "साकेत" में ये परिवर्तन अपनी युग चेतना के अनुरूप देखने को मिलता है।

वास्तविक धर्म अब काल्पनिक या पारलौकिक न रह कर दैनिक जीवन के सहज प्रवाह में घुल मिल गया। हरिओध ने "प्रियप्रवास" की रचना करते समय इस तथ्य पर विशेष ध्यान दिया, कि उनका कृष्ण प्रत्येक मानवीय गुणों के अनुरूप हो। स्वयं हरिऔध की स्वयोक्ति है कि "मैंने श्री कृष्णचन्द्र को इस ग्रंथ में एक महापुरूष करके अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं।"[3] कृष्ण के चरित्र के अनुरूप "प्रियप्रवास" की राधा भी अब कोई

---

1. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध – कल्पलता – पृ0 – 8
2. मैथिली शरण गुप्त – भारत भारती – पृ0 – 91
3. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध – प्रियप्रवास – भूमिका – पृ0 – 30

मायावी शक्ति नहीं दिखाई देती। वह एक मानवीय नारी हैं जिनकी भावनाओं का स्पष्टीकरण हरिऔध ने अत्यन्त सात्विकता एवं यथार्थता से किया है। यहाँ कृष्ण एक समाजिक नेता के रूप में दिखाई देते हैं, और राधा समाज सेविका। हरिऔध के इस महाकाव्य में युगबोध स्पष्ट रूप से मुखरित है। तत्कालीन विश्रृंखलित समाज में, ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि सुधारवादी संस्थाऐं जन साधारण के हृदय से मनोमालिन्य, ऊंच–नीच, छुआ–छूत आदि भावनाओं को दूर करके सहृदयता, एकता, समानता, मानव प्रेम, विश्वबन्धुत्व, सेवा, परोपकार आदि का प्रचार कर रही थीं। यह कहना गलत न होगा, कि हरिऔध जी भी इन सुधारकों से प्रभावित हुए। फलस्वरूप उक्त विचारों का निरूपण करने के लिए श्री कृष्ण और राधा का युगानुरूप जीवन चित्र अंकित किया, जिसमें वे प्राणिमात्र की हित-संवर्द्धना से ओत–प्रोत होकर लोक–सेवा, परोपकार, परदुखकातरता, निर्बल की रक्षा, दुराचारियों का सामना करने के लिए जन–जागरण आदि के कार्यों में लीन दिखाई देते हैं।[1]

रोगी दुखी विपद आपद में पड़ों की,
सेवा सदैव करते निज हस्त से थे।
ऐसा निकेत व्रज में न मुझे दिखाया
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें।[2]

इसी प्रकार मैथिली शरण गुप्त भी बुद्धिवादी युग के प्रभाव से नहीं बच सके। यद्यपि उनकी राम में व्यक्तिगत आस्था थी, फिर भी राम का–भागवत् चेतना का वैसा ही आख्यान किया, जैसी युग की जरूरत थी। जहाँ तुलसी ने राम के रूप में ईश्वर की मानवता का चित्रण किया, वहाँ मैथिली शरण गुप्त ने राम के बहाने मानव की ईश्वरता का चित्रण किया है। युग का यह चमत्कार औपनिषदिक मानसिकता का नए चिंन्तन की आभा से मण्डित होने में है। नया चिंतन चरम सत्ता को निर्विशेष नहीं–अद्वैत की भूमि पर "सविशेष" मानता है। नवजागरण की सांस्कृतिक चेतना का यह भक्तिवादी अद्वैती दृष्टि मेरूदण्ड है। इसी कारण अब जगत "मिथ्या" नहीं "सत्य" सिद्ध होता है। "निवृत्ति" की जगह "प्रवृत्ति" की प्रतिष्ठा हुई, वैराग्य की जगह राग आ बैठा और समाज सेवा से हो कर आत्ममुक्ति का

---

1. डॉ0 प्रभात दुबे – आधुनिक हिन्दी कृष्ण काव्य की सामाजिक पृष्ठ भूमि – पृ0 – 96
2. हरिऔध – प्रियप्रवास – बारहवाँ सर्ग – 87

मार्ग स्थापित हुआ।[1]

नवजागरण की सांस्कृतिक चेतना और उसकी दार्शनिक व्याख्या की नई पल्लवित अभा–मैथिली शरण गुप्त के ''साकेत'' में दिखाई देती है। साकेत में राम कहते हैं कि –

मैं आर्यो का आदर्श बताने आया।
जन सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया।
सुख शांन्ति हेतु मैं क्रांन्ति मचाने आया
विश्वासी का विश्वास बचाने आया
मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं
जो विवश, विकल बलहीन, दीन, शापित हैं
भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।[2]

अतः स्पष्ट है कि द्विवेदी युग में उपासना की पुरातन प्रणाली परिवर्तित होती जा रही थी। कवियों ने भी इसी के अनुरूप अपनी भावनाओं को भी स्वतः ही पुरातनवादिता की केंचुली से अलग कर दिया। अब मनुष्य भी केवल भाग्य के सहारे हाथ पर हाथ रख कर जीवन व्यतीत करना मूर्खता का अनुभव कर रहा था। अर्थात कर्म को प्रधानता दी जाने लगी। इतना ही नहीं ईश्वर की वास्तविक प्रतिछाया मनुष्य में देखी जाने लगी। मानव सेवा ही परम कर्तव्य समझा जाने लगा। कोरी व व्यक्तिगत साधना अब निर्मूल घोषित कर दी गई। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों में ही वास्वविक आध्यात्मिकता का दर्शन किया जाने लगा। ''पथिक'', ''यशोधरा'', ''प्रियप्रवास'' आदि काव्यों द्वारा नवीन आध्यात्मिकता की काव्यात्मक व्याख्या हुई। राष्ट्र की सेवा में जीवन अर्पित कर देना ही व्यक्तिगत आत्मा का परमात्मा में लय होना समझा गया एकान्त व्यक्तिगत साधना से विश्वास उठ गया और लोक जीवन के सुर में अपने व्यक्तिगत जीवन के सुर को मिला देना ही आध्यात्मिक जीवन का सार हो गया।[3]

---

1. डॉ0 राममूर्ति त्रिपाठी (स्मारिका राजकीय महाविद्यालय झालावाड़ राजस्थान–नव0 1987–पृ0–31
2. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – अष्टम सर्ग – पृ0 – 234
3. डॉ0 रामेश्वर लाल खण्डेलवाल – आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और श्रृंगार –पृ0 – 240

ऐसे ही भाव डा0 विरही ने भी व्यक्त किए हैं – "द्विवेदी–युगीन कवियों की ईश्वरोपासना नितान्त नवीन भाव–भूमि पर प्रतिष्ठित हो रही थी। लोक–सेवा, लोक कल्याण की भावना और दीन–दुखियों के प्रति सहानुभूति उनकी ईश्वरोपासना के पयाय थे।[1]

स्पष्ट है कि द्विवेदी युग के धमिक चेतना में पयोप्त व्यापकता और विशदता आई। मानवतावाद की स्थापना से कविता के क्षेत्र में पीड़ित, शोषित, दुबेल और दलित को स्थान मिला। जीर्ण–शीर्ण पुरातन परम्परा को सदा–सदा के लिए निकाल दिया गया जो इस पुरातनता को अपनाये रखना चाहते थे, उन हठ धर्मियों की कटु आलोचना भी दिखाइ देती है।

सूने स्वर्ग से लौ लगाते रहो, पुनर्जन्म के गीत गाते रहो।
डरो कर्म प्रारब्ध के योग से, करो मुक्ति की कामना भोग से।
नयी ज्योति की ओर जाना नही पुराने दिये को बुझाना नहीं।[2]

इस प्रकार द्विवेदी युग में धमिक चेतना एक नवीन दिशा की ओर मुड़ी जहाँ जन–जन का कल्याण अभिष्ट है।

सांस्कृतिक परिस्थितियां –

सांस्कृतिक क्षेत्र में भी द्विवेदी काल में नई शक्तियों का उदय हुआ। जिससे हमारी भारतीय सांस्कृतिक परम्परा को एक नई दिशा मिली। युरोपीय संस्कृति के प्रभाव से ही भारत की संस्कृति में बुद्धिवाद का समावेश हुआ। इसी बुद्धिवाद के प्रकाश से द्विवेदी–युगीन कवियों ने अंध–विश्वास रूपी अंधकार को दूर भगाया। इस काल की सांस्कृतिक धरातल पर आदर्शवाद के दर्शन होते हैं। इस काल में भारतीय सांस्कृतिक जीवन में जनवाद की भावना का भी उदय हुआ। इसके साथ ही मानवतावाद की भावना भी जग उठी। जिसमें सभी मानवों को एक समान अथवा एक मूलतत्व से ओत प्रोत देखने की दृष्टि प्राप्त होती है। मानव से मानव की समानता का भाव न केवल धमिक क्षेत्र में ही वरन् सामाजिक क्षेत्र में भी द्विवेदी युगीन कवियों ने स्थापित की। चाहे वह हिन्दू–मुसलमान या पारसी ही क्यों

---

1. डॉ0 परशुराम शुक्ल "विरही" – आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद – पृ0 – 111
2. पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी – सरस्वती – भाग 8, संख्या – 11

न हो सभी को समान दृष्टि से देखा गया।

> जो ईश करता है हमारा दूसरों का भी वही
> हैं कर्म भिन्न परन्तु सबसे तत्व समता हो रही है।[1]

इस युग पर गांधीवादी विचार धारा का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सत्याग्रह, सत्य और अहिंसा की व्यापक एवं उदात्त भावना ने युग की भावना को प्रभावित किया। हिन्दी साहित्य में भी युगीन विचार धारा विशुद्ध रूप में प्रतिबिम्बित हुई। काव्य क्षेत्र में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करना, साहित्य को गोष्ठी की परिधि से निकाल कर जन सामान्य की वस्तु बनाना, और जनजीवन की समस्याओं को काव्य का विषय बनाना, इस युग की उल्लेखनीय देन है।

द्विवेदी युग में राजभक्ति का स्वर स्वर मंद पड़ जाता है। राजभक्ति से देश भक्ति की ओर जाने वाली द्विवेदी युगीन राष्ट्रीय कविता के अनेक रूप हैं। इस काल के कवियों ने सर्वप्रथम भारत के गौरव गान को लिया। इस काल के साहित्य के अन्वेषण से यह स्पष्ट होता है कि अतीत की तुलना में वर्तमान–दुर्दशा की अनुभूति अत्यन्त तीव्र है। इस काल के साहित्य में भारत के अतीत का गौरव पूर्ण: वर्णनात्मक और इतिवृत्तात्मक चित्रण किया गया है। प्रायः पौराणिक एवं ऐतिहासिक आख्यानों को आधार बनाया गया। मैथिली शरण गुप्त का "रंग में भंग" सियाराम शरण गुप्त का "मौर्य विजय"आदि इस दिशा में उल्लेखनीय है। "भारत–भारती" में गुप्त जी ने देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता का उल्लेख करते हुए परोक्ष रूप से विदेशी शासकों की कुटिल–नीति की भर्त्सना की है।

अतः द्विवेदी युगीन कवियों में जहाँ अपने अतीत के प्रति अटूट श्रद्धा, विश्वास व अनन्त प्रेम था वहाँ वह स्वयं को नवीनता से भिन्न नहीं रख सके। वे अतीत के सुखद काल्पनिक लोक से निकल कर वर्तमान की कठोर धरती से अपना समीप्य बढ़ाने लगे। डा० उदय भानु सिंह का कथन है कि – "द्विवेदी युग की राजनैतिक या राष्ट्रीय कविता

---

1. मैथिली शरण गुप्त – भारत– भारती – पृ० – 17

अतीत से वर्तमान, कल्पना से यथार्थ, उपदेश से कर्म, पर-प्रार्थना से स्वावलम्बन, निराशा तथा अविश्वास से आशा तथा विश्वास और दीनतापूर्ण नम्रता से क्रांतिकारी उद्गार की ओर अग्रसर होती है।"[1]

द्विवेदी–युगीन कवियों का भक्ति विषयक दृष्टिकोणः–

द्विवेदी–युग में धार्मिकता के क्षेत्र में युगान्तकारी परिवर्तन हुआ। धार्मिक स्थापनायें टूटने लगीं। भारतीय अब आडम्बर के प्रति उदासीन हो गये। विधि सम्मत पूजा और अर्चना का विधान अरूचिकर हो गया। ईश्वर को कल्पना की ऊँचाई से उतार कर धरती की यथार्थता पर प्रतिष्ठित किया गया। सच्ची उपासना भगवत् भक्ति न होकर मानव सेवा में रूपान्तरित हो गयी। ये युग सुधारवादी एवं नैतिक आदर्शवादी जीवन–दृष्टि का युग था इसलिए राम कृष्ण के चारित्रिक विकास का प्रकटीकरण युगानुरूप किया गया। जिस कारण इसमें सामाजिक चेतना, राष्ट्रप्रेम ओर जनहित की भावना के दर्शन होते है। द्विवेदी–युगीन राम और कृष्ण कवियों में एक ओर महावीर प्रसाद द्विवेदी का प्रभाव पड़, तो दूसरी और उनमें स्वामी दयानन्द, राजा राम मोहन राय, महर्षि, अरविन्द आदि का प्रत्यक्ष रूप में प्रभाव देखा जा सकता है।

इस प्रकार द्विवेदी–युग का काव्य जहॉ एक ओर सांस्कृतिक सम्पर्क, संस्कार की कथा कह रहा है, वहीं इन कवियों की सहानुभूति, सच्चाई और स्वतंत्र तथा उदार व्यक्तित्व का सन्देश दे रहा है।[2] इस सम्बन्ध में डा0 भागीरथ मिश्र का कथन महत्वपूर्ण है – "द्विवेदी युग का काव्यादर्श समाजोन्मुखी है। देश, समाज और संस्कृति के सुधार चित्र प्रस्तुत करना उस युग के कवियों का लक्ष्य था। युग–कवि गुरू पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने काव्य के भीतर उदात्त भावनाओं को चित्रित करने की प्रेरणा दी जो उस युग के कवियों में विद्यमान है।"[3]

श्री मिश्र के इस कथन के आलोक में यह स्पष्ट होता है कि द्विवेदी–युगीन कवियों दृष्टिकोण समोजोन्मुखी रहा है।

---

1. डा0 उदयभानु सिहं – महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग – पृ0 301–302
2. डा0 केसरी नारायण शुक्ल – आधुनिक काव्य धारा सांस्कृतिक स्रोत – पृ0 167
3. डा0 भागरीथ मिश्र–गुप्त जी काव्यादर्श, उद्धत मैथिली शरण गुप्त अभिनन्दन गंथ–पृ0 519

द्विवेदी युग का कवि धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में आस्था रखते हुए भी युगीन प्रवृत्तियों के प्रभाव में नवीन जीवन मूल्यों, भौतिक सामाजिक राजनीतिक और आध्यात्मिकता के प्रति पूर्णतः सजग है। राम और कृष्ण अब पौराणिक या ऐतिहासिक महापुरूष मात्र ही अधिक रह गये। इस युग में दो महाकाव्यों साकेत और प्रियप्रवास की रचना हुई और दोनों में ही यही भाव परिलाक्षित होते हैं। कृष्ण काव्य परम्परा को आधुनिक युग में सर्वाधिक ओजस्विता श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध" ने प्रदान की और राम काव्य परम्परा को महाकवि मैथिली शरण गुप्त ने।

विज्ञान प्रजनित नई सम्यता में धर्मिक चेतना को जागृत अवस्था में बनाये रखना एक महत्वपूर्ण कार्य था। धर्मिक साहित्य के इतिहास में ऐतिहासिक पुरूषों को समसामयिक जागरण के अनुकूल प्रस्तुत करके गुप्त जी तथा हरिऔध जी ने एक विशिष्ट युग–धर्म का पालन किया है। रामायण की कथा "साकेत" में सतर्कता एवं सामाजिकता के साथ सजाई गई है तो"प्रियप्रवास" में श्री कृष्ण चन्द्र की मथुरा यात्रा का वर्णन है, जिसका आधार मध्यकालीन कृष्ण भक्ति काव्य है। प्रियप्रवास खड़ी बोली में लिखा गया है। हरिऔध जी ने सिर्फ नई भाषा (खड़ी बोली) का प्रयोग ही नहीं किया, बल्कि कृष्ण के पारम्परिक स्वरूप में भी युगानुरूप नवीनता का समावेश किया है। तत्कालीन भारतीय छितिज पर चल रहे सामाजिक आन्दोलनों एवं सुधारवादी संस्थाओं द्वारा जन मानस के हृदयों से मनोमालिन्य, ऊंच-नीच, छुआछूत, आदि भावनाओं को दूर करके सहृदयता, एकता, समानता, मानव प्रेम, विश्वबन्धुत्व, सेवा परोपकार आदि का प्रचार कर रही थीं। द्विवेदी युगीन कवियों पर इन संस्थाओं के सिद्धान्तों का भरपूर प्रभाव पड़ा। हरिऔध जी ने इन विचारो का निरूपण करने के लिए ही श्री कृष्ण एवं राधा का ऐसा जीवन–चित्र अंकित किया।"प्रियप्रवास" के कृष्ण एक उदात्त मानवीय चरित्र की भाँति प्राणिमात्र की हित संवर्द्धना से ओत प्रोत होकर अपने आपको लोक सेवा , परोपकार, परदुःखकातरता, निर्बलों की रक्षा तथा दुराचारियों का सामना करने के लिए जन जागरण आदि के कार्यों में लीन रखते दिखाई देते है।

रोगी दुखी विपद आपद में पड़ों की,
सेवा सदैव करते निज हस्त से थे।

ऐसा निकेत व्रज में न मुझें दिखाया,

कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवे।[1]

इसी प्रकार मैथिली शरण गुप्त के राम इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने की आकांक्षा रखते है। जहाँ किसी भी प्रकार का कोई कष्ट न हो जन–जन मे सुख–शांन्ति स्थापित हो इसके लिए साकेत के राम दुख झेलने के लिए भी तैयार हैं। वे स्वयं ही कहते है कि –

मैं आर्यो का आदर्श बताने आया,

सुख शांन्ति हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया।

× × ×

हो जाय अभय वे जिन्हें कि भय भासित है

मैं आया जिसमें बनी रहे मर्यादा।

× × ×

सुख देने आया, दुःख झेलने आया,

मैं राज्य भोगने नहीं भुगाने आया।

संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,

इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।[2]

''साकेत'' के पांचवें सर्ग में वसिष्ट मुनि द्वारा राम को उपदेश दिया गया, किवे लोक मंगल के साधक हो –

देव कार्य हो और उदित आदर्श हो,

उचित नहीं फिर मुझे कि क्षोभ स्पर्श हो।

मुनि–रक्षक–सम करो विपिन में वास तुम,

मेटो तप के विघ्न और सब त्रास तुम।[3]

---

1. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध – प्रियप्रवास – बारहवां सर्ग – छन्द – 87·
2. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – आष्टम सर्ग – पृ0 – 34,35
3. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – पंचम सर्ग – पृ0 – 125

भारतीय संस्कृति में केवल अपनी जाति एवं राष्ट्र सम्बन्धी प्रेम की ही प्रधानता नही है, अपितु वहाँ विश्व के प्राणी मात्र की मंगल-कामना करते हुए उनके हित में लीन रहने तथा उनका कल्याण करने के विषय में अत्यधिक बल दिया गया है।इसलिए ''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्व सन्तु निरामया'' के आदर्श पर हरिऔध जी कृष्ण को लोक-रक्षक तथा विश्व-कल्याण कारी भावनाओं से पूर्ण और राधा को लोक-सेविका के रूप में प्रस्तुत किया है। श्री कृष्ण के मुख से उच्चरित हुए उद्‌गार उनकी सर्वभूत हितकारिणी भावनाओं को कितनी स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है –

प्रवाह होते तक शेष–श्वास के।
स–रक्त होते तक एक भी शिरा।
स–शक्त होते तक एक लोम के।
किया करूँगा हित सर्वभूत का।[1]

इसी प्रकार "प्रियप्रवास" की नायिका राधा के चरित्र में भी लोकहित की भावना स्पष्ट है–

रोगी वृद्ध जनोपकारनिरता सच्छास्त्र चिन्तापरा।[2]

राधा अपने लोकहित की भावना को पूर्ण करने या संतुष्टि के लिए अपने प्राणों से प्रिय कृष्ण के सामीप्य का त्याग भी सहने तक को तैयार हैं –

प्यारे आवें सु–बयन कहें प्यार से गोद लेवें।
ठंडे होवें नयन दुख हों दूर मैं मोद पाऊँ
ए भी हैं भाव मम उर के और ए भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग–हित करें गेह चाहे न आवें।[3]

लोक–हित की ऐसी उदात्त भावना जिसमें अपना स्वार्थ परार्थ की भावना में समाहित हो जाता है, द्विवेदी युग की मुख्य चिंतन का अंग है। कुछ इसी प्रकार साकेत के राम भी समष्टि के लिए व्याष्टि को बलिदान देने की बात कहते हैं।

---

1. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध – एकादश सर्ग – छंन्द –27 – पृ0 – 140
2. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध – चतुर्थ सर्ग – छंन्द – 8 – पृ0 – 37
3. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध – षोड़श सर्ग – छंन्द – 98 – पृ0 – 253

निज हेतु बरसता नहीं व्योम से पानी,
हम हों समाष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी।[1]

सीता भी राम के इस कथन का समर्थन अतीव प्रसन्नता से करती हैं और वे कहती हैं कि–

तुम इसी भाव से भरे यहाँ आये हो ?
× × × ×
तो बरसो सरसै रहैं न भूमि जली–सी।
मैं पाप–पुंज पर टूट पड़ूँ–बिजली–सी।[2]

लोकहित तथा विश्व–बंधुत्व की भावनाः–

द्विवेदी–युगीन कवियों ने लोकहित को मानव जीवन के लिए आवश्यक माना। क्योंकि लोकहित का भाव ही एक ऐसा भाव है, जिसमें मानव वैयक्तिक स्वार्थ से ऊपर उठकर परमार्थ की श्रेणी प्राप्त कर सकता है प्रियप्रवास के कृष्ण का चरित्र एक ऐसे ही जीवन को ग्रहण करने का उद्घोष है।

मेरे जीवन का प्रवाह पहले अत्यन्त उन्मुक्त था।
पाता हूँ अब मै नितान्त उसको आबद्ध कर्तव्य में।[3]

साकेत के एकादर्श सर्ग में ऐसी ही विश्व–बुधत्व की भावना दिखाई देती है। विश्व–बन्धुत्व का भाव ऐसा भाव है जिसमें सभी प्राणियों की पीड़ा को अपनी पीड़ा मानकर उसे दूर करने का प्रयास किया जाय। साकेत में रामभक्त विभीषण के मुख से गुप्त जी ने ऐसे ही भाव की अभिव्यक्ति करवाई है।

किसी एक सीमा में बंधकर रह सकते हैं क्या ये प्राण ?
एक देश क्या अखिल विश्व का तात चाहता हूँ मैं त्राण।[4]

---

1. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – अष्टम सर्ग – पृ0 – 233
2. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – अष्टम सर्ग – पृ0 – 233
3. अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध – प्रियप्रवास – नवम सर्ग – छन्द – 3
4. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – एकादश सर्ग – पृ0 – 437

यही ध्वनि "द्वापर" में राधा के मुख से सुनाई देती है। राधा स्वयं यही कहती है–

उसे जगत की पीड़ा

छूट गई जिसमें पड़कर हा । ब्रज की सी वह क्रीड़ा।[1]

इसी भावना से आकंठ डूबे सिद्धार्थ भी अपने राजसी वैभव–विलास का परित्याग करते हैं और उनके मुख से भी कवि यही कह रहा है –

"मैं त्रिविध दु.ख निवृत्ति–हेतु बांधू अपना पुरूषार्थ, सेतु।

सर्वत्र उड़े कल्याण–केतु तब है मेरा सिद्धार्थ नाम ।[2]

इसी कर्तव्य परायणता के प्रति हरिऔध के कृष्ण भी विकट से विकट संकट दूर करने में समर्थ होते हैं। वह भौतिक सुख–वैभव को छोड़कर सिद्धार्थ की भांति जगत हित एवं लोक सेवा के कार्यों में लीन रहते हैं। गोपियों के समक्ष उद्धव ने श्रीकृष्ण के इसी स्वरूप की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है –

वेजी से है जगत जन के सर्वथा श्रेयकामी।

प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा।

स्वर्थों को और विपुल सुख को तुच्छ देते बना है।

जो आ जाता जगत हित है सामने लोचनां के ।[3]

हरिऔध जी के राम मानवीय गुणों से भरे हुए दिखाई देते हैं। मानव चरित्र की दुर्बलता भी कहीं–कहीं दिखाई दे जाती है। शम्बूक वध के लिए पंचवटी गये राम के मन में परणीता सीता की स्मृति आ ही जाती है। यह एक साधारण मानव–सुलभ दुर्बलता ही है, लेकिन जैसे ही लोकहित ध्यान आता है उनकी दुर्बलता स्वयमेव ही नष्ट हो जाती है।

---

1. मैथिली शरण गुप्त – द्वापर – पृ0 202
2. मैथिली शरण गुप्त – यशोधरा – पृ0 19
3. अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध – प्रिय प्रवास – नवमसर्ग

किन्तु अधिक होना अधीर वांछित नहीं।
जब कि लोकहित है लोचन के सामने ।[1]

गुप्त जी भी ''साकेत'' के प्रायः सभी प्रमुख पात्रों के जीवन चरित्र द्वारा समष्टि के लिए व्यष्टि के बलिदान की भावना का बड़ा ही अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया है। राम–सीता से समष्टि के लिए अर्थात् लोकहित के लिए व्यष्टिका अर्थात व्यक्तिगत स्वार्थ त्यागने की शिक्षा देते है।

करते हैं जब उपकार किसी का हम कुछ
होता है तब सन्तोष हमें क्या कम कुछ?
× × × ×
निज हेतु बरसता नहीं व्योम से पानी,
हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि–बलिदानी।[2]

''वैदेही बनवास'' में राम के विचारों में लोकहित की भावना का जो रूप है वह अनुकरणीय है। क्योंकि इसमें प्रकृति की निःसर्ग सुन्दर जीवन की गंध में मिश्रित है। सीता को सांत्वना देते हुए राम कहते हैं –

सबको सुख हो कभी नहीं कोई दुख पाये।
सबका होवे भला किसी पर बला न आये।[3]

लोकहित की इस विचारधारा को रखते हुए राम अपने समस्त स्वार्थों को तिलांजली दे देते हैं। स्वयं कष्ट सहकर भी भवहित साधन का कार्य करना आदर्श का प्रमाण है। त्याग, धैर्य, सहिष्णुता व धर्यप्राणता के द्वारा राम अपने मर्यादा पुरूषोत्तम स्वरूप में ही दिखाई देते हैं। वसिष्ठ के शब्दों में उनका लोकोत्तर रूप और अधिक स्पष्ट होता है।

---

1. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध – वैदेही बनवास – 17/35
2. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – अष्टम सर्ग – पृ0 – 233
3. अयोध्या सिंह उपाश्याय हरिऔध – वैदेही बनवास – 2/78

त्याग आपका है उदात्त घृति धन्य है।
लोकोत्तर है आपकी सहनशीलता।
है अपूर्व आदर्श लोक हित का जनक
है महानभवदीय नीति–मर्मज्ञता।[1]

नवधा भक्ति –

द्विवेदी युगीन साहित्य में समाज हित को सर्वोपरिमान्यता प्रदान की गई। श्री मद्‌भागवत् में वर्णित –

श्रवणं कीर्तन विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेद नम्।[2]

नामक नवधा भक्ति को हरिऔध जी मान्यता तो देते हैं, लेकिन आधुनिक भौतिक युग के परिवेश में समाज–हित को ध्यान में रखते हुए उसके सन्दर्भ में नवीन परिभाषा प्रस्तुत करते हैं –

श्रवण –

जी से सारा कथन सुनना आर्त्त–उत्पीड़ितों का।
रोगी प्राणी व्यथित जनका लोक–उन्नायकों का।
सच्छास्त्रों का श्रवण सुनना वाक्य सत्संगियों का।
मानी जाती श्रवण–अभिधा–भक्ति है सज्जनों में।[3–क]

कीर्त्तन –

सोये जागे, तम–पतित की दृष्टि में ज्योति आवे।
भूले आवें सु–पथ पर औ ज्ञान–उन्मेष होवे।

---

1. अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध – वैदेही वनवास – 4/49
2. श्रीमद्‌भागवत – 7/5/23
3. क – अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध–प्रिय प्रवास–षोडशसर्ग–पृ0 256,257 पद – 18

ऐसे गाना कथन करना दिव्य-नारे गुणों का।
है प्यारी भक्ति प्रभुवर की कीर्त्तनोपाधि वाली।[1-क]

वन्दन :-

विद्वानों के स्व-गुरू-जन के देश के प्रेमिकों के।
ज्ञानी दानी सु-चरित गुणी सर्व-तेजस्वियों के।
आत्मोत्सर्गी विबुध जन के देव साद्विग्रहों के।
आगे होना नमित प्रभु की भक्ति है वन्दनाख्या।[1-ख]

दास्यः-

जो बातें है भव-हितकारी सर्व-भूतोपकारी।
जो चेष्टाये मलिन गिरती जातियां हैं उठाती।
हो सेवा में निरत उनके अर्थ उत्सर्ग होना।
विश्वात्मा-भक्ति भव-सुखदा दासता-सज्ञका है।[2-क]

स्मरणः-

कंगालों को विवश विधवा औ अनाथाश्रितों की।
उद्विग्नों की सुरति करना और उन्हें त्राण देना।
सत्काय्यों का पर -हृदय की पीर का ध्यान आना।
मानी जाती स्मरण-अभिधा भक्ति है भावुको में।[2-ख]

आत्मनिवेदनः-

विपद-सिन्धु पड़े नर-द्वन्द के ।
दुख-निवारण औ हित के लिए।

1-क, ख-अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध-प्रियप्रवास-षोड्श सर्ग - पृ0 256, 257 पद- 19,20
2-क, ख-अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध-प्रियप्रवास-षोड्श सर्ग - पृ0 257-58 पद-21,22

अतः द्विवेदी–युग में उपासना की पुरानी परिपाटी में आमूल–चूल परिवर्तन हो गया, निष्कर्मता का स्थान कर्मशीलता ने ग्रहण कर लिया। ईश्वर की वास्तविक प्रतिच्छाया मानव में देखी जाने लगी। व्यक्ति ओर समाज के पारस्परिक सम्बन्धों में ही वास्तविक आध्यात्मिकता का दर्शन किया जाने लगा कोरी व्यक्तिगत साधना के स्थान पर मानव एवं लोक–सेवा प्रतिष्ठत कर दी गयी। लोक–जीवन के स्वर में अपने व्यक्तिगत जीवन के स्वर को मिला देना ही आध्यात्मिक जीवन का सार हो गया।

भक्ति का परम्परागत स्वरूपः–

भारतेन्दु जी के पश्चात हिन्दी भाषा और साहित्य को परिष्कृत परिमार्जित एवं समृद्ध करने का कार्य पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया। द्विवेदी जी काव्य मे नैतिकता के पक्षपाती थे, इसलिए इन्होंने रीतिकालीन श्रृंगारिकता का विरोध किया। इस युग के भक्ति काव्य के सम्बन्ध में यह देखने को मिलता है कि इस युग के कवियों के काव्य में परम्परा का निर्वाह अति न्यून रूप में हुआ। लेकिन जगह–जगह पर अपने आराध्य के प्रति अपना भक्ति–भाव भी निवेदित किया। और युग दृष्टि का निर्वाह उन्होंने राष्ट्रीय भावना के प्रकटीकरण द्वारा किया। जहां तक भक्ति चेतना का प्रश्न है। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि एक ही चेतना वाल्मीकि, व्यास और तुलसी से होती हुई, मैथिली शरण गुप्त तक लक्षित हो रही है। भेद केवल युग की भूमि भेद से प्रतीत होता है। द्विवेदी–युगीन भक्ति काव्यों के सन्दर्भ में भी यही चेतना काम कर रही थी, लेकिन इसकी चेतना में परिवर्तन का एक मात्र कारण युगीन परिस्थितियां या परिवेश का कवियों पर पड़ने वाला प्रभाव है।

आधुनिक काल भौतिकता एवं बौद्धिकता का युग है। इसलिए इनके काव्यों में भक्ति कालीन भक्ति भावना की अपेक्षा बुद्धि की प्रचुरता है। इस युग में परम्परागत अवतारों या पर ब्रह्म स्वरूप में ईश्वर दिखाई नहीं देता, वह तो परोपकारी मानव के रूप में उपस्थित होता है। स्वयं हरिऔध जी ने भी कृष्ण और राम को आधुनिक रूप से प्रस्तुत करने की घोषणा करते हुए कहा है – ''मैंने कृष्ण चरित्र को इस प्रकार अंकित किया है। जिससे आधुनिक लोग सहमत हो सके।[1]

---

1. अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध – प्रिय प्रवास – पृ0 30

इसी प्रकार ''वैदेही वनवास'' में कवि का उद्देश्य मर्यादा पुरूषोत्तम राम और लोक पूज्या सीता के चरित्र से मानवता की महनीय विभूति का निरूपण करना था। कवि ने भूमिका में इसे स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है – ''महाराज रामचन्द्र मर्यादा पुरूषोत्तम, लोकोत्तर चरित और आदर्श नरेन्द्र अथवा महिपाल हैं, श्रीमती जनक नन्दिनी सीता सती शिरोमणि ओर लोकपूज्या आर्य बाला हैं। इनका आदर्श आर्य सस्कृति का सर्वस्व है, मानवता की महनीय विभूति हैं और है स्वर्गीय संपत्ति–संपन्न।[1]

इस प्रकार के परिवर्तन मे भी स्वाभाविकता ही परिलक्षित है, साथ ही साथ युग बोध स्पष्ट रूप से मुखरित। मैथिलीशरण गुप्त भी बुद्धिवादी युग के प्रभुत्व से नहीं बच सके। व्यक्तिगत आस्था के बावजूद भी उन्होंने राम का वैसा ही आख्यान किया जैसा युग–आपेक्षित था। गुप्त जी वैष्णव भक्त थे, और उनकी वैष्णव भावना ने राम के स्वरूप को नवीनता के परिवेश में लाने के लिए परंपरागत सैद्धान्तिक चिंतनधारा को ही अपनाया है। ''साकेत'' प्रथम सर्ग में ही उन्होंने अपने राम सम्बन्धी विचार को तुलसी की वैचारिक पीठिका, दार्शनिक परिवेश के समान ही प्रस्तुत किया।

हो गया निर्गुण सगुण साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।[2]

इसके अनुसार गुप्त जी के राम मूलतः ब्रह्म के ही अवतार हैं। लेकिन आगे चलकर गुप्त जी राम के स्वरूप निर्धारण में नितान्त नवीन दृष्टिकोण अपनाते दिखाई देते है–

किस लिए यह खेल प्रभु ने है किया ?
मनुज बन कर मानवी का पय पिया,
भक्त वत्सलता इसी का नाम है,
ओर वह लोकेश लीलाधाम है।[3]

---

1. अयोध्या सिह उपाध्याय हरिऔध – वैदेही वनवास – भूमिका पृ0 9
2. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – प्रथम सर्ग –
3. मैथिली शरण गुप्त – साकेत प्रथम सर्ग –

हरिऔध जी भी "श्रीकृष्ण शतक" में जो उनके काव्य रचना का प्रथम पुष्प था, में भगवान कृष्ण के पर ब्रह्म स्वरूप का गुणानुवाद गाया है।

> नमत निर्गुन, नर लेप, अज, निराकार, निरद्वन्द्व।
> माया रहित विकार बिन कृष्ण सच्चिदानन्द।।[1]

प्रेमाम्बुवारिधि, प्रेमाम्बु प्रवाह, प्रेमाम्बु प्रस्त्रवण, और प्रेमप्रपंच में हरिऔध जी ने श्री कृष्ण को ब्रह्म का अवतार मानकर उनके ब्रह्मत्व की बड़ी मार्मिकता से वर्णन किया है। "परिजात" में कवि का दार्शनिक स्वरूप देखने को मिलता है।[2] विभु की नितान्त रहस्यात्मिका वृत्ति का स्वरूप भी हरिऔध जी ने "परिजात" में प्रस्तुत किया है –

> दिव्या भूति अचिंतनीय कृति की ब्राह्माण्ड मालामयी,
> तन्मात्रा जननी ममत्व प्रतिभा माता महत्तत्व की।
> सारी सिद्धिमयी विभूति भरिता संसार संचालिका,
> सत्ता है प्रभु की नितान्त गहना नाना रहस्यात्मिका ।[3]

द्विवेदी–युगीन कवि मैथिली शरण गुप्त राम के अनन्य भक्त थे। विष्णु के सभी रूपों में राम–रूप ही उन्हें श्रेष्ठ प्रतीत होता था। यहाँ तक की कृष्ण और बुद्ध को भी वे रामरूप में देखते थे।

"द्वापर" के मंगलाचरण में वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि–

> धनुबार्ण या वेणु लो, श्याम रूप के संग,
> मुझ पर चढ़ने से रहा, राम दूसरा रंग।[4]

---

1. अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध – श्री कृष्ण शतक– 18
2. डॉ0 सी0पी0 राजगोपालन नायर – राम का स्वरूप – पृ0 66
3. अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध – परिजात – पृ0 34
4. मैथिली शरण गुप्त – द्वापर – मंगलाचरण

गुप्त जी राम के अनन्य भक्त थे। प्रभु चरणों में उनका अटूट विश्वास था। उनका यही विश्वास ''साकेत'' में भी देखने को मिलता है।

मैं तो निज–भव–सिंधु कभी का तर चुका,
राम चरण में आत्म समर्पण कर चुका।[1]

वस्तुतः वैष्णव भक्ति में शरणागति का विशेष महत्व है। वैष्णव भक्तों की ये मान्यता है कि ईश्वर की शरण में जाने पर भक्त अपनी समस्त चिंताओं से मुक्त हो जाता है। अर्थात भक्त के जीवन का समग्रभार ईश्वर पर आ जाता है। सियाराम शरण जी को भी ईश्वर शरण में ऐसा ही विश्वास था। ''अनुरूपा'' में सियाराम शरण जी कहते है कि ''हे शरण्य मैं पूर्ण रूपेण आपकी शरण में हूँ मुझे डुबा दो या पार लगा दो, क्योंकि एक मात्र आप पर भरोसा है, शेष सारे सहारे झूठे सिद्ध हो गये हैं, हम आपकी कृपा के बिना चतुर्दिक से हारे हुए हैं अतः आप मुझे अपनी शरण में स्थान दे –

हारे सभी भांति हम, अब तो तुम्हारे बिना।
झूठे ज्ञात होते और सबके सहारे हैं।
और क्या कहें अहों डुबो दो या लगा दो पार,
चाहे जो करो शरण्य । शरण तुम्हारे हैं।
× × × ×
किसको पुकारे यहाँ रोकर अरण्य–बीच
चाहे जा करो शरण्य।शरण तुम्हारे हैं।[2]

भगवत् शरण में गुप्त जी का तो इतना दृढ़ विश्वास है कि कौन सा ऐसा जीव है जो शरण्य की शरण जाये और उसके समस्त पाप, दोष नष्ट न हो जाय अर्थात भगवत् शरण जाने

---

1. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – पांचवां सर्ग– पृ0 142
2. सियाराम शरण गुप्त – अनुरूपा – पृ0 5

वाले का समस्त दोष मिट जाता है, और पाप धूलवत नष्ट हो जाते है, यहाँ तक कि माया, मोह भी छूट जाते है और वह त्रय तापों से मुक्त होकर आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

आया यह दीन आज चरण–शरण आया,

हाय? सौ उपाय किये फल न एक पाया।

× × × ×

सर्व, अहंकार गर्व नाथ हुआ आज खर्व,

पाऊँ जब प्रगति पर्व, मिटे मोह माया।[1]

शरणागत भक्त सम्पूर्ण समर्पण के उपरान्त भगवत् शरण में स्थान पा लेता है। गुप्त जी द्वापर में भगवान कृष्ण के मुख से शरणागति की इसी महत्ता का उद्घोष करते है–

"कोई हो, सब धर्म छोड़ तू आ, बस मेरा शरण धरे,

डर मत कौन पाप वह जिससे मेरे हाथों तू न तरे।[2]

"प्रियप्रवास" में हरिऔध जी ने भी शरणागति भक्ति का निरूपण किया है। "प्रियप्रवास" की यशोदा जगत्–माता की आराधना अनन्य भाव से करती है। क्योंकि उनके अतिरिक्त उनका और कोई नहीं है, वही एक मात्र आश्रय हैं –

सकल भांति हमें अब अम्बिके।

चरण पंकज ही अवलम्ब है।

शरण जो न यहाँ जन को मिली

जननि, तो जगती तक शून्य है।[3]

---

1. मैथिली शरण गुप्त – झंकार – पृ0 38
2. मैथिली शरण गुप्त – द्वापर – पृ0 12
3. अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध – प्रिय प्रवास – तृतीय सर्ग – छन्द – 70

आधुनिकता के प्रस्तुत परिवेश में भी द्विवेदी–युगीन कवियों में शक्ति–तत्व के सूत्र देखने को मिलते हैं, "प्रियप्रवास" के तृतीय सर्ग में "शक्ति" का स्वतंत्र रूप से चित्रण किया गया है। भक्ति का यह जगदम्बिका रूप भारत में चिरकाल से पूजित रहा है। भारत की नारी जाति ने जगदाम्बिका के समक्ष सदैव ही अपने अखण्ड सौभाग्यवती होने के लिए अपना आचंल पसारा है। प्रियप्रवास में यशोदा भी कृष्ण के मथुरा गमन की बात जान व्याकुल हृदय से भगवती जगदम्बिका का स्तवन पाम्परिक रूप में करती दिखाई देती हैं –

कलुष–नाशिनी दुष्ट–निकंदिनी ।
जगत की जननी भव–बल्लभे।
जननि के जिय की सकला व्यथा।
जननि ही जिय है कुछ जानता।[1]

यशोदा के अतिरिक्त राधा की भगवती की आराधिका के रूप में दिखाई देती हैं।

सविधि भगवती को आज भी पूजती हूँ।
बहु–व्रत रखती हूँ, देवता हूँ मनाती।[2]

इसके अतिरिक्त गुप्त जी ने "साकेत दशम सर्ग" में उर्मिला के मुख से गिरजा–पूजन का उल्लेख किया है।

मणि मन्दिर में महासती, गिरिजा हैमवती विराजती।[3]

गुप्त जी यद्यपि वैष्णव भक्त थे और राम उनके इष्ट देव फिर भी गुप्त जी ने शुंभ–निशुंभमर्दिनी, आम्बिका–शक्ति की आराधना की –

---

1. अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध – प्रिय प्रवास – तृतीय सर्ग – छं0 49
2. अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध – प्रिय प्रवास – चतुर्थ सर्ग – छं0 – 36
3. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – दशम सर्ग – पृ0 352

जब शुम्भ – निशुम्भ – मर्दिनी
बनती काम्य – कला कपर्दिनी,
करता तब चित्त बाल – सा
जन–धात्री – स्तन – पान – लालसा ।[1]

''शक्ति की आराधना स्वरूप गुप्त जी ने तो ''शक्ति' नामक ग्रन्थ की रचना ही दुर्गासप्तशती के आधार पर कर दी। ग्रन्थ के प्राक्कथन में ही गुप्त जी ने देवी के सौन्दर्य एवं तेजोमय रूप की वन्दना की –

तुम्हारी वह ''हिमाचल कृताश्रया''
असुर–मोहिनी मूर्ति सौन्दर्य इतना कि ''परंरूपं'
विभ्राणां सुमनोहरम्, और तेज इतना कि
योमां जयाति संग्रामे, यो मे दर्प व्यपोहति
यो में प्रतिबलो लोके समे भर्ता भविष्यति।[2]

दुर्गा शक्ति के अतिरिक्त समस्त कवियों की आराध्या विद्या की देवी, वीणावादिनी की स्तुति कवि गुप्त ने भी की है, इसमें वीणावादिनी के स्वरूप की चर्चा तो नहीं पर कवि भक्ति का आकांक्षी है, वो मां सरस्वती की कृपाकोर की याचना इसलिए करता है जिससे उसकी साकेत रचना का श्रम **सफल** हो सके –

अये दयामयी देवि, सुखदे, सारदे
इधर भी निज वरद पाणि पसार दे।
दास की यह देह–तन्त्री सार दे,
रोम–तारों में नई झंकार दे।

---

1. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – दशम सर्ग – पृ0 356
2. मैथिली शरण गुप्त – शक्ति (1927) पृ0 3

बैठ–आ, मानस–मराल सनाथ हो
भार–वाही कण्ठ–केकी साथ हो।[1]

इष्टदेव का गुणमानः–

वैष्णव भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि भक्त सदैव अपने इष्टदेव को सर्वोपरि मान्यता देता है और उसके माहत्म्य पूर्ण कार्यों का वर्णन बड़ी तमन्यता के साथ करता है। प्रायः सभी सगुणोंपासक भक्त अपने–अपने भगवान की लीलाओं का श्रवण एव मनन बड़े मनोयोग से किया करते हैं और भगवान की भक्त वत्सलता, असीम भक्ति सम्पन्नता लोकोद्धार की भावना, अकारण ही भक्तों का हित करने का स्वागत, शरणागत की रक्षा, दीन बन्धुता आदि की चर्चा बड़ी श्रद्धा के साथ किया करते है। "झंकार" में अपन इष्टदेव के महत्व का प्रतिपादन गुप्त जी ने पाम्परिक ढंग से ही किया है।

निर्बल का बल राम हैं,
हृदय! भय का क्या काम है?
राम वही कि पतित–पावन जो परम दया का धाम है।
इस भव–सागर से उद्धारक तारक जिसका नाम है।[2]

ऐसे ही कवि "जय भारत" में भगवान के विराट रूप का चित्रण करता है।

भूमि से नभ तक पिण्डाकार ज्वलित था तेज–पुंज अपार,
प्रभा से दशों दिशायें पाट, प्रकट था प्रभु का रूप विराट।[3]

नाम स्मरणः–

"ब्रह्म रामते नाम बड़" कहकर राम से अधिक राम के नाम का महत्व प्रतिपादित किया जा चुका है। हरि का नाम–स्मरण ही मोक्ष तत्व है। इसी राम नाम का अमूल्य धन

---

1. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – प्रथम सर्ग – पृ0 17
2. मैथिली शरण गुप्त – झंकार – पृ0 7
3. मैथिली शरण गुप्त – जयभारत – पृ0 356

पाकर सौ गांठो से गठी कोपीन को धारण करके भी साधु किसी से शंकित और भयभीत नहीं होता। इसी लिए कबीर और अन्य संत हरि नाम स्मरण को ही भक्ति कहते हैं। कबीर इसी नाम स्मरण को अपनी खेती–बारी, धन दौलत, संगी–साथी, भाई–बाप सभी कुछ मानते हैं।[1] कविवर मैथिलीशरण गुप्त भी भगवान राम के नाम का महत्व प्रतिपादन करते हुए ''साकेत'' में स्पष्ट कहते हैं कि –

जो नाम मात्र ही स्मरणमदीय करेंगे,
वे भी भव सागर बिना प्रयास तरेंगे।[2]

''भवसागर'' तारक राम के इस नाम की महत्ता गुप्त जी ने ''झंकार'' ''गुरूकुल'', और ''नहुष'' काव्य के आरम्भ मे ही किया है।

जय कबीर–नानक–दादूका, वापू का वाणी–विश्राम,
नव–नव रूप पुराण–पुरूष उन लीला धाम राम का नाम।[3]
× × × × ×
क्यों कर हो मेरे मन–मानिक की रक्षा ओह।
मार्ग, के लुटेरे – काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह।
किन्तु मै बढ़ूँगा राम लेकर तुम्हारा नाम,
रखो बस तात तुम थोड़ी क्षमा थोड़ा छोह ।[4]

तत्कालीन भारत की नैया मझधार में डूबती जा रही थी, कल्याण का कोई भी मार्ग दिखाई नहीं दे रहा था। देश सर्वनाश की ओर बढ़ रहा था। उस समय एक मात्र ईश्वर ही ऐसी शक्ति के रूप में दिखाई देता है जिससे उद्धार की आशा की जा सकती है। मैथिलीशरण गुप्त ने भारत–भारती मे भारत के उद्धार के लिए प्रभु से अपनी प्रार्थना की है–

---

1. संत कबीर – राग भैरवी – पृ0 206
2. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – अष्टम सर्ग – पृ0 235
3. मैथिली शरण – गुरूकुल मंगलाचरण
4. मैथिली शरण गुप्त – नहुष मंगलाचरण

इस देश को हे दीन बन्धो! आप फिर अपनाइये,

भगवान ! भारतवर्ष को फिर पुण्य-भूमि बनाइए।

जड़-तुल्य जीवन आज इसका विघ्न-बाधा पूर्ण है,

हे रम्ब! अब अवलम्ब देकर विघ्नहर कहलाइए।[1]

कवि गुप्त भारत की इस दुर्दशा से बेहद दुःखी हो जाते है! सारे प्रयत्न करने के बाद भी जब उन्हें कोई सफलता नहीं मिलती तो ईश्वर के चरण-शरण का वरण करते हुए कातर स्वर मे कहते हैं कि -

किसके शरण होकर रहें? अब तुम बिना गति कौन है?

हे देव! वह अपनी दया फिर एक बार दिखाइए।[2]

गुप्त जी के काव्य मे परम्परागत भक्ति का रूप यत्र-तत्र दिखाई देता है। "साकेत" मे या अन्य काव्यों में ही नवधा भक्ति का सम्यक् उल्लेख तो नहीं दिखाई देता, लेकिन स्मरण और आत्म निवेदन भक्ति की सकेत रूप में उपलब्धि होती है।

कहा सौमित्र ने कर जोड़कर तब-

"रहा यह दास तुमको छोड़कर कब?[3]

हरिऔध जी ने भी पारम्परिक नवधा भक्ति का निरूपण नहीं किया। "प्रिय प्रवास" मे नवधा भक्ति का जो स्वरूप वर्णित है वह युग को ध्यान में रखते हुए सर्वथा नवीन व्याख्या की गयी है। "वैदेही वनवास" मे भी नवधा भक्ति के अंगों का प्रतिपादन तो नहीं किया गया है। लेकिन पुरूषोत्तम श्री राम के अति सुन्दर वपु का चित्रण करते हुए कवि ने लिखा है कि-

जय जय जयति लोक ललाम । नवल नीरद श्याम।

दमक कर अति दिव्यद्युति से दिवस नाथ समान।

---

1. मैथिली शरण गुप्त - भारत भारती - विनय - पृ0 191
2. मैथिली शरण गुप्त - भारत भारती - विनय - पृ0 192
3. मैथिली शरण गुप्त - साकेत - तृतीय सर्ग - पृ0 86

हैं भुवन – तम – काल, उन्नत भाल अति अभिराम ।

गंड – मंडल पर विलम्बित कान्त केश कलाप।[1]

बालकृष्ण शर्मा ''नवीन'' के प्रभु ने श्री राम के रूप में अवतार धारण किया। वह पूर्ण काम और निष्काम हैं। वह सगुण है और निर्गुण भी – कवि ''नवीन'' कहते हैं कि –

राम अमानी अति अभिमानी, निर्गुण सगुण एक संगवे ।[2]

श्री राम सच्चिदानन्द हैं। वे सृष्टि के जनक, पोषक और संहर्ता तीनों हैं। वे गो–गोचर के स्वामी हैं। वे आत्मज्ञानी तथा समस्त ऐश्वर्य के स्वामी होते हुए भी विदेही हैं । श्री राम की सत्ता और महत्ता चराचर में निहित है। वे लोक नायक, बुद्धि प्रदायक, दीनों पर दया करने वाले और राक्षसों के संहारक हैं। उनकी शरण में जाने पर जीव अनन्त पापों से मुक्त हो जाता है। वे ज्ञान और मोक्ष के दाता हैं। ऐसे मर्यादा पुरूषोत्तम राम की जय हो –

राम उपद्रष्टा, अनुमत्ता, भर्ता, भोक्ता, सर्वेश्वर,

राम विदेही, रामसदेही, रामसीय पति परमेश्वर।

महामहिम, योगेश्वर, हरिहर जागरूक उद्बुद्ध पते,

गुडाकेश, कूटस्थ अचल अति, पति, अनवरूद्ध गते।

सदा शान्त चित्, अनुद्विग्न नित, मर्यादा पुरूषोत्तम हे,

जय जय दशरथ नन्दन जय हे जय जय जयति नरोत्तम हे।[3]

प्रभु मर्यादा पुरूषेत्तम हैं उनकी कृपा जिस पर हो जाती है, उसका उद्धार हो जाता है। बिना उनकी कृपा के योगी भी आसानी से संसार–सागर से पार नहीं होते है। फिर सर्व साधारण की बात ही क्या –

---

1. अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध – वेदेही वनवास – पृ0 269
2. बालकृष्ण शर्मा ''नवीन'' – उर्मिला – 3/251
3. बालकृष्ण शर्मा ''नवीन'' –उर्मिला – 6/2

साधन सहज नहीं आप योगियों को भी,
आशा फिर क्या है सर्व साधारण के लिए?
राम ही कृपा करें, तो पार करें उनको।[1]

कवि गुप्त "यशोधरा" मे राम की अनपायनी भक्ति की याचना करते हैं। कवि विश्व को ही परमात्मा का क्रीड़ा स्थल मानता है। इसलिए वह कहता है कि यदि हम भगवान का स्मरण करते हुए अपना जीवन यापन करें, तो यह विश्व हमारे लिए सुखागार बन जाता है। इसलिए मुक्ति की कामना नहीं करता, अपितु वह बार–बार जन्म धारण कर भगवान की लीलाओं का अनुरागी बनकर जीवन व्यतीत करने की कामना करता है। उसे मुक्ति की आकांक्षा नहीवह तो भक्ति चाहता है।

भुक्ति मुक्ति मांगे क्या तुमसे,
हमें भक्ति दोओ अमिताभ।[2]

भक्त को भगवान का सगुण और साकार रूप ही अभीष्ट है, क्योंकि वह निर्गुण-निराकार प्रभु के किन–किन गुणों का गान करे।

निर्गुण के गुण गाते गाते, हुई गम्भीर गिरा भी गूंगी।[3]

यशोधरा को इस बात का पूर्ण विश्वास है कि यदि मैने अपना तन, मन, धन सब कुछ भगवान बुद्ध के चरणों में अर्पित कर दिया है, तो वह भी मेरा मान रखने के लिए एक दिन मेरे पास अवश्य आयेंगें। क्योकि भक्त भगवान के पास नहीं जाते, भक्तों की अनुरक्ति को देखकर भगवान को ही भक्तों के पास आना पड़ता है।

उन्हें समर्पित कर दिय, यदि मैंने सब काम,
तो आवेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम।

---

1. मैथिली शरण गुप्त – विष्णुप्रिया – पृ0 9
2. मैथिली शरण गुप्त – यशोधरा – पृ0 9 – मंगलाचरण
3. मैथिली शरण गुप्त – यशोधरा – पृ0 109

भक्त नहीं जाते कहीं आते है भगवान
यशोधरा के अर्थ है, अब भी यह अभिमान।[1]

किन्तु यह समर्पण किसी फल की इच्छा से या कुछ लेने की अभिलाषा से नहीं किया जाता। वैष्णव भक्त तो अपने इष्ट को अपना सर्वस्व अर्पित करता है। क्योंकि "तेरा तुझको सौंपता क्या लागे है मोरा।" की भावना रखता है। सर्वस्व समर्पण की यही भावना गोपियों के मुख से हमें "द्वापर" में सुनाई पड़ती है।

सरमाथे ही उस मनोज्ञ की हमने यहीं लिया था,
लोक और परलोक सभी कुछ अपना सौप दिया था।[2]

यथालाभ संतोषः-

यथालाभ संतोष वैष्णव भक्ति की सर्वोत्कृष्ट भावना है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी विनय-पत्रिका में भी "जथा लाभ सन्तोष सदा काहू सों कछु न चाहोंगे।" कह कर इसी भावना का निरूपण किया। वैष्णव कवि गुप्त जी ने भी भक्त के इस गुण को ग्रहण किया, और स्वीकृति के रूप में 'साकेत' के राम से यह कहलवाया कि -

करके अपना कर्तव्य रहो सन्तोषी,
फिर सफल हो कि तुम विफल न होगे दोषी।[3]

यही "यथालाभ" संतोष की भावना "द्वापर" में भक्तप्रवर सुदामा के मुख से भी अभिव्यक्त हुई है।

क्या धनियों के यहाँ दूसरी
कुसुम - कली खिलती है?

---

1. मैथिली शरण गुप्त - यशोधरा - पृ0 39
2. मैथिली शरण गुप्त - द्वापर - पृ0 192
3. मैथिली शरण गुप्त - साकेत- अष्टम सर्ग - पृ0 228

वही चादनी वही धूप क्या
मुझे नहीं मिलती है ?
मेरे लिए कौन सा नभ का
रत्न नहीं बिखरा है ?
एक वृष्टि में ही हम सबका
देह–गेह निखरा है।[1]

''क्षुद्रभावना'' नामक कविता में भी कवि इसी भावना का उद्‌गार करता है।

यही होता, हे जगदाधार ।
छोटा सा घर आंगन होता इतना ही परिवार
छोटा खेत द्वार पर होता स्वजनों का समवाय,
थोड़ा सा व्यय होता मेरा थोड़ी सी ही आय,
घर ही गांव, गांव ही होता सब संसार,
यही होता, हे जगदाधार ।[2]

इस प्रकार कवि यथालाभ संतोष की भावना को जागृत करने के लिए ही स्थान–स्थान पर उक्त भावों को अभिव्यक्त किया, जिससे भक्त के हृदय में भौतिक जगत के वैभवों के फंस–जाने की लालसा उत्पन्न न हो और वे भगवत् भक्ति में लीन होकर अपना इहलोक और परलोक सुधार सके।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि विवेच्यकाल में परम्परागत भक्ति का स्वरूप स्पष्ट मुखर रूप में तो नहीं दिखाई देती, लेकिन इस सन्दर्भ में यह कहना कि आधुनिक ज्ञान–विज्ञान के युग में भक्ति लुप्त हो गयी। सर्वथा अनुचित और गलत होगा। द्विवेदी–युगीन कवि मैथिली शरण गुप्त, अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध, सियाराम शरण

---

1. मैथिली शरण गुप्त – द्वापर – सुदामा – पृ0 134
2. मैथिली शरण गुप्त – झंकार – पृ0 120

गुप्त आदि ने अपने काव्य मे भक्ति का यथेष्ट स्थान दिया है। ये तो काल का प्रभाव है कि भक्ति ईश्वर को निवेदित न होकर सामान्य मानव के प्रति होने लगी। क्योकि परिवर्तन एक अटल प्राकृतिक नियम है। नवीनता सौन्दर्य विधायिनी और आनन्द प्रदायिनी होती है। इसी परिवर्तन के रूप में ईश्वर अपनी इच्छा पूर्ति करता रहता है। यद्यपि इसे ईश्वरेच्छा के रूप में द्विवेदी युगीन कवि स्वीकार करता है, लेकिन जहां भी उसे व्यथा पहुँचती है, वो अपने युगीन भाव को भूलकर भगवान के शरण का ही वरण करता है। सर्व शक्तिमान का ही अभिनन्दन और वंदन करता है।

हे ईश्वर सुन विनय हमारी।
हरिए भारत का दुख भारी।
नाथ इसे फिर से अपनाओ ।
और न इसको अधिक गिराओ। [1]

सामाजिक आन्दोलनों के प्रभाव स्वरूप दृष्टि में परिवर्तन :-

सामाजिक परिवर्तन एक अनिवार्य घटना है। विज्ञान के चमत्कारों के पूर्व सामान्य जन जीवन अत्यधिक परम्परावादी तथा धार्मिक आस्थाओं पर केन्द्रित हुआ करता था। वैज्ञानिक यांत्रिक युग ने चाहे अनचाहे हमारे जीवन को अधिक तार्किक तथा विज्ञानोन्मुख बना दिया। क्योंकि समाज की बाहरी दशाएं व्यक्ति की विचारधारा को पूर्णतः प्रभावित कर देती है। अंग्रेजी सभ्यता के आने से जिस गुलामी ने देश को जड़ीभूत कर दिया उसी ने सांस्कृतिक उन्नायकों को अपना इतिहास खोजने तथा रूढ़ियों पर प्रश्नचिन्ह लगाने के लिए विवश किया। इस प्रकार हम निःसकोच कह सकते है कि अंग्रेजी सभ्यता ने हमारी निर्जीव भावनाओं को जागृत करने में सहयोग दिया। देश की बहुमुखी धारा के विकास ने सामाजिक चेतना को एक नया जीवन प्रदान किया। फलतः जीर्ण-शीर्ण, रूग्ण हुई रूढ़ियों ने दम तोड़ना शुरू कर दिया। अंध विश्वास, पशु हिंसा पूर्ण यज्ञ, मद्यपान, बाल विवाह, वृद्ध विवाह, बाल हत्या,

---

1. लोचन प्रसाद पाण्डेय – सरस्वती भाग –9 , संख्या –1 जनवरी

सती प्रथा, बाल विधवाओं के पुनर्विवाह का निषेध जिसके फलस्वरूप विधवाओं की विश्रृखलता, भ्रूण हत्यायें तथा वेश्याओं के रूप में परिणति होने वाली देवदासियां इन सभी दुराचारा से 19वीं शती का भारत भरा हुआ था।[1]

सांस्कृतिक नवजागरण के मनीषियों तथा साधु संतों ने व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाकर समस्त धार्मिक सामाजिक रूढ़ियों एवं कुरीतियों के विश्लेषण की ओर आकृष्ट किया। विश्लेषणोपरान्त भारतीय जीवन में नई चेतना, नये स्पन्द उभरने लगे। अतीत की सांस्कृतिक विरासत को युगबोध के सन्दर्भ में विवेचित किया गया। समाज के मानव को महत्व दिया जाने लगा। शास्त्र एवं शब्द प्रमाण के स्थान पर विवेक सम्मत जीवन–दृष्टि को प्रधानता मिली। इस युग की कविता में पूर्णरूपेण समाज का दर्शन होने लगा। इस सन्दर्भ में डॉ सुधीन्द्र का कथन सत्य ही है कि – "सम्पूर्ण हिन्दी कविता की परम्परा में यदि किसी काल की कविता पूर्ण समादर्शी होने का धर्म पालन करती है तो वह है द्विवेदी काल की कविता।"[2] इस काल की कविता का समाज दर्शी होने के पीछे यही कारण देखने को मिलता है कि विधि निषेधों का कठोर अनुशासन होते हुए भी हिन्दू धर्म विकृत अवस्था को प्राप्त कर रहा था। ब्राहमण जो तद्‌युगीन समाज का सर्वेसर्वा था उसमें ब्राहमणत्व का लोप हो चुका था। वे अविधा, अज्ञान तथा आडम्बर के लेप से अपने आपको स्थापित रखना चाहते थे। ऐसे ब्राहमणों का सही चित्रण गुप्त जी नेभारत–भारती में इस प्रकार किया है–

> उन अग्र जन्मा ब्राहमणों की हीनता तो देख लो,
> भू–देव थे जो आज उनकी दीनता तो देख लो।
> ×   ×   ×   ×
> वह वेद का पढ़ना पढ़ाना अब न उनमें दीखता
> वह यज्ञ का करना कराना कौन उनसे सीखता?
> बस पेट को ही आज उनमें दान देना रह गया।

---

1. डॉ0 कमला प्रसाद पाण्डेय – छायावाद प्रकृति और प्रयोग – पृ0 24
2. डॉ0 सुधीन्द्र – हिन्दी कविता में युगान्तर – पृ0 144

है कर्म्म, उनमें एक ही अब दान लेना रह गया ।

× × × ×

सन्देह है, जप के समय क्या मंत्र जपते मौनवं,

हैं "ॐ नमः" – वा "हा। निमंत्रण" पाठ करते कौन वे।

निश्चय नहीं दृगबन्द कर वे लीन हैं भगवान में–

या दक्षिणा की मंजु--मुद्रा देखते हैं ध्यान में।[1]

हिन्दू–धर्म सुरा और सुन्दरी को अतिनिंदित कर्म मानता है, फिर भी तद्युगीन हिन्दू समाज में मादक द्रव्यों का सेवन प्रगति–पथ पर था, और स्त्रियों की करूणगाथा का तो अंत ही नहीं था। विधवाओं की संख्या निरंतर बढ़ रही थी।[2] इस दुखद स्थिति के लिए बाल–विवाह और अनमेल–विवाह विशेष रूप से उत्तरदायी थे।

इसके अतिरिक्त वेश्यावृत्ति ने भी समाज मे अपनी जगह बना ली थी। मांसाहार का प्रचलन हो गया था। इन दुर्गुणों की ओर नाथूराम शर्मा "शंकर" की दृष्टि पड़ी जिसका संकेत स्थान–स्थान पर देखने को मिलता है –

(क) मदपान करे न तजे पलको अपनाय रहा खलमण्डल को।
पग पूज कलंक विभीषण के, अनुराग–रंगे गणिका गणके
दृग दीपक देख पतंग हुआ,
बस भारत को रस भंग हुआ।[3]

(ख) आमिष भोजी, मदिरानन्दी, मटके मस्त जवान,
हुए रंडियों के अनुरागी, सुन–सुन टप्पे तान।[4]

---

1. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 139–40
2. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 150
3. नाथूराम शर्मा "शंकर" " संकर सर्वस्व – पृ0 90
4. नाथूराम शर्मा "शंकर" – संकर सर्वस्व – पृ0 312

इस युग के युवक मादक द्रव्यो के सेवन को गौरव की बात मानते थे, उनके अनुसार जो किसी भी नशे का सेवन नहीं करता उसमें पौरूष ही नहीं, उसे तो औरत समझना चाहिए। मैथिलीशरण गुप्त ने इन भ्रष्ट, अनैतिक युवकों के सन्दर्भ में लिखा कि –

हम मत्त हैं, हम पर चढ़ा कितने नशों का रंग है–
चंडू, चरस, गॉंजा, मदक, अहिफेन, मदिरा, भंग है।
सुन लो जरा हमसे यहॉं कैसी कहावत है चली,
''पीता न गॉंजे की कली उस मर्द से औरत भली।[1]

उपर्युक्त वर्णित तथा अन्यानेक सामाजिक विकृतियां तो थी ही जिससे हिन्दू समाज पतन के गर्त में गिरता जा रहा था, किन्तु सबसे अधिक व्याकुल करने वाली बात यह थी कि विदेशी धर्म, हिन्दू धर्म के इसी खण्डहर पर अपना भव्य भवन खड़ा करना चाह रहा था। इसी विदेशी धर्म के निरन्तर वर्द्धमान प्रभाव को नियंत्रित और निष्प्रभ करने के लिए हिन्दू धर्म सुधारों की तात्कालीक अनिवार्यता का अनुभव किया गया।

यह सच है कि जब–जब धर्म पर अधर्म के बादल छाये तब–तब ईश्वर ने अवतार ग्रहण किया। 19वी शताब्दी में भी हिन्दू धर्म पर विधर्म के बादल मंडराये, लेकिन समाज–सुधारक नायकों ने ऐसी बौद्धिक आंधी चलाई जिसके तीव्र वेग से विधर्मी घबड़ा गये और हिन्दू समाज की गली–सड़ी मान्यताएं ध्वस्त हो गयी। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल रामकृष्ण मिशन आदि समाज–सुधारक संस्थाओं की स्थापना हुई। इसके संस्थापकों ने जगत को अपरिमित स्नेह प्रदान किया। रामकृष्ण हो अथवा विवेकानन्द, दयानन्द हो अथवा रामतीर्थ, सभी ने मनुष्य मात्र की हित–कामना में अपने को समर्पित कर दिया। इस क्षेत्र में सबसे अधिक योगदान ब्रह्म समाज और आर्य–समाज का था। गतानुगतिकता के विरोध और बौद्धिकता के समावेश में आर्यसमाज और ब्रह्म समाज दोनों ने समान प्रयास किया, किन्तु जहॉं ब्रह्म–समाज को उच्चस्तर में बाद्धिक और आत्मिक चेतना ला सका, वहॉं आर्यसमाज ने निम्न स्तर में भी जाकर वही काम किया।

---

1. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 154

साहित्य युग का दर्पण होता है। उस पर समय की छाप लगे बिना नहीं रह सकती। आलोच्य-युग के संचालक आचार्य द्विवेदी ने काव्य की देशकालोचितता की ओर संकेत करते हुए प्रतिपादित किया कि – "जैसा समय होता है, साहित्य भी वैसा ही बनता है।[1] कवि अथवा साहित्यकार जिस जीवन को अपने चतुर्दिक हिलोरे मारता हुआ देखता है, उसी से वह प्रेरणा पाता है। उसका मानसिक संस्कार कोइ बंद मुक्ता-मंजूषा नहीं है। अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हुए भी उसकी भावनाओं का संसार निरन्तर बाह्यजगत की घटनाओं से प्रतिध्वनि और झंकृत होता है।[2] द्विवेदी-युगीन कविता स्वामी दयानन्द के आर्य समाज, राजा राम मोहन राय के ब्रह्म समाज स्वामी विवेकानन्द के विश्वमानववाद तथा गांधी के आदर्श सत्य, अहिंसात्मक सिद्धान्त के व्यापक प्रभाव से न बच सकी। डा0 गणपति चन्द्र गुप्त के शब्दों में "वस्तुतः द्विवेदी मंडल के विभिन्न कवियों की आदर्शवादी भावनाओं के पोषण में आर्य समाज का पर्याप्त योग परिलक्षित होता है।[3]

भारतेन्दु-युग ने आधुनिकता और नवीनता की जो नींव डाली वह बहुत गहन थी। द्विवेदी युग का प्रासाद इसी नींव पर निर्मित हुआ। इस युग के काव्य की सबसे बड़ी प्रेरणा थी – सांस्कृतिक और नैतिक चेतना। इस युग के कवियों ने लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर कविताएं लिखी लोक कल्याण की भावना के अन्तर्गत समाज-सुधार, राष्ट्रीय चेतना, नैतिक-सुधार तथा विवेकशील दृष्टिकोण था। इस युग की कविता पर आर्य समाज आदि धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन का प्रभाव पूर्णतः परिलक्षित होता है।

आर्य समाज का प्रभावः-

आर्य समाज की स्थापना सन् 1875 में कर दी गयी थी। आर्य समाज ने शिक्षा स्त्री शिक्षा, हरिजनोंद्धार शुद्धि और वेद-प्रचार के आन्दोलनों को चलाया। स्त्रियों की दयनीय एवं करूण अवस्था में सुधार लाने के लिए आर्य समाज ने बहुत से विद्यालयों, अनाथालयों,

---

1. महावीर प्रसाद द्विवेदी- रसज्ञरंजन – पृ0 64
2. डॉ0 प्रकाश चन्द्र गुप्त – आधुनिक हिन्दी साहित्य एक दृष्टि – पृ0 29
3. डॉ0 गणापित चन्द्र गुप्त – हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास – पृ0 613

विधवाश्रमों इत्यादि की स्थापना की। आर्य समाज की महत्वपूर्ण देन हिन्दी भाषा को जनप्रिय बनाने में हैं। डा0 रामवृक्ष के शब्दों में "हिन्दी ने आर्य भाषा को जन धर्म बनाया और आर्य समाज ने हिन्दी को देश की सर्वाधिक जनप्रिय भाषा।[1] आलोच्य काल के कवियों पर आर्य समाज के इस सिद्धान्त का व्यापक प्रभाव दिखाई देता है। प्रभाव में आकर इस काल के कवियों ने मातृभाषा को जननी तथा जन्मभूमि के समान पूज्य मानते हुए उसके महत्व का अपनी रचनाओं में बड़े प्रबल शब्दों उल्लेख किया है। गया प्रसाद शुक्ल "सनेही" जी ने "मातृभाषा की महत्ता" कविता में मातृभाषा के महत्व का यों उल्लेख किया है–

बिना निज मातृ भाषा ज्ञान के कब ज्ञान होता है।
यही है एक कला जिससे कि देशोत्थान होता है।[2]

मैथिलीशरण गुप्त के "भारत–भारती" में भी आर्य समाज का प्रभाव दिखाई देता है। भारत–भारती में गुप्त जी कहते है कि देश को अवनति से बचाने के लिए शिक्षा अति आवश्यक है। ये हमारा प्रथम कर्तव्य होना चाहिए। अंग्रेजी शिक्षा का विरोध भी किया और हिन्दी शिक्षा की स्थापना भी।

विदेशी शिक्षा का विरोधः–

वह आधुनिक शिक्षा किसी विध प्राप्त भी कुछ कर सको–
तो लाभ क्या, बस कर्लक बनकर पेट अपना भर सको।
लिखते रहो जो सिर झुका, सुन अफसरों की गालियां
तो दे सकेंगी रात को दो रोटियां घरवालियां।[3]

आगे गुप्त जी कहते हैं कि ये अंग्रेजी शिक्षा हमारे अनुकूल नहीं ये शिक्षा तो सर्वथा प्रतिकूल है –

---

1. डा0 रामवृक्ष सिहं – भारतीय धार्मिक पुनर्जागरण – पृ0 74
2. सरस्वती – जनवरी – 1915 – पृ0 15
3. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 127 वर्तमान खण्ड

वह साम्प्रतिक शिक्षा हमारे सर्वथा प्रतिकूल है,
हममें हमारे देश के, द्वेष–मति की मूल है।
हममें विदेशी भाव भरके वह भुलाती है हमें
सब स्वास्थ्य का संहार करके वह रूलाती है हमें।[1]

इसलिए हमारा प्रथम कर्तव्य होना चाहिए कि अपनी शिक्षा पद्धति को देश में फैलाये यहाँ कवि आर्य–समाज से दृष्टि पाता है, जैसे आर्य समाज ने शिक्षा प्रसार के लिए गुरूकुल और विद्यालयों की स्थापना और प्रसार पर बल दिया यही प्रयास गुप्त जी का भी है।

सबसे प्रथम कर्तव्य है शिक्षा बढ़ाना देश में,
शिक्षा बिना ही पड़ रहे हैं आज हम सब क्लेश में।[2]

कवि नाथूराम शर्मा ''शंकर'' आर्य समाज के द्वारा गुरूकुलों की स्थापना पर ''आर्य समाज का अभ्युदय'' शीर्षक लावनी में अपने हृदयोद्गार इस प्रकार प्रकट करते हैं।

सरल सुलक्षण सन्तानों को संयमशील सुजान करो।
गुरूकुल पूजो वैदिक वीरों, विद्या, बल, धन, दान करो।[3]

नारी शिक्षाः–

स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत था कि नारियां सुशिक्षिता–सुसंस्कृता होकर गार्गी मैत्रेयी आदि विदुषियों के समान महिमा मंडित बने। स्वामी जी प्रथम आचार्य थे। जिन्होंने यह उद्घोषणा किया कि नारी को वेद पढ़ने का पूरा अधिकार है। ''शुद्धाः पूता यत्रियो–इमाः'' कह कर उन्हें शुद्ध, पुनीत तथा यज्ञाधिकारिणी के रूप में स्वीकार किया। नारी शिक्षा की दिशा में जो कार्य उत्तर भारत में आर्य समाज ने किया वह न भूतो न भविष्यति हो सकता है। आर्य समाज ने दस कन्या गुरूकुल, पांच कन्या महाविद्यालय तीन सौ कन्या पाठशालाएं तीस अनाथालय, तथा पचास विधवाश्रम उस समय चला रहा था।[4] द्विवेदी युगीन

---

1. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 128 – वर्तमान खण्ड
2. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0184 – वर्तमान खण्ड
3. शंकर सर्वस्व – पृ0 199
4. डॉ0 लक्ष्मी नारायण दूबे – हिन्दी साहित्य में आर्य समाज की अभिव्यक्ति – पृ0 65

कवियों पर भी आर्य समाज द्वारा चलाये गये नारी शिक्षा एवं उत्थान का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा। इस प्रभाव की अभिव्यक्ति गुप्त जी ने इन शब्दों में की –

विद्या हमारी भी न अब तक काम में कुछ आयेगी,
अर्द्धांगियों को भी सु–शिक्षा दी न जब तक जायेगी।
सर्वांग के बदले हुई यदि व्याधि पक्षाघात की
तो भी न क्या दुर्बल तथा व्याकुल रहेगा बात की ?[1]

नारी सम्मानः–

दयानन्द सरस्वती ने महिला उत्थान के लिए अनेकों प्रयास किये। जिस पर आज सम्पूर्ण भारत को गर्व है उसी का यह सुफल है कि गांधी जी द्वारा प्रवर्तित राष्ट्रीय आन्दोलन में नारियों ने पुरूषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य किया, और जहाँ जरूरत पड़ी अपने प्राणों की चिन्ता छोड़ दी। आर्य समाज ने मनुस्मृति के इस श्लोक को चरितार्थ कर दिया कि "यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के भी काव्य में नारी के प्रति इसी असीम श्रद्धा का भाव झलकता है, वे नारी की प्रशंसा नारी के ही मुख से इस प्रकार करवाते हैं।

जहाँ हमारा आदर होता, वहीं देवता करते बास।[2]

श्रीधर पाठक ने भारतीय नारी को इस पावन पद से च्युत नहीं होने दिया। वह उसी महिमामयी ओर गरिमामयी पद की अधिकारिणी रही है। जिस पर सीता, सावित्री, द्रौपदी आदि आसीन रही थीं। वे "आर्य महिला" कविता में पवित्रता की पावन ज्योति किस प्रकार जागृत करना चाहते है दृष्टव्य है।

---

1. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 185 – भविष्यत खण्ड
2. सरस्वती – दिसम्बर 1906 – पृ0 352

अहो पूज्य भारत–महिलागण अहो आर्य कुल–प्यारी,

अहो आर्य–गृहलक्ष्मि, सरस्वति, आर्य लोक उजियारी,

आर्य – जगत में पुनः जनाने निज जीवन ज्योति जगाओं

आर्य हृदय में पुनः आर्यता का शुचि स्रोत बहाओ।[1]

गुप्त जी की मान्यता है कि आज जो ये समाज पतन के गर्त में जा रहा है इसका एक मात्र कारण है हमारे द्वारा की गयी नारियों की उपेक्षा। हमें चाहिए उनकी उपेक्षा छोड़कर उनका आदर करें तभी भारत का गौरव पुनः वापस लौट सकता है।

ऐसी उपेक्षा नारियों की जब स्वयं हम कर रहे,

अपना किया अपराध उनके शीश पर हैं धर रहे।

भागें न क्यों हमसे भला फिर दूर सारी सिद्धियां

पातीं स्त्रियां आदर जहाँ रहती वहीं सब ऋद्धियां।[2]

गुप्त जी नारियों को पुरूषों के समकक्ष मानते हैं। उनकी इस मान्यता पर गांधी अरविन्द, दयानन्द आदि सभी सुधारकों का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा।

निज स्वामियों के कार्य्य में समभाग जो लेतीं न वे,

अनुराग पूर्वक योग जो उसमें सदा देतीं न वे ।

तो फिर कहातीं किस तरह अर्धांगिनी, सुकुमारियां,

तात्पर्य्य यह–अनुरूप ही थीं नरवरों के नारियों।[3]

मैथिलीशरण गुप्त आदर्श समाज उसे मानते हैं जहाँ स्त्रियों एवं पुरूषों में समानता है। क्योंकि अर्द्धांगिनी के सहयोग के बिना पुरूष के सभी कार्य अपूर्ण हैं। इसी प्रभाव में एकाकी वन गमन के इच्छुक राम से सीता कहती है –

---

1. श्रीधर पाठक – भारत गीत – पृ0 160
2. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 146 – वर्तमान खण्ड
3. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 21 – अतीत खण्ड

मातृ–सिद्धि, पितृ–सत्य सभी, मुझ अर्द्धांगी बिना अभी–

हैं अर्द्धांग अधूरे ही, सिद्ध करो तो पूरे ही।[1]

यद्यपि मैथिली शरण गुप्त नारी की अनिवार्य सीमाओं से इन्कार नहीं करते, लेकिन वे उसे पुरूष से हीन मानने को भी तैयार नहीं हैं। संसार का त्याग करके तपस्या के उपरान्त सिद्धि लाभ करने वाले गौतम बुद्ध का उक्ति कवि की इसी भावना का परिचायक है।

दीन न हो गोपे, सुनो हीन नहीं नारी कभी

भूत दया–मूर्ति वह मन से, शरीर से।[2]

सियाराम शरण गुप्त में भी नारी के प्रति आदरकी भावना दिखाई देती है।

दुःख – दावानल मध्य सती–सीताएं आती,

भव–कानन में दूर–दूर तक ज्योति–जगाती।[3]

''पंचवटी'' खण्ड काव्य में भी नारी उत्थान स्पष्ट दृष्टिगोचर है। शूर्पणखा कहती है कि–

तो क्या अबलाएं सदैव ही

अबलाएं हैं ------ बेचारी?

होती हैं अबलाएं कितनी

प्रबलाएं अपमान विचार।[4]

हरिऔध ''वैदेही वनवास'' में सीता के चरित्र पर प्रकश डालते हुए। आधुनिक नारी उत्थान की भावना के प्रति अपना समर्थन व्यक्त निम्नोक्त शब्दों में करते हैं–

धर्म परायण पर–दुख कातरता विदित तुम्हारी है।

भवहित–साधन–सलिल–मीनता तुमको अतिशय प्यारी है

तुम हो मूर्तिमती दयालुता दीन पर द्रवित होती हो।

संसृति के कमनीय क्षेत्र में कर्मबीज तुम बोती हो।[5]

---

1. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – चतुर्थ सर्ग – पृ0 117
2. मैथिली शरण गुप्त – यशोधरा – पृ0 126
3. सियाराम शरण गुप्त – नकुल – पृ0 65
4. मैथिली शरण गुप्त – पंचवटी – पृ0 58
5. अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध – वैदेही वनवास – पृ0 61

विधवा विवाह:-

सांस्कृतिक जगत् में अभ्युत्थान की चेतना, विश्रृंखलित भारतीय समाज में व्याप्त सती-प्रथा, व्याभिचार, विलास-वासना भ्रूण-हत्या आदि अगणित बुराइयों को समाप्त करने के लिए एक तूफान सिद्ध हुआ। विधवा विवाह का पक्का समर्थन तो आर्य समाज ने ही दिया। लेकिन तत्कालीन सामाजिक जगत में जितने भी सुधारवादी समाज या संगठन बने, उन सभी का प्रमुख विषय विधवा-विवाह का प्रचार था। इन्हीं सुधारकों के प्रयास का फल था कि सन् 1956 में इसे संवैधानिक मान्यता प्राप्त हुई। फलस्वरूप विधवाओं का बढ़ता हुआ कलंक छुटा, और समाज में उन्हें आदर का स्थान प्राप्त हुआ। तद्युगीन कवियों की दृष्टि और उनकी लेखनी से जो अश्रुपात हुआ उसके प्रवाह में उसका कलंक धुमिल पड़ गया। द्विवेदी-युगीन कवियों में श्रीधर पाठक अधिकतर विधवा समस्या पर अपने विचार प्रकट करते हैं। विधवाओं के प्रति इन्हें अत्यधिक सहानुभूति थी तथा इनकी रचनाओं में उनकी कारूणिक अवस्था का हृदय विदारक चित्रण प्राप्त होता है। कवि ईश्वर से बाल विधवाओं पर दयालु होने की विनय करता है -

> प्रार्थना अब ईश की सब करहु कर जुग जोर।
> दीनबन्धु सुदृष्टि कीजै बाल-विधवा-भोर।[1]

विधवाओं की दुःखों का करूण चित्र सियाराम शरण गुप्त ने अपनी कविता "खादी की चादर में प्रस्तुत किया है। एक हिन्दू विधवा के उपेक्षित स्वरूप का वर्णन करते हुए सियाराम शरण जी कहते हैं कि -

> घर के लोग कोसते जब तक
> उसे राक्षसी कह कह कर,
> उसकी वह छोटी बच्ची भी
> खलती सबको रह रह कर।[2]

---

1. श्रीधर पाठक - मनोविनोद - पृ0 76
2. सियाराम शरण गुप्त - आर्द्रा - खादी की चादर - पृ0 104

तद्युगीन समाज में विधवाओं को समाज का कलंक समझा जाता था। किसी भी अवसर पर उन्हें उपस्थित होने का अधिकार नहीं था। यद्यपि वे जीवित थीं, पर मृतकों सा जीवन व्यतीत कर रही थीं। कवि श्रीधर पाठक का कहना है कि इस समाज के अध:पतन का कारण उनका अभिशाप ही है ।

बाल विधवा श्राप वस यह भूमि है पातक भई।
होत दु:ख अपार सजनी निरखि जग निठुराई।[1]

विधवा-नारी जीवन के सभी आवश्यक सुख-साधनों को त्यागकर समाज के अन्याय को सहन करने के लिए बाध्य कर दी जाती हैं। जिससे उसकी आतंरिक पीड़ा उसे तिल-तिल करके गलाती रहती है। इस असहाय नारी की वेदना को गोपाल शरण सिहं ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी शैली में प्रस्तुत किया है।

छाया ऐसा अन्धकार
जो नहीं हटेगा।
आया ऐसा विपत्
काल जो नहीं कटेगा
मन में ऐसा शोक
समाया जो न घटेगा
टूट टूक हो गया
हृदय, क्या और फटेगा ।[2]

विधवाओं की समस्या तत्कालीन समाज की एक बहुत बड़ी समस्या थी। द्विवेदी युग के प्रत्येक कवि ने इस पर विचार किया मैथेली शरण गुप्त विधवाओं की निरन्तर बढ़ रही संख्या से व्यथित होकर सुझाव देते हैं कि- बाल-विवाह करना छोड़ देना चाहिए ।

---

1. श्रीधर पाठक - मनोविनोद - पृ0 170
2. ठाकुर गोपाल शरण सिहं - संचिता - पृ0 130

(क) प्रतिवर्ष विधवा–दृन्द की संख्या निरंतर बढ़ रही,
रोता कभी आकाश है, फटती कभी हिलकर मही।
हा! देख सकता कौन ऐसे दग्धकारी दाह को?
फिर भी नहीं हम छोड़ते है बाल्य–वृद्ध विवाह को।[1]

(ख) दुखी बाल विधवाओं की है जो गती।
कौन सके बतला, किसकी इतनी मती।
दुख–सुख, मरना–जीना एक समान है।
जिनके जीते जी दी गयी तिलांजलि।[2]

अतः द्विवेदी–युगीन कवियों ने समाज के एक महत्वपूर्ण अंग, विधवाओं पर हो रहे नाना अत्याचारों का वर्णन तो किया, लेकिन उनके कल्याण का कोइ उचित मार्ग–निर्देशन नहीं किया। कहीं–कहीं एकाध कवियों ने अपना मत दिया, जो उचित निदान नहीं है–

पहिले तुम बालक ब्याह रीति की तोड़हु
पीछे विधवा तिय कष्ट हरन मन जोड़हु
सम्पदा सौख्य की वृद्धि सदा मन धारौ
निज पतित देश को भ्रात बेगि उद्धारौ।[3]

बाल-विवाह, – बेमेल-विवाह :–

अशिक्षा बाल विवाह जैसी कुरीतियों को जन्म देती है तत्कालीन समाज में ये कुरीते व्यापक रूप में फैली हुई थी। जिससे लोगों का नैतिक स्तर नित्य प्रति स्खलित होता जा रहा था। इसके सुधार में नैतिक उत्थान आवश्यक था। नैतिक उत्थान से ही विकृत मस्तिष्क चेतनशील हो सकता था।

---

1. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 150 – वर्तमान खण्ड
2. श्रीधर पाठक – मनोविनोद – पृ0 76
3. सरस्वती – नवम्बर–1900 – पृ0 369 – श्रीधर पाठक

द्विवेदी युगीन कवियों और लेखकों ने इस कुरीति के विरोध में बड़ी ओजस्वी कवितायें लिखी। इन कवियों पर आर्य समाज एवं ब्रह्म समाज का प्रभाव दिखाई देता है। द्विवेदी युगीन कवि नाथूराम शर्मा "शंकर" का कहना है कि विवाह एक अत्यन्त सुकुमार संस्था है, जिसे खिलवाड़ समझ कर "दो जीवनों" की हत्या कर देना हमारे समाज के लिए एक साधारण बात हो गयी है। बाल-विवाह की हानियें को बता कर कवि समाज से इस प्रकार के उन्मूलन की कामना करता है।

बाधक बाल–विवाह, कुमारों का बल खोता है।
अमर कुलों में हाय वंशघाती विष बोता है।
बुरा काको दर पाला है।[1]

बाल विवाह के कारण समाज मे व्यभिचार पनपता है, अनेक बाल विवाहिता लड़कियों के पति अल्पायु में ही काल के ग्रास बन जाते है, इन कन्याओं ने अपने पति का मुंह भी नहीं देखा होता था। किन्तु वे विधवा हो जाती थी और आजीवन चोरी–छिपे कामी समाज की कामाग्नि शमन का साधन बनती थी। ऐसी ही बाल विधवा के सन्दर्भ में शंकर कहते हैं कि –

अक्षत योनि अनेक बालिका विधवा होती हैं,
पामर पंडित, पंच पिशाचों को सब रोती हैं
न गौना हुआ न पाला है।[2]

गुप्त जी आर्य समाज से प्रभावित थे, उन्होंने "भारत–भारती" में बाल–विवाह का विरोध किया है।

---

1. शंकर सर्वस्व – पृ0 263
2. शंकर सर्वस्व – पृ0 263

(क) अल्पायु में हैं हम सुतों का ब्याह करते किसलिए।
गृहस्थ का सुख शीघ्र ही पाने लगे वे, इसलिए।
वात्सल्य है या बैर है यह, हाय। कैसा कष्ट है?
परिपुष्टता के पूर्व ही बल–वीर्य होता नष्ट है।[1]

(ख) कितना अनिष्ट किया हमारा हाय।बाल्य-विवाह ने,
अन्धा बनाया है हमें उस नातियों की चाह ने।
हा। ग्रसलिया है वीर्य्य–बल को मोह रूपीग्राह ने,
सारे गुणों को है बहाया इस कुरीति–प्रवाह ने।[2]

गुप्त जी की सुधारात्मक दृष्टि बहु-विवाह जैसी कुरीति पर आ गयी। "पंचवटी" खण्ड काव्य में उनका आर्य समाजी दृष्टिकोण बहु विवाह निषेध के लिए व्यक्त हुआ है।

पाप शान्त हो, पाप शान्त हो, कि मैं विवाहित हूँ बाले
पर क्या पुरूष नहीं होते है दो–दो दाराओं वालें ?
नरकृत शास्त्रों के सब बन्धन, हैं नारी को ही लेकर
अपने लिए सभी सुविधाएं, पहले ही कर बैठ नर।[3]

दहेज प्रथा का विरोधः–

आर्य समाज ने दहेज प्रथा जैसी विकराल सर्पिणी का मुंह कूचने का जो कार्य किया उससे इसका अंत तो नहीं हुआ, वो और फुफकार मारने लगी समाज में रोज ही कुछ कन्यायें इस सर्पिणी के दंश से दम तोड़ती रही । द्विवेदी कालीन कवि ठाकुर गोपाल शरण सिहं इस सामाजिक कुरीति से दुखी हुए, इसका उन्होंने विरोध भी किया।

---

1. मैथिली शरण गुप्त – भारती–भारती – पृ0 149 – वर्तमान खण्ड
2. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 148 वर्तमान खण्ड
3. मैथिली शरण गुप्त – पंचवटी – पृ0 2

भगवान हिन्दू जाति का उत्थान कैसे हो भला
नित यह कुरीति दहेज वाली घोंटती उसका गला।
सुकुमारियां वे भोगती हैं यातना कितनी बड़ी
जो पूर्ण यौवन काल में भी है बिना ब्याही पड़ी
अगणित कुटुम्बों का किया इस राक्षसी ने नाश है।
तो भी बुझी न अभी अहो, इसकी रूधिर की प्यास है।[1]

गुप्त जी ने भी "भारत–भारती" में दहेज प्रथा पर अच्छा व्यंग्य लिखा है।

बिकता कहीं वर है यहां, बिकती तथा कन्या कहीं,
क्या अर्थ के आगे हमें अब इष्ट आत्मा भी नहीं ?
हा! अर्थ, तेरे अर्थ हम करते अनेक अनर्थ हैं–
धिक्कार, फिर भी तो नहीं सम्पन्न और समर्थ हैं?[2]

पाखण्ड-आडम्बर का विरोधः–

स्वामी दयानन्द सरस्वती मूलतः वैदिक धर्म के प्रचारक थे। इन्होंने हिन्दू धर्म में समाहित अंध विश्वास और अज्ञान को दूर करने के लिए हरिद्वार के कुंभ में "पाखण्ड खंडिनी पताका" लगाकर यात्रियों को धर्म का गूढ़ रहस्य समझाकर देश में धूम मचा दी थी। रूढ़ियों और अंध विश्वासों के खिलाफ आपका अनुशासनात्मक कार्य प्रणाली हिन्दू धर्म को बचाने में सफल सिद्ध हुआ। द्विवेदी युग के कवियों ने भी पाखण्ड और आडम्बर पर बहुत कुछ लिखा। मैथिलीशरण गुप्त ने साधु संतों के आडम्बर युक्त चरित्र पर कटु व्यंग्य करते हुये लिखा है कि–

वे भूरि संख्यक साधु जिनके पन्थ–भेद अनन्त हैं–
अवधूत, यति, नागा, उदासी, सन्त और महन्त हैं।
हा! वे गृहस्थों से अधिक हैं आजरागी दीखते,
अत्यल्प ही सच्चे विरागी और त्यागी दीखते।[3]

---

1. ठाकुर गोपाल शरण सिहं – सरस्वती – खण्ड –14 संख्या–1 सन् 1913
2. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 150 वर्तमान खण्ड
3. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 138 वर्तमान खण्ड

संतो की परिभाषा तो अब जटाओं तक ही आ गयी है। कितना कटु व्यंग्य है कि जिस दिन भी भूखों मरने लगे उसी दिन से साधु हो गये। ऐसे अकर्मण्य पुरूषों के बारे में गुप्त जी लिखते है कि –

जो कामिनी–कांचन न छूटा फिर विराग रहा कहाँ ?
पर चिन्ह्न तो वैराग्य का अब है जटाओं में यहाँ?
भूखों मरे कि जटा रखाकर साधु कहलाने लगे,
चिमटा लिया, "भस्मी" रमाइ, मांगने खाने लगे।[1]

दयानन्द सरस्वती मूर्ति पूजा के विरोधी थे। अतः इन्होंने मन्दिर और महन्त पर भी आडम्बर प्रिय एवं भोली जनता को पथ भ्रष्ट करने वाला वर्ग बताया । गुप्त जी "मन्दिर और महन्त" शीर्षक कविता में लिखते है कि–

(क) अड्डे अखाड़े बन रहे है ईश के आवास भी,
आती नहीं है लोक लज्जा अब हमारे पास भी।
× × × ×
हा! पुण्य के भण्डार में है भर रहीं अघ–राशिया,
है देव आप महन्त जी, देवियां है दासियाँ।
तन,मन तथा धन भक्त जन अर्पण किया करते जहाँ
वे भण्ड साधु सु–कर्म्म का तर्पण किया करते वहाँ।।[2]

(ख) वे तीर्थ–पण्डें है जिन्होंने स्वर्ग का ठेका लिया,
है निन्ध कर्म्म न एक ऐसा हो न जो उनका किया।
वे है अविधा के पुरोहित, अविधि के आचार्य्य हैं,
लड़ना–झगड़ना और अड़ना मुख्य उनके कार्य हैं।[3]

---

1. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 39
2. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 138 – वर्तमान खण्ड
3. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 137 वर्तमान खण्ड

जाति–पाति का विरोधः–

आदमी और आदमी के बीच बढ़ती हुई दूरी एक कुरूप समस्या थी, इसी समस्या पर विचार करते हुए गुप्त जी कहते हैं कि 'हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी' इस अकल्पित स्थिति पर उनका ये कहना कि "आओ जरा मिलकर विचारे ये समस्यायें सभी" स्पष्ट है उनकी सबसे बड़ी समस्या क्या थी? भारत की जातीय एकता की समस्या। इस समस्या से भी समाज–सुधारक एक समान रूप से चिन्तन थे। सर्व प्रथम दृष्टि राजा राम मोहन राय की पड़ी। इस सामाजिक कोढ़ को दूर करने में उन्होंने जो कुछ भी किया। वह स्तुत्य है। इसके बाद इस कुरीति को दूर करने के लिए दयानन्द सरस्वती, महात्मागांधी अरविन्द आदि सभी ने अपने–अपने तर्क प्रस्तुत किये। इन सामाजिक आन्दोलनों से प्रभावित द्विवेदी –युगीन कवियों ने भी जमकर अपनी लेखनी जाति–पांति, छुआ–छूत अस्पृस्यता आदि पर चलाई। क्योंकि जातीय भेद–भाव और छुआ–छूत का उन्मूलन किये बिना समाज शक्ति का पुनरूज्जीवन नहीं हो सकता था। इस छुआ–छूत ने सामाजिक बल को छल लिया है। जाति–पांति ने सुख–सूत्र को जलाकर नष्ट कर दिया है। इसलिए इन घातक समाज शत्रुओं का नाश आवश्यक है।

सामाजिक बल को लग बैठी छल की छूत–अछूत।
जलकर जांति–पांति ने तोड़ा सुख साधन का सूत ।।[1]

सियाराम शरण गुप्त ने "आत्मोत्सर्ग" और "नोआखली" काव्य कृतियों में साम्प्रदायिक कट्टरता का खण्डन किया है। तथा हिन्दू मुस्लिम ऐक्य सम्बन्धी विचार भी व्यक्त किया है। धर्म सम्बन्धी बातों में वे गांधी जी के विचारों से पूर्णतया सहमत थे और जहाँ तक हिन्दू और मुस्लिम का प्रश्न है उन्हें भाइ के रूप में चित्रित किया है। उनके इस प्रयास में गांधीवाद की मानवतावादी दृष्टि स्पष्ट है।

---

1. नाथूराम शर्मा "शंकर" – शंकर सर्वस्व – पृ0 15

(क) अरे भाइयों, कुछ तो सोचो,
यह क्या करने जाते हो।
शत्रु नहीं, सम्मुख हैं भाइ,
किन पर हाथ उठाते हो।[1]

(ख) नहीं दूसरा है वह कोई,
उसे रहीम कहो या राम,
भिन्न उसे कर सकते हो क्या?
देकर भिन्न-भिन्न कुछ नाम।[2]

(ग) हिन्दू-मुसलमान दोनों ही
एक डाल के हैं दो फूल,
और एक ही हैं दोनों का
बड़ा बनाने वाला मूल ।[3]

केवल धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, वरन् सामाजिक क्षेत्र में भी द्विवेदी-युगीन कवियों ने हिन्दू-मुसलमान, पारसी तथा अन्य जातियों के मध्य पारस्परिक एकता का संदेश दिया है। उनका मानना है कि सभी मनुष्य एक ही परमपिता की सन्तान है।

जो ईश कर्त्ता है हमारा दूसरों का भी वही,
है कर्म भिन्न परन्तु सबसे तत्व समता हो रही।[4]

यह तथ्य समझाते हुए गुप्त जी ने हिन्दुओं को वर्ण भेद मिटाकर एक होने का उपदेश दिया-

---

1. सियाराम शरण गुप्त - आत्मोत्सर्ग - पृ0 19
2. सियाराम शरण गुप्त - आत्मोत्सर्ग - पृ0 21
3. सियाराम शरण गुप्त - आत्मोत्सर्ग - पृ0 56
4. मैथिली शरण गुप्त - भारत-भारती - पृ0 27 - अतीत खण्ड

व्यापकता से होकर भ्रष्ट,
न करो संकुचितता में नष्ट,
वर्ण भेद का अनुचित भाव
करे न हिन्दूपन पर घाव।[1]

वैर विग्रह ही हिंसा की प्रवृत्ति को जन्म देता है। इसलिए इसे त्याग कर एक हो जाना चाहिए –

तुम अभिन्न हो न हो विभिन्न
रहो न हम सबसे खिन्न
आपस का विरोध या ग्लानि
करती है दोनों की हानि।[2]

एकता के अभाव में ही साम्प्रदायिक दंगे होते है, ऐसे ही साम्प्रदायिक दंगों में अनेकों बेकसूर मारे जाते हैं। कानपुर के साम्प्रदायिक दंगों की रोकथाम के लिए गणेश शंकर विद्यार्थी को बलिदान देना पड़ा था। कवि हृदय इस प्रकार की अमानुषिक घटनाओं को बर्दास्त नहीं कर पाता। आकुल कवि जनता को सद्बुद्धि देते हुए कहता है–

अब मत भोगो अपने हाथों
अरे बहुत तुमने भोगा
हिन्दू–मुसलमान दोनों का
यह संयुक्त राष्ट्र होगा।[3]

एकता की शक्ति में ही कर्म की सफलता निहित है। यह समझाते हुए गुप्त जी भारत–भारती में कहते है कि –

---

1. मैथिली शरण गुप्त – हिन्दू – पृ0 175
2. मैथिली शरण गुप्त – हिन्दू – पृ0 348
3. सियाराम शरण – आत्मोत्सर्ग – पृ0 61

(क) सब वैर और विरोध को बल बोध सेवारण करो,
है। भिन्नता में खिन्नता ही एकता धारण करो।
है कार्य ऐसा कौन सा साधे न जिसको एकता।[1]

(ख) आओ, मिलें सब देश–बान्धव हार बनकर देश के–
साधक बनें सब प्रेम से सुख–शान्तिमय उद्‌देश्य के।
क्या साम्प्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो !
बनती नहीं क्या एक माला विविध सुमनों की कहो ?[2]

भारत–भारती में गुप्त जी ने शूदों की जिनकी स्थिति–तद्‌युगीन भारतीय समाज में बड़ी ही दयनीय थी, को आदरास्पद पद का अधिकारी मानते हुए कहते हैं कि –

उत्पन्न हो तुम प्रभु पदों से जो सभी को ध्येय है ।
तुम हो सहोदर सुरसरी के चरित जिसके गये है।

आधुनिक युग के विचारकों एवं सुधारकों का यह प्रयास था कि अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया जाय। गांधी जी का योगदान इसमें सबसे महत्व का हैं। उन्होंने अछूतों को "हरि" के "जन" कहकर इनके प्रति भ्रातृ भाव जागृत करने का प्रयास किया। अछूतों के उद्धार के विषय को लेकर हरिऔध जी का कवि हृदय करूणार्द्र हो उठता है।

पावं छू छू उनके तेरे हैं छितितल पापी,
और हम छांह से अछूत की हैं हटते।[3]

इसी प्रकार का एक यथोथ वर्णन सियाराम शरण जी ने "एक फूल की चाह" नामक कविता में प्रस्तुत किया है। अछूतों के लिए मन्दिर में प्रवेश वर्जित है इसके कारण ज्वर में तप्त

---

1. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 167
2. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 167
2. अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध – कल्पलता – पृ0 8

बेटी की आकांक्षा को पूर्ण करने में असमर्थ अछूत पिता का स्वर निराशा और क्षोभ से भर उठता है।

मैं अछूत हूँ, मुझे कौन हा ।
मन्दिर में जाने देगा
देवि का प्रसाद ही मुझको
कौन यहाँ लाने देगा ।[1]

अछूत मनुष्य की ऐसी क्षोभ और निराशा को देखकर गुप्त जी हिन्दू समाज की जर्जर और जीर्ण मान्यताओं को दूर करने के लिए अछूतों के प्रति समान भाव रखने की प्रेरणा देते है ।

रहो न हे हिन्दू संकीर्ण
न हो स्वयं ही जर्जर जीर्ण ।
बढ़ो, बढ़ाओ अपनी बाँह,
करो अछूत जनों पर छाँह।[2]

"पंचवटी" खण्ड काव्य में राम और गुह–निषाद की प्रेम भावना का वर्णन कवि ने गांधी वादी विचारधारा से प्रभावित होकर किया है।

गुह, निषाद, शवरों तक का मन,
रखते हैं, प्रभु कानन में,
इन्हें समाज नीच कहता है
पर हैं ये भी तो प्राणी।[3]

इस प्रकार समाज के उपेक्षित और कमजोर समझे जाने वाले वर्गों के पात्रों को गुप्त जी ने पूरी सावधानी से चुनकर अपनी सहानुभूति का भागीदार बनाया है।

---

1. सियाराम शरण गुप्त – आर्द्रा – एक फूल की चाह – पृ0 45–46

गो–रक्षाः–

द्विवेदी युग–सुधारवादी प्रवृत्ति को आत्मसात करने का युग था। मानवतावादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप यह युग हर क्षेत्र में सुधार लाना चाहता था। तत्कालीन प्रचलित गो–बध के विरोध में सुधारवादी समाजों ने जो आवाज उठाई उसकी प्रति ध्वनि हमें द्विवेदी युगीन कवियों में सुनने को मिलती है। आर्य समाज ने गो रक्षा को परमधर्म माना स्वामी जी ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों मे गो–रक्षा तथा संवर्द्धन को अपने शेष जीवन का प्रमुख कार्य बना लिया। इसलिए "गो–करूनानिधि नामक ग्रंथ लिखा। हिन्दू धर्म में गो हत्यों निषिद्ध कर्म है। हिन्दू गौ को मां की संज्ञा देते है। द्विवेदी युग के कवि श्री नाथूराम शर्मा "शंकर" ने गो–वध न करने के लिए बुद्धिवादी तार्किक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहते है कि – गायों की कमी से दूध–दही की कमी होगी, बछड़ो की कमी होगी और बछड़ो की कमी से कृषि कार्य में बाधा होगी और इस प्रकार दारिद्रय की वृद्धि होगी।

> हा दिन–रात ढोर कटते है, जीवन के साधन घटते है,
> दूध–दही पर गाज पड़ी है, झेल रहे कुछ मार कड़ी है।
> दी गोपाल सुयश पर स्याही।[1]

गो–वध पर गुप्त ने भारत–भारती में विस्तृत रूप से चर्चा की है। गो–वध से उत्पन्न हुई समस्या भारतीय समाज की बहुत बड़ी समस्या है। क्योकि भारत कृषि प्रधान देश है, और तत्कालीन कृषि, यांत्रिक प्रणाली से दूर बछड़े पर निर्भर थी। ऐसे समाज में जहॉं कृषि ही अर्थोपार्जन का मुख्य साधन हो, और भूमि परती पड़ी हो, उस समाज की कुदशा के बारे में क्या कहना–

> है कृषि–प्रधान प्रसिद्ध भारत और कृषि की यह दशा ।
> होकर रसा यह नीरसा अब हो गयी है कर्कशा ।
> अच्छी उपज होती नहीं है, भूमि बहु परती पड़ी,
> गो–वंश का वध ही यहां है याद आता हर घड़ी ।[2]

---

1. नाथूराम शर्मा "शंकर" – शंकर सर्वत्व – पृ0 207
2. मैथिली शरण गुप्त – भारत–भारती – पृ0 108 वर्तमान खण्ड

(क) ब्रह्म विचार प्रचार, ध्यान शंकर का धरना।
जाल प्रपंच पसार, न पूजा जड़ की करना ।[1]

(ख) जड़–पूजा की जड़ न रहेगी, ग्रन्थों की गड़बड़न रहेगी।[2]

कवि श्री ''शंकर'' ने अपनी रचना ''गर्भ–रण्डा–रहस्य'' में मूर्ति पूजा को त्याग कर अखिलाधार परमेश्वर का साक्षात्कार करने की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है।

जो सबका करतार, अजन्मा अजरामर है।
अखिलाधार, अखण्ड, विश्वपति, विश्वम्भर है।
मैं उस मंगल मूल, जनक से मेल करूंगी।
अब न खिलौने पूज, कपट का खेल करूंगी।[3]

बीसवीं शताब्दी में प्राचीन भावों, विचारों और संस्कारों का नवीकरण हो रहा था। अवतारवाद पर बुद्धिवाद का गाढ़ा रंग पोत दिया गया। आर्य–समाज और ब्रह्म समाज ने अवतारवाद का खण्डन किया। फलस्वरूप राम, कृष्ण, बुद्ध, सीता, राधा, शंकर और पार्वती आदि सब अपनी लोकोत्तरत्व त्यागकर लोक कल्याण के अनुकरणीय पात्रों के रूप में काव्य में स्थान पाने लगे थे। भगवान अब मन्दिरों की अपेक्षा दीनों, दुखियों और पीड़ितों के बीच तथा झोपड़ियों में खोजा जाने लगा। भक्ति के पारम्परिक रूप में अब मानवता स्थापित हो गयी। इस मानवतावादी दृष्टि ने कवियों को उदार और व्यापक दृष्टि दी तथा अध्यात्मिक संबल भी दिया। अब भगवान कृषकों के पसीने में और पतितों की पीड़ा में दिखाइ देने लगा। मुकुटधर पाण्डेय ने लिखा है –

खोज में हुआ वृथा हैरान, यहाँ ही था तू है भगवान,
दीन–हीन के अश्रुनीर में, पतितों की परिताप पीर में
सरल स्वभाव कृषक के हल में, श्रम सीकर से सिंचित धन में, तेरा मिला प्रमाण।[4]

---

1. नाथूराम शर्मा शंकर – अनुराग रत्न – पृ0 97
2. नाथूराम शर्मा शंकर – अनुराग रत्न – पृ0 51
3. नाथूराम शंकर – गर्भ रण्डा रहस्य – पृ0 56
4. सरस्वती खण्ड – 18 – सख्या –6 , 1917

पाण्डेय जी को ईश्वर की झलक निम्नलिखित रूपों में मिली –

वाद विहीन उदार धर्म में, समता पूर्ण ममत्व मर्म में।
× × × × ×
वन्य कुसुम के शुचि सुवास में, था तव क्रीड़ा स्थान।
देखा मैंने यहीं भुक्ति थी, यही भोग था यही मुक्ति थी
घर में ही सब योग युक्ति थी, हुआ न तो भी ज्ञान।[1]

"ईश्वर" इस युग में मानव–मात्र का सामान्य आलम्बन हो गया। गुप्त जी "सिद्धराज" में लिखते हैं कि –

मन्दिर का द्वार जो खुलेगा सबके लिए
होगी तभी मेरी वहां विश्वम्भर भावना।[2]

मूर्ति पूजा–विरोध का ही प्रभाव था कि हरिऔध और गुप्त के राम, कृष्ण, राधा और सीता हमारे सम्मुख परम्परागत अवतारों या ब्रह्म स्वरूप में अवतारित न होकर परोपकारी मानव रूप में उपस्थित हुए हैं हरिऔध ने कृष्ण और राधा का जो रूप उपस्थित किया, उसमें प्राणी मात्र की हित–संवर्द्धना, लोक सेवा परोपकारी, परदुखकातरता दुराचारियों का शमन ही प्रमुख है –

रोगी दुखी विपद – आपद में पड़ो की
सेवा सदैव करते निज हस्त से थे।
ऐसा निकेत ब्रज में न मुझे दिखाय।
कोई जहां दुखित हो और वे न होवें।[3]

कवि की दृष्टि में जाति और देश के प्रति प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है, कि वह उसके सम्मान एवं गौरव को स्थायी बनाये रखे। इसलिए श्री कृष्ण में स्वजाति के संकट को उबारने की कर्तव्य निष्ठा है।

---

1. सरस्वती खण्ड – 18 संख्या – 6, 1917
2. मैथिली शरण गुप्त – सिद्धराज – पृ0 20
3. अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध – प्रिय प्रवास – 12/87

विपत्ति से रक्षण सर्व भूतका

सहाय होना अ-सहाय जीव का

उबारना संकट से स्वजाति का

मनुष्य का सर्व-प्रधान धर्म है।[1]

श्री गुप्त ने भी अवतारवाद के निषेध के अनुपालन में राम को एक महापुरूष ही माना है।

राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?

विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?

तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,

तुम न रमो तो मन, तुममें रमा करे।[2]

वेद प्रचारः-

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों के महत्व को विश्व-विश्रुत बताया। गुप्त जी ने भारत-भारती में लिखा -

जिसकी महत्ता का न कोई पा सका है भेद ही,

संसार में प्राचीन सबसे है हमारे वेद ही।।

प्रभु ने दिया यह ज्ञान हमको सृष्टि के आरम्भ में,

है मूल चित्र पवित्रता का सभ्यता के स्तम्भ में।[3]

इस प्रसंग में हरिऔध की "धर्मवीर", "वेद और धर्म" तथा "वेद है", कवितायें अवलोकनीय है। इनमें कवि ने वेद को बौद्धों, ईसाईयों तथा मुसलमानों के धार्मिक ग्रंथों का मूल स्रोत तथा अंधकार युग में जब संसार अचेत पड़ा हुआ था, तब उनका प्रकट होना बतलाया है।

---

1. अयोध्या सिहं उपाध्याय हरिऔध - प्रिय प्रवास - 11/85
2. मैथिली शरण गुप्त - साकेत -
3. मैथिली शरण गुप्त - भारत-भारती - पृ0 41 - अतीत खण्ड

वेद अथवा वेद मंत्रों का पढ़ना–पढ़ाना, तथा उनका प्रचार करना भी आलोच्य कविताओं का विषय है। मैथिली शरण गुप्त अपनी प्रथम कृति "रंग में भंग" में लिखते है –

विप्रवर पढ़ने लगे तब वेद मंत्र विधान से।
वर–वधू शोभित हुए एक रूप–विधान से।[1]

स्वामी दयानन्द का नारा था "वेदो की ओर लौटे"। गुप्त जी के साकेत में भी यही स्वर गूंजता सुनाई देता है –

उच्चारित होती चले वेद की वाणी,
गूँजै गिरि–कानन–सिन्धु–पार कल्याणी।
अम्बर में पावन होम–धूप घहरावे
वसुधा का हरा दुकूल भरा लहरावे।[2]

मानवता की इसी पुर्न प्रतिष्ठा के लिए महर्षि दयानन्द ने मानव मस्तिष्क को वैदिक कालीन संस्कृति की ओर उन्मुख किया था। जिससे समस्त संकीर्ण भावनाओं से उपर उठकर मानव एकता स्थापित हो सके। इसके पश्चात वेदान्त के आधार पर स्वामी विवेकानन्द ने अध्यात्मिक क्षेत्र में, अनुभूति के आधार पर रवीन्द्र नाथ ने सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र में इसका प्रवतन किया।[3] इस उद्देश्य से गांधी ने मानवता वाद की प्रतिष्ठा को अपने जीवन दर्शन का मुख्य आधार बनाया इस जीवन दर्शन की स्थापना उन्होंने सत्य और अहिंसा के आधार भित्ति पर किया। यही नही गांधी ने सम्पूर्ण विश्व को यह सन्देश दिया कि सत्य, अहिंसा एवं प्रेम से ही विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित हो सकती है। गांधी कर्म को प्रधानता देते थे। उनका मानना था कि "इस संसार में रहते हुए अपने कर्तव्य का पालन करने में ही धर्म की उपलब्धि हो सकती है। जो आदमी स्वयं शुद्ध हैं, किसी से द्वेष नहीं करता, किसी से नाजायज फायदा नहीं उठता सदा पवित्र मन रहकर व्यहवार करता है वह आदमी धार्मिक है।[4]

---

1. मैथिली शरण गुप्त – रंग में भंग – पृ0 9
2. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – अष्टम सर्ग – पृ0 235
3. डा0 कमला कान्त पाठक – मैथिली गरण गुप्त व्यक्ति और काव्य – पृ0 115
4. महात्मा गांधी – मेरा जीवन या अहिंसा की परीक्षा या सिद्धान्त – पृ0 57

गांधी वाद का प्रभाव –

द्विवेदी युगीन समाज में विकसित गांधीवादी प्रवृत्तियों में प्रमुख रूप से राष्ट्रप्रेम, देश के अतीत का चित्रण, उदार राष्ट्रीयतावाद और गांधी का विश्व मानववाद सम्मिलित है। तद्‌युगीन कवियों पर इस गांधेय प्रवृत्ति का भरपूर प्रभाव पड़ा। इस युग में जड़ जमाने वाली भावनाओं में राष्ट्रीयता सर्वप्रधान थी, इसकी बुनियाद राजनीतिक चेतना तथा सांस्कृतिक पुनरूत्थान के अन्तर्गत निहित थी। त्याग और तपस्या पर आश्रित राष्ट्र-प्रेम के इस युग के सभी गांधी वादी कवियों ने अपने हृदयान्तराल से निःसृत स्वर प्रदान किये हैं। "जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसि" कह कर गाँधीवादी साहित्यिक देवदूत यहीं नहीं रूके, बल्कि अपनी जननी जन्मभूमि का देवीकरण भी किया। भारतमाता को सरस्वती, दुर्गा आदि रूपों में देखा गया। साथ ही साथ पराधीनता की बेड़ी की जकड़ को भी तोड़ने का स्तुत्य प्रयास दिखाई देता है। द्विवेदी युग की राष्ट्रीयता साम्प्रदायिकता एवं प्रान्तीयता से परे उदार एवं विशाल राष्ट्रीयता है।

गांधी दर्शन में प्रयुक्त सिद्धान्तों को गांधी ने स्वतः उपार्जित नहीं किया था, अपितु ये भारत की प्राचीन संस्कृति के ही एक नवीन संस्करण हैं। इसे स्वयं गांधी ने भी स्वीकार किया है। नये सिद्धान्तों को जन्म देने का दावा मैं नहीं करता मैं तो केवल अपने ढंग पर सनातन सत्यों को दैनिक जीवन और समस्याओं पर लागू करने का प्रयास किया है।[1] डा० पट्टाभि सीता रमैया ने लिखा है कि गांधीवाद वस्तुतः भारत की उस आचार परक आध्यात्मिक जीवन दृष्टि तथा सांस्कृतिक परम्परा का आधुनिक परिस्थितयों के अनुकुल एवं संशोधित संस्करण है, जो शताब्दियों से सत्य अहिंसा, प्रेम, सेवा, त्याग, सहिष्णुता, अस्तेय अपरिग्रह आत्मसंयम आदि नैतिक मूल्यों को भौतिक जीवन मानों की अपेक्षा अधिक काम्य और वरेण्य मानती आई है।[2]

द्विवेदी–युग गांधी वादी नैतिक मुल्यों से प्रभावित रहा। इस युग में राष्ट्रीय भावना का प्रसार हुआ।

---

1. गांधी – हरिजन – 28 मई – 1936
2. बी0 पट्टाभि सीता रमैया – गांधी और गांधी वाद – भाग – 1 – पृ0 28

तद्‌युगीन कवियों ने अतीत का गौरव गान किया। इस युग के कवियों ने अतीत के दर्शन, कला, साहित्य, विज्ञान और समृद्धि का विशद गान किया है –

यह पुण्यभूमि प्रसिद्ध है इसके निवासी आर्य है,
विद्या, कला–कौशल्य सब के जो प्रथम आचार्य है।
× × × ×
हैं रह गये यद्यपि हमारे गीत आज रहे सहे,
पर दूसरों के भी वचन साक्षी हमारे हो रहे।
× × × ×
संसार को पहले हमीं ने ज्ञान शिक्षा दान की,
अचार की, व्यापार की, व्यवहार की, विज्ञान की ।[1]

पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी की "जन्मभूमि", वन्देमातरम्", "प्यारा वतन" और "आर्यभूमि" आदि रचनाओं में अपनी जन्मभूमि और उसके अतीत के गौरव गान की प्रवृत्ति के दर्शन होते है।

(क) जन्मभूमि की बलिहारी है
यह सुरपुर से भी प्यारी है ।

(ख) देखी वस्तु विश्व की सारी
जन्मभूमि सम एक न न्यारी ।[2]

(ग) वन्दे मातरम्
तू ही धर्म, कर्म भी तू ही, तू ही विद्यावानी है।
तू ही हृदय, प्राण भी तू ही तू ही गुणगण खानी है ।
बाहु शक्ति तू ही मम तेरी भक्ति महा मनमानी है।
प्रतिघट, प्रतिमन्दिर के भीतर तू ही सदा समानी है।[3]

---

1. मैथिली शरण गुप्त – भारत भारती पृ0 15, 17, 26 – (अतीत खण्ड)
2. सरस्वती – फरवरी, मार्च – द्विवेदी काव्य माला– जन्मभूमि – पृ0 368
3. सरस्वती – फरवरी, मार्च – वन्देमातरम् – पृ0 384

द्विवेदी युगीन काव्य के अनुशीलन से स्पष्ट है कि काव्य प्रणयन में गांधीवादी विचार धारा प्रेरक तत्व के रूप में रही है। निःसन्देह राष्ट्रीय जागरण के पीछे गांधी का व्यक्तित्व काम कर रहा था। अतः इनके प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है। द्विवेदी युगीन काव्य में गांधीवादी जिन सिद्धान्तों को अपनाया उसमें–सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, प्रेम, दया, परोपकार आदि प्रमुख है।

सत्य –

गांधी एक ऐसे साधक थे, जिसका अन्तिम लक्ष्य सत्य का संधान करना था। उस सत्य को प्राप्त करने के लिए गांधी ने अहिंसा मार्ग अपनाया तथा अहिंसा पालन के लिए उन्होंने आत्मशुद्धि पर विशेष बल दिया। आत्मशुद्धि के लिए उन्होंने तप एवं त्याग का महत्व बताया है। क्योंकि तप से मानसिक विकारों का शमन होता है तथा त्याग से प्राणि-मात्र के प्रति सद्भाव जागृत होता है। इस सूत्र के अनुरूप गुप्त जी ने राम के चरित्र का वर्णन किया है। साकेत में वे कहते है कि –

सत्य से ही स्थिर है संसार,
सत्य ही सब धर्मों का सार,
राज्य ही नहीं प्राण परिवार
सत्य पर सकता हूँ सब वार।[1]

सभी परिस्थितयों में समभाव रहने वाले श्री राम में सत्य धर्म पालन का श्रेष्ठ भाव भी गुप्त जी ने समाहित किया है।

सत्य धर्म का श्रेष्ठ भाव भरते हुए
जन–समूह को स्वयं शान्त करते हुए,
विपिनातुर वे किसी भांति आगे बढ़े
पहुँचे रथ से प्रथम, मनोरथ पर चढ़े।[2]

सियाराम शरण गुप्त ने अपनी काव्य कृति "वापू" में महात्मा गांधी के सत्य अहिंसा सिद्धान्त

---

1. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – द्वितीय सर्ग – पृ0 – 64
2. मैथिली शरण गप्त – साकेत – पंचम सर्ग – प0 – 128

का तात्विक विवेचन प्रस्तुत किया है। कवि ने गांधी के सत्य ,अहिंसा के अमृत से भारत का उद्धार करते हुए चित्रण किया है। –

ऊर्जस्वित, सत्य के अहिंसा के अमृत से,
मुक्त, छल छद्म के अनृत से।
बोला या कोई मंत्र द्रष्टा ऋषि नूतन में।[1]

गांधी जी प्रेम और सत्य को महान अस्त्र मानते थे। वे अहिंसक क्रान्ति के अग्रदूत थे।

प्रेम की पताका लिए कर में,
निर्भय निरस्त्र बढ़ा सत्य के समर में।[2]

अहिंसा –

अहिंसा के सन्दर्भ में गांधी जी का कहना है, कि पशुता का पशुता से, और हिंसा से हिंसा का निराकरण नहीं हो सकता–कीचड़ धोने के लिए कीचड़ नहीं, बल्कि जल की आवश्यकता होती है। इसलिए हिंसा से हिंसा करके शांन्ति नहीं प्राप्त की जा सकती। समस्त हिंसात्मक कार्यो की समस्या का समाधान अहिंसा से ही संभव है। सियाराम शरण गुप्त भी गांधी के इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहते है कि –

हिंसानल से शांत नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है, वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।[3]

श्री मैथिली शरण गुप्त भी अहिंसा के भाव से भरे हुए थे। वे प्राचीन भारतीय इतिहास में महापुरूषों के अहिंसा जन्य व्यहवारों से अत्यन्त प्रभावित दीखते हैं। ''हिन्दु'' की भूमिका में उनका कथन है कि – ''जातकों में हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि महानुभावों

---

1. सियाराम शरण गुप्त – वापू – पृ0 – 18
2. सियाराम शरण गुप्त – वापू – पृ0 – 55
3. सियाराम शरण गुप्त – उन्मुक्त – पृ0 – 163

ने अपने आततायियों को क्षमा कर दिया है। ईश्वरात्मज यीशु भी हमें स्वर्ग का सन्देश सुना गये है कि "यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुरन्त दूसरा गाल उसके सामने कर दो।"[1] साकेत में गुप्त जी लिखते हैं कि –

पावें तुमसे आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा,
जिसका अर्थ हो दण्ड और इति दया–तितिक्षा।[2]

गुप्त जी के तीनों बौद्ध काव्यों (अनघ, यशोधरा, कुणालगीत) में अहिंसा के तत्व प्राप्त होते है। जो उनकी मानवतावादी, गांधीवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। गुप्त जी यशोधरा में वेदकालीन हिंसात्मक कर्मकाण्ड पर व्यंग्यात्मक ढ़ंग से प्रहार किया है।

वह कर्म–काण्ड–ताण्डव–विकास,
वेदी पर हिंसा– हास–रास,
लोलुप–रसना का लोल–लास,
तुम देखो ऋक् यजु और साम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम।[3]

गांधी जी का उद्देश्य दानव हुये मानव में दानवत्व शांत कर मानवता को ही जगाना है। हिंसा का भाव किन्हीं भी परिस्थितियों में उचित नहीं। इसलिए कवि गुप्त पराधीनता के असह्य दुःख को झेलने वाली भारतीय जनता को रक्त–रंजित क्रांति के लिए प्रेरित नहीं करता वरन् राष्ट्रपिता गाँधीजी काआदर्श प्रस्तुत करता है –

हमारी असि न रूधिर–रत हो,
न कोई कभी हताहत हो।[4]

हरिऔध जी भी "वैदेही वनवास" में कहते है कि मुझे हिंसा इष्ट नहीं –

---

1. मैथिली शरण गुप्त – हिन्दू – भूमिका – पृ0 – 13
2. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – पृ0 –
3. मैथिली शरण गुप्त – यशोधरा – पृ0 – 17
4. मैथिली शरण गुप्त – स्वदेश संगीत – पृ0 – 62

दमन है मुझें कदापि न इष्ट।

क्योंकि वह है भय–मूलक–नीति।

चाह है लाभ करूं कर त्याग।

प्रजा की सच्ची प्रीति प्रतीति[1]

× × ×

दमन चक्र यदि चलता तो बहता लहू

वृथा न जाने कितने कट जाते गले।[2]

अहिंसा के पुजारी हरिऔध जी पाप के शमनार्थ तथा अत्याचार के निराकरणार्थ दण्ड को भी अनिवार्य मानते है।[3]

त्याग –

गांधी जी ने अनुसार–सम्पत्ति में आसक्ति के कारण अवनति होने लगती है। संसार में बहुत सी हिंसा का कारण सम्पत्ति सम्बन्धी झगड़े है। (सर्वोदय तत्वदर्शन पृ0 –88) इसलिए द्विवेदी युग में त्याग की भावना को महत्व प्रदान किया गया। सियाराम शरण जी त्याग की भावना को महत्व देते हैं। वह अपने काव्य "नकुल" में कहते है, कि बड़ो को छोटों के लिए त्याग करना धर्म है। पूर्ण अपरिग्रह पूर्ण प्रेम का परिणाम है। और इसका अर्थ है पूर्ण त्याग।

लेना होगा निखिल क्षोभ व्रत निर्भय हमको,

देना होगा बड़ा भाग लघु से लघुतम को।[4]

मैथिली शरण गुप्त ने भी त्याग की भावना का बड़ा ही उत्कृष्ट रूप साकेत में प्रस्तुत किया है।

अरे यह बात है, तो खेद क्या है ?

भरत में और मुझमें भेद क्या हैं ?

---

1. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध – वैदेही वनवास – पृ0 – 42
2. अयोध्या सिंह उपध्याय हरिऔध – वैदेही वनवास – पृ0 – 116
3. अयोध्या सिंह उपध्याय हरिऔध – वैदेही वनवास – पृ0 – 143
4. सियाराम शरण गुप्त – नकुल – पृ0 – 103

करें वे प्रिय यहाँ निज कर्मपालन

करूंगा मैं विपिन में धर्म पालन।[1]

अपरिग्रह –

अपरिग्रह की भावना मानव मन को शुद्ध रखती है। निरर्थक एकत्रीकरण की भावना व्यक्ति को अनेक अपराध कार्य करने के लिए बाध्य करती है। अपरिग्रह से मानसिक संतोष की प्राप्ति होती है। भारतीय जनता में समता का भाव लाने के लिए गांधी जी ने अपरिग्रह पर विशेष बल दिया था। इसी अपरिग्रह की भावना की संपोषिका उर्मिला लंका प्रस्थान के लिए उद्वत सैनिकों को सन्देश देते हुए कहती हैं कि –

नहीं नहीं पापी का सोना

यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना

धीरों धन को आज ध्यान में भी मत लावो

जाते हो तो मान हेतु ही तुम सब जाओ।

सावधान ! वह अधम धान्य सा धन मत छूना

तुम्हें तुम्हारी मातृ भूमि ही देगी दूना।[2]

अस्तेय –

गांधीवादी सिद्धान्त अस्तेय का रूप भी मैथिली शरण गुप्त के ''गुरूकुल'' में देखने को मिलता है।

सावधान परधन है पाप

भिक्षुक न हो तो व्यवसाई

करो कमाई अपने आप।[3]

''साकेत'' की सीता, उर्मिला, माण्डवी तथा कैकेयी चरित्रों से गुप्त जी ग्राहस्थ जीवन की

---

1. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – तृतीय सर्ग – पृ0 – 74
2. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – द्वादस सर्ग – पृ0 – 474
3. मैथिली शरण गुप्त – गुरूकुल – पृ0 – 47

झांकी के साथ ही साथ इनका सहधर्मिणी रूप दिखाया है। यहाँ गुप्त जी गांधीवादी स्वावलम्बन की भावना से प्रेरित हैं। अष्ट्म सर्ग में सीता अपनी पर्णकुटी को राजभवन के समान मानकर प्रत्येक स्थिति में संतोष करती हैं। "औरो के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ, अपने पैरो पर खड़ी आप चलती हूँ।"[1] में गांधीवादी स्वावलम्बन की भावना दिखाई देती है। सीता 'ओ भोली कोल– किरात भिल्ल बालाओं'[2] को आमंत्रित करके गांधीवादी अस्पृश्यता निवारण का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। सीता का जीवन वन में और ही कर्म मय हो गया है। सीता गांधी के चरखा आन्दोलन से प्रभावित होकर कहती है कि –

आओ, हम कातें–बुनें गान की लय में।[3] सीता के स्वावलम्बन का यही चरित्र गुप्त जी ने "पंचवटी" खण्ड काव्य में प्रस्तुत किया है।

अपने पौधों में जब भाभी
भर भर पानी देती हैं
पाती हैं तब कितना गौरव,
कितना सुख कितना संतोष
स्वावलम्बन की एक झलकर पर
न्यौछावर कुबेर का कोष।[4]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि द्विवेदी युगीन काव्य, तद्‌युगीन प्रभावी सामाजिक आन्दोलनों के प्रभाव ग्रहण से वंचित नहीं रहा। समाज सुधारकों द्वारा चलाये गये सामाजिक कुरीतियों के विरूद्ध खंडन–मंडन की जो दृष्टि बींसवी शताब्दी में एक आन्दोलन के रूप में शुरू हुई उसका पोषण और पल्लवन द्विवेदी युगीन कवियों और लेखकों ने किया। पर्याप्त साहित्य की उपलब्धि इसका प्रमाण है। ब्रह्मसमाज के राजाराम मोहन राय से लेकर यह सुधारात्मक धारा महर्षि अरविन्द और महात्मा गांधी तक अप्रतिहत रूप से बहती रही। तद्‌युगीन

---

1. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – अष्टम सर्ग – पृ0 – 223
2. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – अष्टम सर्ग – पृ0 – 227
3. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – अष्टम सर्ग – पृ0 – 227
4. मैथिली शरण गुप्त – पंचवटी – पृ0 – 17

समाज को कुरूपता प्रदान करने वाली कुरीतियों के परिवतेन में इन्हीं सुधारात्मक आन्दोलन की दृष्टि का परिणाम हैं, जिससे अंधा हो रहा समाज एक नई ज्योति या सका, तथा एक स्वस्थ और सुन्दर समाज की रचना कर सका। जहाँ न विधवाओं की करूण चित्कार सुनाई पड़ती है न जातिगत भेद–भाव से उत्पन्न मानव से मानव का पार्थक्य।

समाहार:–

निष्कर्षतः यह कहना संगत होगा कि द्विवेदी युगीन कवियों में अपने अतीत के प्रति अट्ट श्रद्धा विश्वास व अनन्त प्रेम होते हुए भी वह अपने आप को नवीनता से पृथक नहीं कर सके। युग का प्रवाह उन्हें अपने साथ बहा ले जाने में समर्थ सिद्ध हुआ। आधुनिक युग भौतिकता और बौद्धिकता का युग है। इसलिए इस काल में भक्ति कालीन भक्ति भावना की अपेक्षा बुद्धि की प्रचुरता का समावेश होता गया। फलस्वरूप ईश्वर को कल्पना की ऊँचाई से उतार कर ठोस यथार्थ पर प्रतिष्ठित किया गया। गुप्त जी और हरिऔध जी आधुनिक राम काव्य और कृष्ण काव्य के ऐसे प्रणेता हैं जिन्होंने अपने कृष्ण और राम को एक समाज सुधारक के रूप में प्रस्तुत किया। राम और कृष्ण का अवतारी परब्रह्म स्वरूप परिवर्तित होकर परोपकारी मानव के रूप में उपस्थित हुआ। लेकिन कवि भी एक मानव ही होता है, उसकी भी आशा और आकांक्षा होती है। कल्याण कामना वह भी करता है। इसलिए जब कभी भी वह अपने को असमर्थ पाता है, या उसकी नैया मझधार में ही डूबती हुई अनुभव होती है, तब उस समय वह ईश्वर की अनुनय–विनय करना नहीं भूलता और भगवान की शरण में जाने के लिए व्याकुल हो जाता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि द्विवेदी युग में परम्परागत भक्ति का अभाव है या उसका स्वरूप ही नष्ट हो गया है। भक्ति ही वह शक्ति है जिसको अपना कर हम परिवेश की चिन्ता से जुड़ जाते हैं। समाज की कुरीतियों पर हमारा ध्यान भक्ति चेतना ही खींचती है। आधुनिक काल की भक्ति निवृत्ति परक न होकर प्रवृत्ति परक है, जो मनुष्य को मनुष्य से जोड़ती है।

भारतेन्दु युग भक्ति में कोई नया तत्व नहीं जोड़ता, लेकिन द्विवेदी काल में भक्ति को आधुनिक सन्दर्भ से जोड़ा गया। इस काल की कविता पूर्ण समाजदर्शी होने के धर्म

का पालन करती है। इस युग के कवि गतानुगतिकता के स्थान पर इतिवृत्तात्मकता को महत्व देते हैं। भाषा के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली हिन्दी प्रतिष्ठित हुई। तद्‌युगीन समाजिक कुरीतियों के विरोध में उठ खड़ी हुई सुधारवादी सामाजिक संस्थाओं का प्रभाव इस युग के कवियों पर पड़ा। तत्कालीन साहित्य ने जीवन की परिस्थितियों का अनुगमन किया।

चतुर्थ अध्याय

"छायावादी काव्य में भक्ति चेतना का स्वरूप।"

1. छायावाद की भूमिका
2. भक्ति का परम्परागत स्वरूप
3. छायावादी कवियों की भक्ति चेतना के आलम्बन
4. शक्ति की आराधना
5. समाहार

छायावदी काव्य में भक्ति चेतना का स्वरूप।

छायावाद की भूमिका –

छायावाद विशेष रूप से हिन्दी साहित्य के "रोमांटिक" उत्थान की वह काव्य–धारा है, जो प्रथम महायुद्ध सन् 1914–18 ई0 के समाप्त होते ही अपनी दिशा बदली और सन् 1935–36 ई0 तक एक विशिष्ट विचार–धारा, भाव प्रणाली और अभिव्यक्ति के साथ प्रवहित होती रहीं।

दो महायुद्धों के बीच की यह काव्य धारा साहित्य के क्षेत्र में कला और भाव–क्षेत्र में एक महान् आन्दोलन सिद्ध हुआ। जिसकी सर्वप्रमुख भावना आधुनिक औद्योगिकता, पूंजीवाद से प्रेरित व्यक्तिवाद है। छायावादी कविता नई भावना, कल्पना, अनुभूति और अभिनव रचना शैली से परिपूर्ण है। इसी विशेषता से ये द्विवेदी कालीन रचनाओं से पूर्णरूपेण पृथक सिद्ध होती है। द्विवेदी युगीन काव्य निश्चित रूप से बहिर्मुखी और निर्वैयक्तिक काव्य था। जबकि इसके विपरीत छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव पद्धति है, जीवन के प्रति एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार भक्ति काव्य जीवन के प्रति एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण था, और रीतिकाव्य दूसरे प्रकार का, उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।[1]

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने रीतिकालीन अतिश्रृंगारिक वृत्ति के प्रतिरोध में नियंत्रण लगा दिया था, जिससे अश्लील और स्थूल श्रृंगार वर्णन तो रूक गया, परन्तु उसके स्थान पर उससे भी भारी भरकम स्थूल काव्य की रचना होने लगी। इस युग की कविता बाह्योन्मुखी अधिक है, यह काव्य की आत्मा पर कुठाराघात था। अतः जो युवा कविगण अपनी भावनाओं का उन्मुक्त चित्रण करने में अक्षम थे। उन्होंने अपनी रागात्मक वृत्तियों के प्रकाशनार्थ माध्यम के रूप में प्रकृति को चुना। क्योंकि प्राकृतिक दृश्य और घटनाऐं सांकेतिक रूप से अदृश्य तथा अव्यक्त के प्रकाशन में सहायता पहुँचाती हैं। इस प्रकार छायावादी कवियों ने प्रकृति का उपयोग प्रायः प्रतीक की तरह किया।

---

1. डां0 नगेन्द्र – आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियां – पृ0 – 15

मानव और प्रकृति का संबंध अनन्त काल से अविरल रूप में चला आ रहा है, लेकिन मध्य में कुछ समय मानव के मन में प्रकृति के प्रति उपेक्षात्मक भाव उदीप्त हो गया परन्तु छायावाद ने उस पुरातन संबंध को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया।[1] छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस संबंध में प्राण डाल दिये, जो प्राचीन काल से बिम्ब–प्रतिबिम्ब रूप में चला आ रहा था, और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुख में प्रकृति उदास ओर सुख में पुलकित जान पड़ती है।[2] प्रकृति के माध्यम से वह अपने भावों की अभिव्यक्ति अनायास ही कर जाता है, जिसे साधारणतः वह व्यक्त करने में असमर्थ होता है। प्रकृति ने ही उसकी सुप्त भावनाओं को झकझोर कर जागृत अवस्था प्रदान की।[3]

छायावाद युग ने स्थूल बन्धनों से विद्रोह करके सुक्ष्म मनोलोक में अपने नीड़ की रचना की। अतिशय बौद्धिक नीरसता की जगह भावुकता और हार्दिकता की, भौतिक जीवन दृष्टि की जगह आध्यात्मिक जीवन दृष्टि की, स्थूल ऐन्द्रिक–प्रेम अथवा प्रेम के पूर्णतः बहिष्कार की जगह आदर्शवादी प्रेम (PLATONIC LOVE) और स्वाभाविक प्रेम की प्रतिष्ठा हुई।[4] यही नहीं इस युग में देश, जाति, प्रकृति और विश्व के प्रति भी प्रेम की मनोवृत्ति का प्रसार देखने को मिलता है।

छायावाद आधुनिक हिन्दी कविता की वह शैली है। जिसमें सुक्ष्म अथवा काल्पनिक स्वानुभूति, लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक रीति से प्रकाशित होती है। उसमें आलम्बन प्रायः अस्पष्ट रहता है।[5] लेकिन प्रसाद जी ने इसका विरोध इन शब्दों में व्यक्त किया "कुछ लोग छायावाद में अस्पष्टता का भी रंग देख पाते है, हो सकता है कि कवि जहाँ अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य न कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विश्रृंखल हो गयी हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से मेल हो गया हो, पर सिद्धान्त में छायावाद का ऐसा रूप ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट छायामात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श ना हो, वही छायावाद है।[6]

---

1. डां0 रमन नागपाल – आधुनिक हिन्दी काव्य में पलायनवाद – पृ0 – 136
2. महादेवी वर्मा – यामा– पृ0 – 7
3. गंगा प्रसाद पाण्डेय – छायावाद और रहस्यवाद – पृ0 – 24
4. डां0 शम्भुनाथ सिंह – छायावाद युग – पृ0 – 25
5. डां0 भगीरथ मिश्र – हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास – पृ0 – 423
6. जयशंकर प्रसाद – काव्य कला तथा अन्य निबन्ध – पृ0 – 148

अतः प्रसाद जी के इस कथन से स्पष्ट होता हैं कि छायावादी कविता में वास्तविकता समाहित है। हाँ इतना अवश्य है कि छायावाद की शैली छायात्मक व रहस्यात्मक अवश्य है। छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ, में जहाँ उसका संबंध काव्य वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। दूसरा अध्यात्मिक या ईश्वर प्रेम संबंधी कविताओं के अतिरिक्त और सब प्रकार की कविताओं के लिए प्रतीक शैली के अर्थ में।[1] आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का कहना है कि, "हमारी नयी कविता छायावाद या रहस्यवाद कहलाती है। यह बात आध्यात्मिक घेरे के अन्दर है। इसलिए प्रायः यह समझ लिया जाता है कि इस कविता का हमारे सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। किन्तु काव्य-वस्तु की जांच करने से स्पष्ट हो जाता है। कि आधुनिक काव्य की शैली छायात्मक या रहस्यात्मक है, किन्तु सामयिक प्रेरणायें, विचारणायें और प्रगतियां भी कुछ कम मात्रा में नहीं।"[2]

इस युग की आध्यात्मिकता प्रधानतया एक दृष्टिकोण के रूप में थी, जिसमें साधना का योग नहीं था, वह धार्मिक परम्परा और सुधारवाद के विरूद्ध प्रति रूप में आयी थी। उसका लक्ष्य व्यक्ति की आत्मा को स्थूल सामाजिक नियंत्रण से मुक्त करना था। यद्यपि वह इस प्रतिक्रिया के प्रवाह में स्वयं भौतिकता का विरोध करने वाली हो गयी। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों की विषमता से छुटकारा पाने के लिए कवि ने आध्यात्म का सहारा लिया।[3]

छायावादी कवियों का विचार था, कि मनुष्य जन्म से ही स्वतंत्र है, फिर भी वह जीवन में उलझनों और बन्धनों से घिरा है। अतएव इन सामाजिक उलझनों और विषमताओं से मुक्ति पाने का एक मात्र रास्ता यही है कि मनुष्य को प्रकृत मनुष्य बनाया जाय, वह प्रकृति की विकृति न करे, उसे स्वाभाविक रूप से स्वीकार करे। राजनीति में यह विचार

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 – 668–69
2. नन्द दुलारे बायपेयी – आधुनिक साहित्य नवीन समीक्षा – पृ0 – 303 – 304
3. डॉ0 शम्भुनाथ सिंह – छायावाद – पृ0 – 28

–धारा गांधीवाद के रूप में दिखाई पड़ी जिसने यंत्रों का विरोध किया, और मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख किया। छायावाद में वह प्रकृति के प्रति तादात्म्य की अनुभूति के रूप में प्रकट हुई। कवियों ने सर्वत्र एक ही चेतना का आभास देखा।[1]

एक छवि के असंख्य उडगठ

एक ही सब में स्पन्दन।

छायावादी कवियों ने जीवन के विविध पक्षों का सौन्दर्य–चित्रण करते हुए निराकार ब्रह्मकी रहस्यमयी सत्ता स्वीकार की, घट–घट में आत्मा की सत्ता को स्वीकारते हुए तटस्थ एवं एकांतिक साधना को महत्व दिया। लौकिक जीवन की सौन्दर्य परक दृष्टि को आध्यात्म के धरातल पर तौला। यद्यपि इस काव्य धारा का एक आध्यात्मिक पक्ष है, तथापि उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। आधुनिक परिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था, और विचार जगत में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की नवीन परिस्थिति के अनुरूप स्थापना करता है।[2] छायावाद_युगीन अधिकांश कवियों ने इस आध्यात्मिकता के माध्यम से ही अपने विद्रोह का स्वर ऊंचा किया। निराला का "जागो फिर एक बार" "राम की शक्ति पूजा" प्रसाद की "कामायनी" आदि रचनाऐं इसका प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार छायावादी कवियों ने धर्मिक रूढ़ियों की जगह आध्यात्मिक आदर्शवाद की स्थापना की। इतना ही नहीं इस नवीन छायावादी काव्य ने मानव के अन्दर छुपी हुई सुप्त आकांक्षाओं और अरमानों को भी जगाने का कार्य किया। जिसको वह दफना चुका था। छायावादी समीर के नये, ताजे झोंको ने व्यक्तिगत की जड़ीभूत निर्मोक–छन्न वातायनों को खोल दिया। भीतर की गर्मी भी उभरी और साथ ही दमित वांछाओं के स्वस्थकामी उपकरण भी ऊपर आये। वेदना, निराशा, चीत्कार, पीड़न, रोदन, हर्ष, विषाद एवं क्षोभ के तत्व भी उठे, पर इन सभी प्रकारों में मानवता के जीवन की ही पुकार है विवशता के विरूद्ध चीत्कार है।[3] अतः छायावादी कवियों ने जहाँ एक ओर मानव का सम्बन्ध स्थूल जगत

---

1. डा0 शम्भुनाथ सिंह – छायावाद – पृ0 – 26
2. नन्द दुलारे वाजपेयी – आधुनिक साहित्य – पृ0 – 571
3. डा0 श्रीपाल क्षेम – छायावाद की काव्य साधना – पृ0 – 71

से तोड़ कर अन्तंजगत से किया, वहाँ दूसरी ओर उसने तद्युगीन राजनीतिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति भी अत्यन्त मनोरम एवं स्वाभाविक रूप से की। इस प्रकार छायावाद को हम वर्तमान युग की भावनाओं का एक प्रतिबिम्ब और प्रतिमूर्त रूप कह सकते है।

प्रत्येक युग की काव्य–धारायें सहज ही प्रादुर्भूत नहीं होती उनके पीछे अनेक युगीन परिस्थितियों का हाथ होता है जिसके प्रभाव से प्रेरणा ग्रहण कर पल्लवित और पुष्पित होती है। "छायावादी कविता की मुख्य उपलब्धि व्यक्ति की अन्तर्मुखी मनोदशाओं का मार्मिक चित्रण है। इस प्रकार दो युगों की कविता में ध्रुवों का अंतर है। एक की दृष्टि अन्तर्मुखी है और दूसरे की बहिर्मुखी।[1] छायावादी काव्य का कलेवर व्यक्तिवादी होने के कारण इसमें व्यक्तिगत निराशाओं और कुंठाओं का अधिक्य दिखाई देता है। अतः आधुनिक युग की इस काव्य-धारा के विकास में युग की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों की सहभागिता नकारी नहीं जा सकती।

सामाजिक परिस्थितयां –

हिन्दी काव्य के इस युग में पर्याप्त उथल–पुथल देखने को मिलता है, साथ ही साथ समय के अनुरूप सामाजिक परिवर्तन भी हुए जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है। तत्कालीन भारतीय समाज स्वतंत्रता आन्दोलन में अब और सक्रिय हो गया था, क्योंकि यह आन्दोलन अब किसी एक वर्ग का नहीं रह गया था। समस्त भारतीय जनता क्या हिन्दू क्या मुसलमान इसमें समान भूमिका प्रस्तुत कर रहे थे। इसी भावना के प्रभाव से सामाजिक दशा भी प्रभावित हुई। अब जाति-पांति के बन्धन टूट रहे थे। छुआ–छूत, ऊँच–नीच की प्रवृत्तियां भी क्रमशः परिवर्तित रूप धारण कर रहीं थीं। सामाजिक दशा में सुधार केवल भावनात्मक नहीं था, वरन् समाज में परिव्याप्त कुरीतियों के विमोचन हेतु भी ठोस कदम उठाये जा रहे थे। जैसे–बाल विवाह से उत्पन्न दोषों के निवाराणार्थ सन् 1929 में "शारदा एक्ट" पास किया गया। सन् 1935 में "गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट" द्वारा अछूतो को भी अन्य जातियों के समान मताधिकार प्रदान किया गया। विधवा विवाह, समता का अधिकार,

---

1. डॉ0 शम्भुनाथ चतुर्वेदी – नया हिन्दी काव्य और विवेचना – पृ0 – 9

एक विवाह इत्यादि पर भी कानूनों की शरण ली गई। छायावादी चतुष्टय के कवि निराला स्वच्छन्द वातावरण के पक्षपाती थे, उन्हें वर्ग वैषम्य तथा रंगभेद किसी भी दशा में मान्य नहीं था। जातीयता के संकीर्ण गह्वर में आबद्ध होना उन्हें उचित प्रतीत नहीं होता। इसके निराकरण की कामना करते उनको देखा जा सकता है–

दूर हो अभिमान, संशय,
वर्ण–आश्रम–गत महाभय,
जाति–जीवन हो निरामय
वह सदाशयता प्रखर दो।[1]

पंत जी का समस्त परवर्ती–काव्य ही सर्वहित की भावना से समान्वित है। महर्षि अरविन्द की समन्वयवादी दृष्टि से प्रभावित होकर यह भावना और अधिक प्रौढ़ और परिपक्व हो गयी। पंत जी ने व्यक्ति ओर विश्व चेतना के बीच जिस समता स्थापना की बात कही है वह बाह्य मानदण्डों पर आधारित न होकर आंतरिक मूल्यों पर स्थापित है। पंत जी कहते हैं कि –

व्यक्ति विश्व में व्यापक समता,
हो जन के भीतर से स्थापित
मानव के देवत्व से ग्रथित
जन समाज जीवन हो निर्मित।[2]

छायावादी कवियों में निराला मानवीय भावनाओं के चितेरे हैं। उनका काव्य दीन–हीन जनों की व्यथाओं के चित्रण से भरा पड़ा है। अपने चतुर्दिक व्याप्त जागतिक परिस्थितियों एवं विषमताओं को भली भांति देखते हैं और अनुभव करते हैं। अपने इसी कटु अनुभव की अभिव्यक्ति निराला ने अपनी कविता "भिक्षुक", "विधवा", "वह तोड़ती पत्थर" आदि में किया है।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अणिमा – पृ0 – 16
2. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्ण किरण – पृ0 – 6

वह आता

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ।

पेट–पीठ दोनों मिलकर है एक

चल रहा लकुटिया टेक,

मुट्ठी भर दाने को–भूख मिटाने को

मुंह फटी पुरानी झोली का फैलाता

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।[1]

छायवादी कवि एक ऐसी स्वतंत्रता का आकांक्षी था, जिसमें मनुष्य की आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक आदि सभी प्रकार की मुक्ति का भाव निहित हो। राजनीतिक स्वतंत्रता तो स्वतंत्रता का केवल एक अंग है। समाष्टि स्वतंत्रता का अर्थ है मनुष्य के समूचे व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण सुविधाओं की प्राप्ति और व्यक्तित्व रोधी समस्त बाधाओं की समाप्ति। स्वतंत्रता का ये व्यापक स्वरूप मात्र अंग्रेजों के चले जाने से ही नहीं संभव था क्योंकि जिसदेशमेंधर्मप्राण धनीमानी लोग चीटियों की बिल पर चीनी भुरभराते फिरते हो। यमुना नदी में आटे की गोली बनाकर कछुये को खिलाते हो, अथवा राम भक्त द्विज बन्दरों को पुए खिलाते चलें, वहां दीन मानव की क्या गति होगी। "अनामिका" की "दान" नामक कविता में कवि ने ऐसे ही दयालु ढ़ोंगियों का पर्दाफाश किया है।

झोली से पुए निकाल लिए

बढ़ते कपियों के हाथ दिये,

देखा भी नहीं उधर फिरकर

जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर;

चिल्लाया किया दूर मानव,

बोला मैं – 'धन्य, श्रेष्ठ मानव।[2]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 115
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अनामिका – दान कविता – पृ0 25

तत्कालीन हिन्दू समाज में अस्पृश्यता का भाव पूर्ववत बना हुआ था। यही कारण था कि निम्न जाति के लोगों की आत्महीनता की भावना बढ़ती जा रही थी। फलस्वरूप उनकी आत्महीनता की भावना उन्हें किसी भी राष्ट्रीय कार्य में सहयोग देने से रोक रही थी। अनेक प्रबुद्ध भारतीयों ने इनका आह्वान किया और कहा कि वर्ग–भेद भूलकर राष्ट्र के उद्धार के लिए कार्य करें। इस क्षेत्र में राजा राम मोहन राय, केशवचन्द्र सेन देवेन्द्रनाथ टैगोर आदि ने तो प्रयास किया ही महात्मा गांधी , महर्षि अरविन्द तथा रवीन्द्र नाथ टैगोर ने जो प्रयास किया वह स्तुत्य है। वर्ग–भेद की इस अनीति को समाप्त करने के लिए सन् 1921 में गांधी जी ने अहमदाबाद कांग्रेस में प्रत्येक सदस्य से अछूतोद्वार की प्रतिज्ञा करवाई। 3, जनवरी 1929 में इसके लिए एक कमेटी नियुक्त की गयी। डा0 अम्बेदकर के सम्पर्क में आने के बाद गांधी जी हरिजनों के चुनावों में भाग लेने के समर्थक हो गये।[1] छायावाद युग का कवि भी इससे प्रभावित हुआ और इस वास्तविकता को इन शब्दों में व्यक्त किया। "वस्तविकता तो यह है कि अगर अछूत एक दिन के लिए भी अपना काम बन्द कर दें, तो उच्च वर्ग के लिए रहना दूभर हो जाए। समाज का यह अंग समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वर्ग भेद के रक्षकों को इनकी आवश्यकता का आभास दिलाने के लिए कवि ने व्यंग्योक्ति का माध्यम ग्रहण किया है।

> यदि अछुत ये काम आज से अपना छोड़े।
> अत्याचारी उच्च जनों के हाथ न जोड़े।
> प्रतिदिन इनके सदन झाड़ना यदि वे त्यागें।
> वे भी अपना जन्म–स्वत्व यदि निर्भय मांगें।
> तो फिर न लगाने पायेंगे, तिलक विप्र जी माथ में।
> बस, लेनी ही पड़ जाएगी, डालिया झाडू हाथ में।[2]

नारी जागरणः–

प्रकृति की भांति ही छायावादी कविता में नारी की भी प्रधानता दिखाई देती है।

---

1. डॉ0 शुभ लक्ष्मी – आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय चेतना – पृ0 29
2. डॉ रामकुमार वर्मा – वृत्तिका (अछूत) – पृ0 258

समाज की मूल इकाई परिवार है, जिसका केन्द्र बिन्दु नारी है। यही कारण हैं कि भारत में प्राचीन काल से ही नैतिक धरातल पर नारी को संम्मान्य माना गया।[1] भारतीय संस्कृति में भी नारी के ही एक रूप जननी 'को स्वर्ग से श्रेष्ठ बताकर नारी वर्ग के प्रति सम्मान प्रकट किया गया है। लेकिन तत्कालीन समाज में नारी की दशा अत्यन्त दयनीय, कारूणिक एवं अश्रुपूरित थी। यद्यपि छायावाद के पूर्ववर्ती काव्य में नारी की इन स्थितियों पर दृष्टि डाली गयी, किन्तु वे रचनाएं भी पुरूष–प्रधानता की हो द्योतक हैं। द्विवेदी युग की कविता में नारी के प्रति दया का भाव तो है, पर यथोचित सम्मान का भाव नहीं है।[2] छायावादी कवियों ने नारी के नैसर्गिक रूप को पहचाना और उसे अपनी कविता मे प्रकृति के पूरक रूप में स्थान प्रदान किया। कविता के क्षेत्र में नारी संबधी दृष्टिकोण में यह परिवर्तन कोई आकस्मिक नहीं था । इस परिवर्तन के पीछे 19वीं शताब्दी में शुरू हुये सुधारवादी आन्दोलनों का हाथ था, जो 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक में अपने चरम उत्कर्ष पर था। इसके प्रभाव से नारी अपने सामाजिक मानदण्डों का पुर्नपरीक्षण करके अपनी सामाजिक भूमिका के लिए मार्ग प्रशस्त करने का साहस जुटा सकी। गाँधी युग में नारी को मिले इस अधिकार से भारतीय समाज को चुनौती के साथ–साथ नवीन प्रेरणा भी मिली।

प्राचीन और अर्वाचीन मनीषियों एवं सामाजिक नेताओं के इन विचारों से छायावाद के कविगण अप्रभावित न रह सके। फलस्वरूप उन्होंने नारी की दयनीय दशा को अपने काव्य में प्रतिबिम्बित किया। परिस्थितियों के भीषण प्रवाह में तिनके के समान निरन्तर अघात सहन करती हुई नारी का चित्रण करते हुए पंत जी कहते है कि –

रे दो दिन का

उसका यौवन ।

× ×

दुखों से पिस

दुर्दिन में घिस,

---

1. मनुस्मृति – पृ0 114
2. नामवर सिहं – छायावाद – ऐतिहासिक सामाजिक विश्लेषण – पृ0 42

जर्जर हो जाता उसका तन।

ढह जाता असमय योवन धन

बह जाता तट का तिनका

जो लहरों से हंस खेला कुछ क्षण।[1]

तत्कालीन समाज में प्रचालित बाल विवाह और बहु विवाह आदि जैसी परम्परायें नारी की दशा को और भी शोचीनय स्थिति में ला खड़ा कर देती थीं। डा0 राम कुमार वर्मा ने बाल विवाह का कारूणिक वर्णन करते हुए नारी की विवशता पर शोक प्रकट किया है।

प्रेम की अनूप गीता जिसने पढ़ी ही नहीं,

बालिका क्या जाने क्या विचार है विवाह का।

पत्नी–पति देवता के चरणों में वास करें,

किन्तु पति को है नशा और हीकी चाह का।

× × ×

प्रेम की विडम्बना के दृश्य जहाँ दीखते हैं,

क्यों न गूँज शब्द वहाँ आह का या दाह का ।[2]

निराली जी ने "विधवा" कविता में विधवा जीवन का हृदय दावक चित्रण किया है। निराला की सामाजिक सहानुभूति की यह कविता उनकी यथार्थ दृष्टि का प्रमाण है। वह यह भी प्रमाणित करती है कि दार्शनिक चेतना के कवि निराला यथार्थ अनुभूतियों की अपेक्षा नहीं करते। महादेवी जीने विधवा के विषय में लिखा है – "सामाजिक आधार पर" वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी में तपःपूत वैधव्य का जो चित्र है वह अपनी दिव्य अलौकिकता में अकेला है। कवि हृदय की संवेदन शीलता का एक सशक्त प्रमाण है।[3] नारी हृदय के अतल की भावना का विष और मधु दोनों उन्होंने संचित कर दिया है, कल्पना की शक्ति यथार्थ चित्रों को भी इतना संवार सकती है, यहाँ देखा जा सकता है कवि भावात्मक स्थिति में एक विधवा का करूण चित्र अंकित करता है, और उसके अंकन में जिस वातावरण की

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत – ग्राम्या (ग्राम युवती) – पृ0 – 19
2. डॉ0 राम कुमार वर्मा – कृत्तिका – (देश की दशा) – पृ0 – 197
3. घनज्जय वर्मा – निराला पुन मूल्यांकन – पृ0 – 121

सर्जना करता है पूजा– अर्चन के पवित्र धूम से आच्छन्न है, फिर भी यथार्थ की तीव्रता नष्ट नहीं होती–

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीप शिखा सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृत रेखा सा
वह टूटे तरू की छुटी लता सी दीन
दलित भारत की ही विधवा है।[1]

भारतीय समाज में तिरस्कृत विधवा को "इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी" पवित्र कहने का साहस छायावादी कवि निराला जैसे समर्थ कवि के ही बस की बात थी। समाज में पतित समझी जाने वाली, ऐसी नारियों पर भी छायावादी कवियों की दृष्टि गई, जो पुरूष द्वारा–काम–वासना का शिकार होती है, और वही उसे लांक्षित करके समाज से बहिष्कृत कर देता है। कवि इस प्रकार के रूग्ण और पतित समाज को धिक्कारता है, जिसने कुलीन नारी को नर्तकी बनने पर विवश किया। कवि ऐसे स्थलों पर निन्दा का पात्र व्यक्ति को नहीं वरन् इस प्रकार के समूचे समाज को मानता है। पंत जी की ये मान्यता है कि कलंक तन का नहीं मन का होता है, फिर भी नारी के इस प्रकार के दुष्कृत्य के लिए पुरूष समाज ही दोषी है। ऐसे अधोगति को प्राप्त समाज की निष्ठुरता के प्रति आक्रोश लिए नारी के प्रति आदर भाव प्रकट करता है –

मन से होते मनुज कलंकित,
रज देह सदा से कलुषित,
प्रेम पतित पावन है, तुमको,
रहने दूंगा मैं न कलंकित।[2]

---

1. सूर्य कान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 – 119
2. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्ण धूलि (पतिता) – पृ0 – 118

''मनुष्यत्व'' शीर्षक कविता में पंत जी नारी को पुरूष के समान स्वतंत्र उद्घोषित करते हैं। उनमें पारस्परिक सौहार्द्र के परिवर्धित होने की अभिलाषा व्यक्त की है।[1] सुमित्रा नन्दन पंत जी के दृष्किोण में नारी–पुरूष की यह समानता का भाव समाज–सुधारकों के प्रभाव के उपरान्त हुआ। क्योंकि तत्कालीन चल रहे स्वतंत्रता आन्दोलन में महिलाओं ने पुरूषों के समतुल्य अपना योगदान दिया। सरोजनी नायडू, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, विजय लक्ष्मी पंडित इसमें अग्रणी थीं। कवि पंत भी इसी मान्यता के पुजारी थे। उनका मानना है कि सृष्टि का समुचित विकास तभी संभव है जब नारी को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान की जांयेगी–

योनि नही है रे नारी वह भी मानवी प्रतिष्ठित
उसे पूर्ण स्वाधीन करो वह रहे न नर पर अवसित ।[2]

धार्मिक परिस्थितियाँ–

द्विवेदी युग में धार्मिक भावना का जो परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप दृष्टिगोचर होता है, उसी मानवतावादी विचारधारा का विकास छायावादी युग में हुआ है । यह युग मुख्यतया– गाँधी, अरविन्द और टैगोर के विचारों से प्रभावित है। गाँधी सहित सभी महानुभावों ने धर्म के क्षेत्र में बाह्याडम्बर का विरोध किया । ईश्वर को जनमानस में ही खोजने का प्रयास किया गया। रवीन्द्र नाथ टैगोर स्वामी विवेकानन्द के विचारों से अत्यन्त प्रभावित थे । स्वामी विवेकानन्द के अनुयायी होने के कारण इन्होंने ब्रह्म समाज को स्थिरता प्रदान करने का प्रयास किया, तथा अद्वैतवाद का समर्थन किया।आत्मा-परमात्मा से विलग नहीं। उसे द्वैत मानना कोरी मूढ़ता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अतः मानव के पति मानवता एवं सौहार्दपूर्ण व्यवहार ही वास्तविक भक्ति, आराधना एवं अर्चना है। योगीराज अरविन्द ने भी जीवन पर्यन्त मानव जाति के विकास के लिए योग सधना की। इनके अनुसार भी मानव की सेवा ही श्रेष्ठ भक्ति है।

तद्युगीन कवियों ने इन महापुरूषों की विचारधाराओं से सीख ली। उनकी रचनाओं में भी इस तथ्य की वास्तविकता परोक्षतः दृष्टिगोचर होती है। द्विवेदी युगीन कवि ईश्वर

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्ण धूलि – पृ0–116
2. सुमित्रा नन्दन पंत – ग्राम्या – पृ0– 85

को मानवता के स्तर पर तो ले आये थे, परन्तु मानव को ईश्वर कहने में संकोच का अनुभव करते थे। इसी कमी की पूर्ति छायावादी कवियों ने की। धार्मिक क्षेत्र में छायावादी कवियों का दृष्टिकोण स्वच्छन्दतावादी और विद्रोही रहा है। मनुष्य मात्र में ईश्वर की कल्पना करने वाले निराला पत्थर रूपी भगवान की अर्चा की कैसे मान्यता प्रदान कर सकते थे। उनका विरोध "अनामिका" की "दान" शीर्षक कविता में सुनाई देता है। धर्म के नाम पर होने वाले **कुकृत्यों और** कर्मकाण्डों को उन्होंने घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह नास्तिक थे। परन्तु वह विवेकानन्द की तरह प्रत्येक मानव में उस ब्रह्म का ही साक्षात्कार करते थे । पूजा अर्चना के सम्बन्ध में छायावादी कवि अरविन्द की साधना पद्धति से प्रभावित थे। विशेषकर पंत जी ने उनकी साधना पद्धति को अपनाया।

जीवन के प्रति श्रद्धा, मानव के प्रति आदर
जीवों के प्रति स्नेह, यही प्रभु का पूजन है।
यह समस्त संसृति ही ईश्वर की प्रतिमा है।[1]

× × ×

मानव को समझों हे, देवों के आराधक
मानव के भीतर ईश्वर ही अविरत साधक।
महत् जगत जीवन की इच्छा ही प्रभु का पथ
स्वर्ण सृजन चक्रों पर नित बढ़ता प्रभु का रथ।[2]

वेदों में तो कर्म को प्रतिष्ठा मिली ही है, उपनिषदों में भी उसका समर्थन किया गया है। इसी को आधार बनाकर निराला लोक-सेवा को मोक्ष की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं अपने किसी दु:खी भाई के प्रति सम्वेदना और सहानुभूति प्रदशित करने के कारण यदि निराला का अधिवास छूटता है तो उन्हें इसकी चिंता नहीं–

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत – शिल्पी – पृ0 32
2. सुमित्रा नन्दन पंत – अतिमा – पृ0 54

देखा दुखी एक निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
झट उमड़ वेदना आई,
उसके निकट गया मैं धाय
लगाया उसे गले से हाय।
× × ×
उसकी अश्रुभरी आंखों पर मेरे करूणांचल का स्पर्श,
करता मेरी प्रगति अनन्त किन्तु तो भी है नहीं विमर्ष।
× × × ×
छूटता है यद्यपि अधिवास
किन्तु फिर भी न मुझें कुछ त्रास।[1]

निराला की इन पंक्तियों में उनका मानवतावादी और लोकोन्मुखी दृष्टिकोण स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है। छायावादी कवि पंत यद्यपि प्रकृति के कवि थे,- फिर भी मानव की महत्ता को बिना किसी सोच-संकोच के स्वीकार करते हैं।

सुन्दर हैं सुमन, विहग सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम्।[2]

मनुष्य अपने सीमित परिवेश में भी महान है, कायरता और कामुकता ये दोनों नश्वर भाव हैं। इन्हें ही सत्य मान लेना अज्ञानता है। मानवीय आत्मतत्व ब्रह्म की प्रतिमूर्ति है। इसके सामने अखिल विश्व का अस्तित्व नगण्य है।अपनी सत्ता पर विश्वास न करना ही चरम नास्तिकता है। इसी आत्मनिष्ठा वाला व्यक्ति ही संघर्षों के बीच जीवित रहता है। गीता का यही आर्ष वाक्य है –

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 118
2. सुमित्रा नन्दन पन्त – युगान्त – पृ0 55

योग्य जन जीता है,

पश्चिम की उक्ति नहीं,

गीता है, गीता है –

स्मरण करो बार–बार–

× × ×

तुम हो महान, तुम सदा हो महान

है नश्वर यह दीन भाव

कायरता, कामपरता,

ब्रह्म हो तुम

पद–रज –भर भी है नहीं

पूरा यह विश्व–भार।[1]

पंत जी के काव्य में गांधी जी की सत्य एवं अहिंसा सम्बन्धी विचार–धारा यथावत रूप में दिखाई देती हैं।

सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन।

अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग बन जावेगा जग जीवन।

आत्मा की महिमा से मण्डित होगी नव मानवता।

प्रेम शक्ति से चिर निरस्त हो जावेगी पाशवता।[2]

पंत जी शीर्फ पाशविकता समाप्त ही नहीं करना चाहते। वह तो एक ऐसी संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं जहां किसी भी प्रकार का कोई भेद–भाव न हो जहां प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण मानवता के विकास के लिए प्रयत्न करेगा।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 190
2. सुमित्रा नन्दन पंत – रश्मिबंध – पृ0 74

सुसंस्कृत होकर एक नई संस्कृति का निर्माण करेगा, अर्थात इसी धरा पर स्वर्ग की स्थापना होगी।

> मुक्त जहां मन की गति, जीवन में रति,
> भव मानवता में जन जीवन परिणति।
> संस्कृत वाणी, भाव, कर्म संस्कृत मन,
> सुन्दर हो जनवास, वसन, सुन्दर तन।
> ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित
> नव मानव संस्कृति किरणों से ज्योतित।[1]

ये तभी संभव है जब प्राचीन रूढ़ियों का विनाश हो जाय, समस्त जीर्ण–शीर्ण हुइे प्राचीन परम्परायें टूट जाय, मनुष्य के अन्दर से धर्मान्धता का भाव मिट जाय। और मानव नवीन उदारवादी विचारों को अपनायें। छायावाद युग इस प्रकार की भावनाओं के पल्लवन का युग हैं। मनुष्य से मनुष्य के बीच की दूरी को कम करने में इस युग का सहयोग सराहनीय है।

राजनैतिक परिस्थितियाँ :–

छायावादी कविता दो विश्व युद्धों के बीच की कविता हैं। भारतीय क्षितिज पर भी स्वतंत्रता आन्दोलन अपने उग्र रूप में पहुँचकर पुनः शान्तिपूर्ण ढ़ंग से आगे बढ़ रहा था। क्योंकि 1919 में जलियावाला बाग हत्याकाण्ड, तदुपरान्त 1920 में लोकमान्य तिलक की मृत्यु के पश्चात समस्त आन्दोलन का नेतृत्व महात्मा गांधी के नेतृत्व में आ गया था। गांधी जी ने स्वतंत्रता संग्राम को पूर्णतः अहिंसात्मक रूप प्रदान किया। उनकी इस नीति के कारण जनता अध्यात्मवाद की ओर आकृष्ट होने लगी। गांधी जी ने स्वराज्य प्राप्ति के लिए रचनात्मक मार्ग अपनाया, जिसका लक्ष्य था असहयोग, और सविनय अवज्ञा आन्दोलन। कांग्रेस पार्टी ने भी राजनैतिक

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत – रश्मिबंध – पृ0 75

सुधार की आवश्यकता अनुभव की, और अंग्रेजों से औपनिवेशिक स्वराज्य के स्थान पर पूर्ण स्वराज्य की मांग की। इन आन्दोलनों का दशव्यापी प्रभाव पड़ा तथा देशवासियों ने इसका हृदय से स्वागत किया। जन–जागृति के साथ आंग्ल शासकों ने और अधिक कठोरता का रूख अपनाना आरम्भ कर दिया। सत्याग्राहियों पर दमन, गोली, लाठी तथा गिरफ्तारी से किया जाने लगा। सत्याग्रह असफल कर दिया गया। फलस्वरूप भारतीयों की आकांक्षाएं नष्ट भ्रष्ट हो गयी। लेकिन मातृभूमि की मुक्ति के लिए जनता में अपार सहनशीलता, आत्म बलिदान, दृढ़ता और साहस का संचार होना नहीं रूका। इस तरह गांधी जी के व्यक्तित्व से राजनीतिक चेतना की जो लहर उठी उससे समग्र साहित्य पर सर्वतोमुखी सक्रियता की छाप पड़ी। तत्कालीन साहित्य की वह मूल प्रेरणा और राष्ट्रीय चेतना बनी। डा० नामवर सिंह के शब्दों में "राजनीतिक ढंग से जो कार्य गांधीवाद ने किया, साहित्यिक ढंग से वही कार्य छायावाद ने किया। ---- इस बात को वैज्ञानिक ढंग से कहना चाहें तो कह सकते हैं कि बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग के नेतृत्व में भारतीय जनता ने अपनी राजनीतिक और सामाजिक स्वाधीनता के लिए जो संघर्ष किया उसके कई पहलुओं को छायावाद ने सच्चाइ के साथ प्रतिबिम्बित किया और यथाशक्ति उसे आगे बढ़ाने में योग भी दिया।[1]

छायावाद में सीधे ढंग से राजनीतिक परिदृश्य की अभिव्यक्ति दिखाइ देती हैं। हर पराधीन देश में राष्ट्रीय भावना का उदय पुनरूत्थान भावना से होता हैं। भारत में भी ऐसा ही हुआ भारतवासियों ने वर्तमान पराधीनता के अपमान को भूलने के लिए अतीत के गौरव पूर्ण युग का सहारा लिया। जिससे भारतीय जन–मानस की हीन भावना दूर हो सके। वे अपने इस प्रयास में सफल रहे क्योंकि जो जाति आपस में विभाजित थी, वह अतीत की पृष्ठभूमि पर एक हो उठी।

इस पुनरूत्थान–परक जातीय भावना को छायावादी कवियों ने भी प्रतिध्वनित किया। प्रसाद जी में ये भावना सबसे अधिक थी। चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि

---

1. डा० नामवर सिंह – छायावाद – ऐतिहासिक सामाजिक विश्लेषण – पृ० 66

अनेक ऐतिहासिक नाटकों द्वारा उन्होंने जातीय जागरण के प्रसार में सहयोग दिया। सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने भी भारतवर्ष की स्वतंत्रता के लिए भारतीय जनता के अन्तर्मन में उत्साह वर्धक भाव भरा। उनकी "जागो फिर एक बार" शीर्षक कविता में भारतीय सूरवीरों को जगाने का ही उद्बोधन दिखाई देता है।

सिंही की गोद से छीनता है शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह रहते प्राण?
रे अजान,
एक मेष माता ही
रहती है निर्निमेष –
दुर्बल वह –
छिनती सन्तान जब
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आंसू बहाती है
किन्तु क्या ?
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं
गीता है, गीता है,
स्मरण करो बार–बार।[1]

परतंत्रता के अभिशाप को तभी नष्ट किया जा सकता है जब जन–जन के मन में साहस और ओज जगे। शत्रु के विरूद्ध ओज प्रदर्शन या शौर्य प्रदर्शन जरूरी है तभी उसके हृदय मं भय व्याप्त होगा। फलस्वरूप राष्ट्र स्वयमेव ही स्वाधीनता प्राप्त करने में समर्थ हो जायेगा

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अपरा – पृ0 9–10

कवि निराला मानव को शिथिल बना देने वाली भवना के नष्ट होने की कामना करते हुए जनता में साहस के संचार का प्रयत्न किया।

> जीर्ण, शीर्ण जो, दीर्ण धरा में प्राप्त करें अवसान,
> रहे अवशिष्ट सत्य जो स्पष्ट।[1]

निराला के इसी प्रकार के उद्बोधन का स्वर "गीतिका" में सुनाई पड़ता है। निराला जी "वीणावादिनी" से प्रार्थना करते हैं कि वह जनमानस के कालुष्य का हरण कर, उसे जागृति के आलोक से पूर्ण कर दे।[2]

देश-प्रेम एक ऐसा भाव है, जिसको धारण करने वाला सैनिक समस्त सम्बन्धों–रिश्ते–नातों को भुला कर सदा ही अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। यद्यपि मार्ग में अनेकों बाधाएं आती हैं। लेकिन राष्ट्र प्रेमी की गति बाधाओं से कभी अवरूद्ध नहीं होती ऐसे ही राष्ट्रभक्तों को सचेत करती हुई महादेवी वर्मा कहती हैं कि –

> बांध लेंगे क्या तुझे यह मोम के बंधन सजीले ?
> पंथ की बाधा हरेंगे तितलियां के पर रंगीलें?
> विश्व का क्रन्दन भुला देगी मधुप की मधुर गुन–गुन
> क्या डुबो देंगे तुझे यह फूल के दल ओस गीले।
> तुम न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना।
> जाग तुझको दूर जाना।[3]

चुनौती मानव मन की क्रियाओं को तीव्रता प्रदान करती है। इसके द्वारा ही मनुष्य में अद्भुत साहस जागृत हो उठता है। प्रसाद जी ने इसी आधार पर "पेशोला की प्रतिध्वनि" के माध्यम

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अनामिका – (उद्बोधन) – पृ0 68
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 3
3. महादेवी वर्मा – यामा – पृ0 233

से नवयुवकों का उद्बोधित किया है –

कहता है कौन ऊँची छाती कर मैं हूँ –

मैं हूँ – मेवाड में,

अरावली, श्रृंग–सा समुन्नत सिर किसका?

बोलो कोई बोलो – अरे क्या तुम सब मृत हो।[1]

छायावादी कवियों ने राष्ट्रभक्तों को जागृत तो किया ही क्रान्ति का भी आह्वान किया। क्रान्ति एक स्वाभाविक गति है, इसका स्वरूप क्षणिक क्षोभ से निर्मित नहीं होता। ये एक लम्बे समय तक चल रहे अत्याचार, उत्पीड़न के क्रोड़ से जन्म लेती है। भारत में ब्रिटिश शासन का अत्याचार उत्तरोत्तर प्रगति करता जा रहा था। जलियांवाला बाग का नृशंस अत्याचार और लाला लाजपत राय पर किया गया बर्बर प्रहार, जनता के रक्त में क्रान्ति के बीज के रूप में जम गया। फलस्वरूप एक लम्बे समय से चले आ रहे उत्पीड़न के विरोध में देश भक्तों ने क्रान्ति का बिगुल बजा दिया। तत्कालीन स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व गांधी कर रहे थे, जिनके पास मात्र आत्मबल रूपी अस्त्र था जब कि प्रतिपक्षी बाह्य–स्थूल–भौतिक उपकरणों से पूर्णतः सम्पन्न था। अतः यह संघर्ष भौतिकता (ब्रिटिश साम्राज्यवाद) और आध्यात्मिकता (भारत) के मध्य था, छायावादी कवि निराला ने इसी संघर्ष को "तुलसीदास" काव्य में दैवी शक्ति एवं आसुरी वृत्ति के रूप में व्यक्त किया है।

होगा फिर से दुर्धर्ष समर

जड़ से चेतन का निशिवासर,

× × ×

भारती इधर है, उधर सकल

जड़ जीवन के संचित कौशल,

जय, इधर ईश, है उधर सबल मायाकर।[2]

---

1. जयशंकर प्रसाद – लहर – पृ0 57
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – तुलसीदास – पृ0 58

महात्मा गांधी यद्यपि अहिंसा के पुजारी थे, लेकिन जब उन्हें यह आभास हुआ कि अंग्रेज इस तरह से भारत से नहीं वापस जायेंगें तो अन्ततः उन्होंने "करो या मरो" का नारा दिया। जिससे विदेशी शासन के अन्तर में भय व्याप्त हो और शीघ्राति शीघ्र भारत से पलायन के लिए बाध्य हो जाय। कवि भी ऐसी ही क्रान्ति का इच्छुक है इसलिए कविवर निराला विप्लव के जलधर का आह्वान करते हुए कहते है कि –

भय के मायामय आंगर पर,
गरजो विप्लव के नव जल धर ।[1]
× × × ×
एक बार बस और नाच तू श्यामा।
अट्ट हास–उल्लास नृत्य का होगा जब आनन्द
विश्व के इस वीणा के टूटेंगे सब तार,
बन्द हो जायेंगे ये सारे कोमल छन्द,
सिन्धु राग का होगा तब आलाप।[2]

छायावादी कवियों ने क्रान्तिवीरों को प्राणोत्सर्ग का भी सन्देश सुनाया। ये समय की पुकार थी। स्वतंत्रता की बेदी पर बलि चढ़ाना आवश्यक हो गया था। बिना रक्त बहाये स्वतंत्रता नहीं मिल सकती थी। इसलिए छायावादी युग के लगभग सभी कवियों ने बलिदान के गीत गाये। भारतीय संस्कृति में जननी और जन्मभूमि की तुलना स्वर्ग से की गयी है। ऐसी नैसर्गिक जन्मभूमि के लिए अपना सर्वस्व समर्पित करना कोई बहुत बड़ी बात नहीं। भारत मां की "अश्रु–जल–धौत–विमल" मूर्ति हृदय पर अंकित किये महाकवि निराला जन्म–जन्मान्तरों से संचित फल मातृवेदी पर अर्पित करने के लिए उत्सुक हैं –

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 161
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 150

जीवन के रथ पर चढ़कर
सदा मृत्यु–पथ पर बढ़कर
महाकाल के भा खरशर सह
सकूँ, मुझे तु कर दृढ़तर,
×　　×　　×
क्लेद युक्त अपना तन दूँगा,
मुक्त करूँगा तुझे अटल,
तेरे चरणों पर देकर बलि,
सकल श्रेय–श्रम संचित फल।[1]

कवियों ने मातृ–भूमि का स्तवन किया। उसे देवि रूप में देखा अपनी जन्मभूमि सभी को प्यारी होती है। अपनी जन्मभूमि के प्रति महादेवी वर्मा के आन्तरिक भाव अनायास ही शब्दों का रूप धारण करके अभिव्यक्त हो उठे हैं।

मैं कम्पन हूँ तू करूण राग
मैं आँसू हूँ तू है विषाद
मैं मदिरा तू उसका खुमार
मैं छाया तू उसका आधार
मेरे भारत मेरे विशाल
मुझको कह लेने दो उदार
फिर एक बार, बस एक बार।[2]

इस प्रकार कवयित्री महादेवी वर्मा ने राष्ट्र प्रेम की जो गहन एवं व्यापक व्यंजना की है, वह सराहनीय है। प्रसाद जी भी राष्ट्र का सम्मान कम नहीं करतें। महादेवी की भांति मात्र

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी – अपरा – (मातृवन्दना) पृ0 21
2. महादेवी वर्मा – यामा (नीहार) – पृ0 33

गया और ये निर्गुण–निराकार और सगुण–साकार के रूप में निवेदित न होकर सगुण–निराकार को निवेदित की जाने लगी। स्वरूप अवश्य बदला पर मूल रूप में भक्ति की प्रतिष्ठिता बनी रही। छायावादी कवियों में भी भक्ति का यही रूप देखने को मिलता है। भगवदाराधन में, अभिव्यक्ति पक्ष में निर्गुण का एकान्त ग्रहण सम्भव न होने के कारण छायावादी कवियों ने भी कबीर की भांति ब्रह्म से रागात्मक संबंध स्थापित किया। प्रसाद ने अपनी भक्ति निवेदन के आलम्बन को कभी विभो, नाथ, करूणानिधि, विश्वगृहस्थ, पतित–पावन कहा तो कभी उससे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते समय माता–पिता का भी संबंध सूत्र जोड़ लिया। पंत जी ने भी अनेक सम्बोधनों से उसे पुकारा–जननि, मात:मां, प्रिय, प्रियतम, प्राण, अमर, पावन अनन्तगति, छविमान, छविमय, उज्वल, उज्वलतर, करूणावान, शिवसुन्दर, कर्णधार आदि– आदि[1]। स्वाभाविक है "सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी, प्रिय के अनन्त अनुराग भरी"[2] वाली भावना का पुजारी अपने आराध्य से कौन–कौन सा सम्बन्ध स्थापित करेगा। जाहिर है ये भावना किसी प्रियतम के प्रति ही हो सकती है। महादेवी ने अपने इष्ट से ऐसा ही संबंध कायम किया। वह उन्हें प्रियतम देव, मधुर मिलन, विधु, जलराशि, ऋतुराज, निद्रा, ज्योति विस्तार, प्रकाश, ज्वाला, बादल आदि सम्बोधनों से संबोधित करती है।

इसी प्रकार निराला का वैदान्तिक अद्वैतवाद उन्हें श्यामा–पुत्र अथवा सरस्वती–सुत रूप में अपने को उपस्थित करने में बाधक न हो सका। निराला ने अपनी भक्ति साधना में विभिन्न–संबोधनों का प्रयोग किया, जिसमें जननि, मां, प्रभो आदि महत्वपूर्ण हैं। वैसे निराला के भक्ति संबोधनों में "जननि" या मां" का सम्बोधन बहुत महत्वपूर्ण है। उनके सारे भक्ति गीतों में लगभग 23–24 गीत सिर्फ इस "जननि" सम्बोधित से ही अभिव्यक्त हुए है।"गीतिका" के 13 भक्ति–गीतों में से 11 शीर्फ मातृ–वन्दना के ही गीत हैं।

समस्त छायावादी कवियों के काव्य साधना का आलम्बन यद्यपि अज्ञात प्रिय तथा माध्यम प्रकृति है। फिर भी वे अपने इष्ट देव से वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

---

1. प्रेम प्रकाश रस्तोगी – छायावाद और वैदिन दर्शन – पृ0 – 305
2. महादेवी वर्मा – यामा (सान्ध्यगीत)

और अनन्य भाव से अपनी श्रद्धा-भक्ति निवेदित करते हैं। इस युग के अग्रणी कवि प्रसाद जिनका जन्म एक कट्टर धार्मिक परिवेश में हुआ था। या ये कहें कि धर्म और ईश्वर के प्रति इनकी आस्था अपने विरासत से ही प्राप्त हुई। एक ही बात है। इनका गृह स्थान काशी था। इसलिए भगवान शंकर के उपासक रहे। प्रसाद जी प्रारम्भ में भक्त थे, जैसा कि उनका भक्त रूप उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में दिखाई देता है। लेकिन जैसे-जैसे छायावाद प्रौढ़ होता गया ये भक्त से दार्शनिक बन गये इसके विपरीत निराला का दार्शनिक अन्त में भक्ति में पर्यवसित हुआ। प्रसाद जी शिव की उपासना करते थे। अपनी उपासना के सन्दर्भ में उन्होंने स्वयं लिखा है। निराशा में, अशान्ति में, सुख में उस अपूर्व सुन्दर चन्द्र की भक्ति -रूपीं किरणें तुम्हें शान्ति प्रदान करेंगी और यदि तुम्हें कोई कष्ट हो तो अशरण शरद् चरण में लौट कर रोओ, वे अश्रु तुम्हें सुधा के समान सुखद होंगे और तुम्हारे सब संताप हर लेंगे।[1] प्रसाद के इस कथन के अनुसार उन्हें भक्त-पद से वंचित नहीं किया जा सकता। "चित्राधार"में ही कवि भक्ति का परिचय देते हुए उसे "ईश्वर में अनन्य प्रेम" या " परीक्षा ज्ञान" की संज्ञा से मंडित किया है। भक्ति प्रसाद की दृष्टि में ईश्वर को पाने का एक मात्र मार्ग है।[2] ईश्वर के पास पहुँचने के लिए भारतीय संस्कृति में जो तीन मार्ग- कर्म, ज्ञान और भक्ति की चर्चा की गयी है, उसमें से भक्ति की सर्वश्रेष्ठता भी भक्ति कालीन भक्तों एवं संतों ने प्रतिपादित किया। भक्त वही हो सकता है जिसका अनन्य विश्वास प्रभु में हो, अनन्य विश्वास अपने से समर्थ पर ही किया जा सकता है। आशय है ईश्वर में सम्पूर्ण विलय ही भक्ति है और सम्पूर्ण विलय तभी संभव है जब अहं का परित्याग कर दिया जाय। प्रसाद जी श्रद्धा और भक्ति में कोई भेद नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि में श्रद्धा की पराकाष्ठा ही भक्ति है।[3] प्रसाद जी एक ही परम-सत्ता में विश्वास रखने वाले धर्म प्राण साधक थे। उनके सम्पूर्ण साहित्य का आधार है, एक ब्रह्म में आस्था, श्रद्धा और विश्वास, वह एक ही विधाता के विधान में अटल विश्वास रखते हैं- करत-सुनत, फल

---

1. जयशंकर प्रसाद - चित्राधार - भक्ति लेख- पृ0 137
2. "यदि उस सर्व शक्तिमान को कोई ऊँची वस्तु मान लिया जाय, तो भक्ति उसे पाने का दूसरा सोपान है।" चित्राधार - जयशंकर प्रसाद - पृ0 136
3. जयशंकर प्रसाद - चित्राधार - पृ0 137

दत, लेत सब तुमहीं, यहीं प्रतीत।[1] सब कुछ वही कर रहें है। इस मान्यता को मानने वाला अगर अपनी जीवन नैया उसी के ऊपर छोड़ दे तो इसमें आश्चर्य की क्या बात।

नाथ तिहारे सहारे चलावत,

लक्ष्य तू ही यह जीवन-नैया।

कवि की प्रारम्भिक रचना "चित्राधार" है। इस काव्य संग्रह में प्रसाद भक्त और दार्शनिक दोनों रूपों में उपस्थित हैं। "चित्राधार" में भक्ति परक अंशों को "पराग" और "मकरन्द" बिन्दु के अन्तर्गत रखा गया है। "पराग" खण्ड की प्रथम कविता "अष्टमूर्ति" शीर्षक से है इसमें कवि प्रसाद ने अपने उपास्य सर्व शक्तिमान के विश्व रूपात्मक स्वरूप का वर्णन किया है। "अष्टमूर्ति" में "अष्टरूप शिव का स्तवन है। कवि का आराध्य अनन्त सौन्दर्य-विभा से आपूरित है, जो धरा की लाल, वैश्वानर आकाश, समीरण, दिनेश, चन्द्र इन रूपों में अपनी लीला का विस्तार करता है।[2]

भक्ति की उत्पत्ति अपनी अकिंचनता और प्रभु की विराटता के बोध से है। आचार्य शुक्ल जी की स्थापना है कि भक्ति का मूल तत्व है, महत्व की अनुभूति। इस अनुभूति के साथ ही दैन्य अर्थात अपने लघुत्व की भावना का उदय होता है।[3] प्रसाद जी ने मध्य कालीन भक्तों की ही भांति दैन्य-भावना व्यक्त करते हुए प्रार्थना करते हैं कि -

करूणानिधान सुन्यौ तेरी यह बान,

नित दीन दुखियान पै तिहारी कृपाकोर है

तउ ये पुकारत है आरत भये से क्यों,

संवारत न काज निज देखि दीन ओर हैं।

क्या तुम्हारी कृपा-दृष्टि आज -

साँचे ही भये हो नाथ पाहन के जौन तुम्हें

दीनन की आह नहि लावें कारे सोर है।[4]

---

1. जयशंकर प्रसाद - चित्राधर - पृ0 - 186
2. जयशंकर प्रसाद - चित्राधार - अष्टमूर्ति - पृ0 - 142
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - चिन्तामणि - भाग 1 - पृ0 - 203
4. जयशंकर प्रसाद - चित्राधार - पृ0 - 180

प्रसाद जी का यह पद मध्यकालीन भक्त कवि तुलसी के "कृपा सोंधों कहाँ बिसारी राम" (विनय पत्रिका) वाले पद से साम्यता रखता है। ऐसे उपालम्भ भक्ति साहित्य में प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। भक्त कवि कहता है कि मेरा और कोई सहारा होता तो मैं तुम्हारे ही पास क्यों आया। सच कहता हूँ एक मात्र तुम्हारा ही सहारा है। इस तरह मुँह मोड़ कर मत रहो कृपानिधान तू नहीं सुनेगा तो कौन सुनेगा।

पावत न और ठौर तुम्हारी चरण छोड़
रहै मुख मोड़ तुम काके सौंह रोइए।[1]

प्रसाद जी की इस प्रकार की पंक्तियों में भक्ति का पारम्परिक रूप मुखर हुआ है। जहाँ तुलसी दास की ही भांति दुःख कातर हो कर आर्त्त पुकार सुनाई देता है। "विनय पत्रिका" में इस प्रकार के पदभरे पड़े हैं।[2] कवि को ये विश्वास है कि प्रभु करूणा–निधान है, करूणा का आगार है, इसलिए देर है, पर अंधरे नहीं। अवश्य ही मेरे समस्त पापों का शमन कर मुझें अपना लेगा क्योंकि "मो सामान आरत नहि आरति हर तोसों" के अनुरूप ही उसका चरित्र है। प्रसाद जी का भक्त भी कुछ इसी प्रकार से निवेदन करता है –

हे पावन पतितन के सरबस दीन जनन के मीत
सब बिसरि दुर्गुन निज जन के देहु चरण में प्रीति।[2]

चरण–शरण की कामना सदैव ही भक्त प्रसाद के हृदय में बनी रहती है। वह अपने आराध्य से ही प्रार्थना करते रहते हैं कि उनका मन–मधुप भक्ति विह्वल होकर प्रभु के चरण–कमलों में आसक्त रहे। प्रभु के चरणों में वह उसी अनुराग की कामना करता है जिस प्रकार स्वच्छ जल में मीन, चन्द्र में चकोर, घनश्याम में दामिनी का अनुराग रहता है।[3] तुलसीदास ने भी इसी आसक्ति, चरणानुरक्ति की कामना की ।

कामिहि नारी पियारि जिमि, लोभी को प्रिय दाम
तिमि इच्छा रघुवंश मनि, प्रिय लागहु मोहिराम।[4]

---

1. जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे
   काको नाम पतित पावन जग केहि अति दीन पियारे। वि0प0 – पद 101
2. जयशंकर प्रसाद – चित्राधार – पृ0 185
3. जयशंकर प्रसाद – चित्राधार – पृ0 187
4. तुलसीदास – रामचरित मानस

कवि समस्त विश्व को "सियाराम मय सब जग जानी" के अनुरूप ही विश्वेश की अभिव्यक्ति मानता है। जब सम्पूर्ण विश्व में उसी का वास है तो सगुण और निर्गुण का भेद कैसा। इस तर्क को देते हुए प्रसाद जी निर्गुण और सगुण ब्रह्म के दोनों रूपों में विश्वास रखते है। ब्रह्म के सर्वव्यापक रूप की चर्चा करते हुए कहते हैं –

छिपि के झगड़ा क्यों फैलायो ?
मन्दिर मस्जिद गिरजा सब में खोजत सब भरमायो
×　　×　　×　　×
लीलामय सब ठौर अहो तुम, हमको यहै प्रतीत।[1]

इसी प्रकार की प्रार्थना, प्रसाद जी ने "कानन कुसुम" में भी की है। "प्रभो" शीर्षक कविता में कवि विश्वात्मा की स्तुति करता है। इस कविता के माध्यम से कवि प्रभु को धरा के असीम उपवन का माली कहकर नवीन दृष्टिकोण व्यक्त किया है। जो छायावाद के अनुरूप है–

प्रभो। प्रेममय प्रकाश तुम हो
प्रकृति–पाद्मिनी के अंशुमाली
असीम उपवन के तुम हो माली
धरा बराबर जता रही है
जो तेरी होवे दया दयानिधि
तो पूर्ण होता ही है मनोरथ
सभी ये कहते पुकार करके
यही तो आशा दिला रही है।[2]

"कानन–कुसुम" की दूसरी कविता "वन्दना" में भगवान को उस महा संगीत के रूप में संबोधित किया है, जिसकी ध्वनि विश्ववीणा गाती है।ऐसे में निर्विकार, लीलामय, असीम शक्ति सम्पन्न

---

1. जयशंकर प्रसाद – चित्राधार – पृ0 185
2. जयशंकर प्रसाद – कानन कुसुम – पृ0 2

प्रभु के चरणों में भक्त पुलकित होकर आत्मार्पण करता दिखाई देता है।[1] "नमस्कार" शीर्षक रचना में कवि ईश्वर को विश्वगृहस्थ के रूप में देखता है क़वि ऐसे विश्व गृहस्थ को अपना नमस्कार निवेदित करता है। जिसका मंन्दिर संसार ही हे। ऐसा संसार जहाँ रंक और राजा दोनों ही बराबर है ऊंच–नीच का कोइ भेद भाव नहीं और जिस मन्दिर के दीप सूर्य, चन्द्रमा और तारे हों उसे कवि बारम्बार नमस्कार करता है।[2] इसमें कवि की धार्मिक चेतना के अतिरिक्त दार्शनिक चेतना का पता लगता है, जो अपने ब्रह्म को अखिल चराचर में परिव्याप्त देखकर वन्दना करता है।[3]

"मन्दिर" शीर्षक कविता में कवि वेद और उपनिषदों की भावना की स्थापना करता है। परमेश्वर की सर्वव्यापकता अर्थात उस एक ही तत्व के अनेक रूपों में विद्यामान होने की बात की पुष्टि करता है। कवि कहता है कि जब वह प्रभु जल, भूमि, अनिल, अनल, आकाश, चन्द्रमा यहाँ तक कि नक्षत्रों तारों में भी व्याप्त है तो फिर वो मन्दिर में कैसे नहीं है कवि की मान्यता है कि कोई ऐसी जगह नहीं जहाँ वो न हो, 'नहीं' शब्द उसके लिए नहीं है।

फिर क्यों ये हठ है प्यारे, मन्दिर में वह नहीं है
वह शब्द जो "नही" है उसके लिए नहीं है।[4]

"करूण क्रन्दन" शीर्षक कविता मध्यकालीन भक्ति के अनुरूप ही भक्त का करूण–क्रन्दन है। इसमें कवि ईश्वर की कृपा का कोर प्राप्त करने की आकांक्षा व्यक्त करता है। कवि कहता है कि हे करूणानिधान जरा मेरा करूण–क्रन्दन सुन लीजिए। मेरा जीवन पथ दु:ख के कण्टकों से भर गया है। हे नाथ अपने नाम के अनुसार मेरी रक्षा कीजिए क्योंकि आप तो दया के आगार हैं। क्या पिता–माता कभी अपने पुत्र को त्यागते हैं। हे नाथ इन संसारिक झंझावतों में मैं दिग्भ्रमित हो गया हूँ। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है आप मेरे इस मानस युद्ध का सारथी बन जायें तभी मेरा कल्याण संभव है।

---

1. जयशंकर प्रसाद – कानन कुसुम – पृ0 – 3
2. जयशंकर प्रसाद कुसुम – पृ0 – 4
3. डा0 चक्रवर्ती – प्रसाद की दार्शनिक चेतना – पृ0 – 280
4. जयशंकर प्रसाद – कानन – कुसुम – पृ0 –5

करूणा निधे यह करूणा क्रन्दन भी जरा सुन लीजिए,
कुछ भी दया हो चित्त में तो नाथ रक्षा कीजिए।
हम मानते हम हैं अधम, दुष्कर्म के भी छात्र हैं,
हम हैं तुम्हारे इसलिए फिर भी दया के पात्र हैं।
× × × ×
पर नाथ! पड़कर दुःख में किसने पुकारा है नहीं
सन्तुष्ट बालक खेलने से तो कभी थकता नहीं
कुछ क्लेश पाते याद पड़ जाते पिता–माता वही।
× × × ×
हे गुणाधार, तुम्ही बने कर्णधार विचार लो,
है दूसरा अब कौन, जैसे बने नाथ! सम्हार लो।
× × × ×
हे नाथ, मेरे सारथी बन जाओ मानस युद्ध में
फिर तो ठहरने से बचेंगें एक भी न विरूद्ध में।[1]

प्रस्तुत कविता में कवि ने प्रभु को करूणानिधि, गुणा धार, नाथ आदि विशेषणों से सम्बोधित किया है। इसी संग्रह की एक अन्य कविता "महाक्रीड़ा" में कवि विराट के सौदर्न्य का वर्णन करता है। सम्पूर्ण कविता दो भागों में विभक्त है। इसके प्रथम भाग में विश्वेश का रूप चित्रण है,और दूसरे भाग में कवि की मधुरा–भक्ति दृष्टिगोचर होती है।

"पतित–पावन" शीर्षक कविता भी भक्ति का पारम्परिक स्वरूप लिए हुए है। इस कविता में कवि तुलसी के अनुसरण "हरि पतित पावन सुनै" के स्वरों में स्वर मिलाकर पतितों के कल्मषों को सुचिता प्रदान करने वाले पतित–पावन प्रभु की प्रार्थना की है। कवि प्रसाद अपने पातकी स्वभाव को इसलिए नहीं छुपाते क्योंकि वो जानते है कि ईश्वर तो पतित–पावन है ही,वह अपने भक्तों की सहायता अवश्य करता है।

प्रसाद उसका ग्रहण कर छोड़ दे आचार अनबन है–
वो सब जीवों का जीवन है, वही पतितों का पावन है

---

1. जयशंकर प्रसाद – कानन–कुसुम – पृ0 7–8

पतित होने की देरी है

तो पावन हो ही जाता है।[1]

"कानन–कुसुम" की भक्ति एवं विनयपरक रचनायें परम्परा और युग दोनों से प्रभावित है। जिन कविताओं में विनय का स्वर मुख्य है उनमें प्रसाद जी की दार्शनिकता भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। डा0 प्रेमशंकर ने भी कहा है कि "अध्ययन चिंतन से कवि दार्शनिक प्रवृत्तियों की ओर झुका रहा है।[2] वैसे वास्तविकता ये है कि कानन–कुसुम प्रसाद जी के भाव–जगत के विकास का एक सोपान है। जिसमें उषा मिश्र विनयपरक रचनाओं को युग से प्रभावित मानती हैं।[3]

"करूणालय" में भी भक्ति का पारम्परिक रूप व्यक्त हुआ है। यह रचना नाटकीय रूप में लिखी गयी है जिसका आधार पौराणिक है। इस पौराणिक कथा में शुनः शेष की प्रार्थना के माध्यम से भक्ति को प्रसाद जी ने व्यक्त किया है। शुनः शेष परमपिता से प्रार्थना करता है कि –

हे हे करूणा–सिन्धु, नियन्ता विश्व के
हे प्रति पालक–तृण–वीरूध के सर्प के
हाय, प्रभो। क्या हम इस तेरी सृष्टि के
नहीं दिखाता जो मुझ पर करूणा नहीं।
× × × ×
इस अनाथ को, जो असहाय पुकारता
पड़ा दुख के गर्त बीच अति दीन हे।
हाय। तुम्हारी करूणा को क्या हुआ
जो न दिखाती स्नेह पिता का पुत्र से ।
जगत्पिता। हे जगद्बन्धु हे हे प्रभो,

---

1. जयशंकर प्रसाद– कानन कुसुम – पृ0 70
2. डा0 प्रेमशंकर – प्रसाद का काव्य – पृ0 132
3. उषा मिश्र – प्रसाद का पूर्ववर्ती काव्य – पृ0 40

तुम तो हो, फिर क्यों दुख होता हैं हमें?
त्राहि त्राहि करूणालय। करूणा सद्म में
रख क्या लो विनती है पद पद्म में।[1]

"करूणालय" के अन्त में जिस समवेत प्रार्थना—गान का आयोजन प्रसाद जी ने किया है। उसमें भी विश्व के आधार अगम महिमा वाले ब्रह्म की जय ध्वनि व्याप्त है। साथ ही साथ विश्व बन्धन से मुक्ति की आकांक्षा भी समाहित है।

छूटे सब यह विश्वबन्धन हो प्रसन्न उदार
विश्व प्राणी प्राण में हो व्याप्त विगत—विकार।
× × × ×
जय जय विश्व के आधार
अगम महिमा सिन्धु—सी है कौन पावै पार।[2]

अपनी मध्यवर्ती रचना "झरना" में भी प्रसाद ने भक्ति परक रचनाएं की हैं जिसमें भक्ति का पारम्परिक स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। इन कविताओं में प्रमुख रूप से "खोलो द्वार", "अर्चना", "तुम", "प्रार्थना", "कुछ नहीं" आदि को लिया जा सकता है। "खोलो द्वार" में कवि अपने दैन्यरूप का वर्णन किया है, उसका शरीर धूल—धूसरित है, पग में कांटे चुभे हैं और कई बार वो अपने अभीष्ट को पाना चाहा पर मार्ग ही भूल गया। आज तो मार्ग का पता भी लग गया है और द्वार पर भी पहुँच गया हूँ बिना दर्शन नहीं लौटूंगा। क्योंकि ये मेरे उद्धार की बेला है।

अब तो छोड़ नहीं सकता हूँ पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार,
सुप्रभात मेरा भी होवें इस रजनी का दुःख अपार
मिट जावे जो तुमको देखूं खोलो प्रियतम। खोलो द्वार।[3]

---

1. जयशंकर प्रसाद — करूणालय — पृ0 19—20
2. जयशंकर प्रसाद — करूणालय — पृ0 30—31
3. जयशंकर प्रसाद — झरना — पृ0 21

"प्रार्थना" शीर्षक कविता में कवि परमेश्वर की प्रार्थना करता है और याचना करता है कि हे प्रभु जन्म, जन्मान्तर आप का दर्शन होता रहे अर्थात प्रत्येक जन्म में आपकी अनपायनी भक्ति बनी रहे।

प्रार्थना अन्तर की मेरी
यही जन्मान्तर की हो उक्ति
जन्म हों निरखूं तब सौन्दर्य
मिले इंगित से जीवन मुक्ति।[1]

भक्त सदैव से ही ऐसी ही कामना करता आया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपने इष्ट राम से यही याचना की थी कि –

धरम न अरथ न काम रूचि
जनम् न चहहु निर्वान
जनम–जनम श्री राम पद
यह वरदान न आन।[2]

"आदेश" शीर्षक कविता में कवि, कबीर आदि संतों की भाँति भक्ति में प्रयुक्त किये जाने वाले बाह्याचारों, का विरोध करता है।

प्रार्थना और तपस्या क्यों
पुजारी किसकी है यह भक्ति
डरा है तू निज पापों से
इसी से करता निज अपमान।[3]

इस प्रकार प्रसाद ने पर्याप्त रूप में भक्ति परक रचनायें की। जिसमें परम्परा का पालन भी है और युगधर्म का निर्वाह भी।

---

1. जयशंकर प्रसाद – झरना – पृ0 62
2. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस
3. जयशंकर प्रसाद – झरना – पृ0 76

पंत आस्तिक कवि हैं। वे शुद्ध अंतःकरण से स्वीकार करते हैं कि अनन्त, अज्ञात शक्ति है, जो अपरिचित एवं अज्ञात है लेकिन उसकी सत्ता निर्विवाद है।[1] इसके अतिरिक्त अपनी आस्तिक भावनाओं के अनुरूप उन्होंने दूसरों को भी यही शिक्षा दी कि "आपको व्यक्ति और विश्व के साथ ईश्वर को भी मानना चाहिए।[2] जो कवि अपने काव्य की प्रस्तावना में ऐसा निवेदन कर रहा हो उसे नास्तिक तो नहीं ही कहा जा सकता है। भले ही उसे सूर, तुलसी एवं कबीर की पंक्ति में न बैठाया जाय। श्री विश्वम्भर मानव में शब्दों में -"यदि भक्ति का तात्पर्य शिव भक्ति राम और कृष्ण की भक्ति से है तो वे भक्त नहीं हैं।"[3] पर जो कवि स्वयं ही यह उद्घोष कर रहा हो कि "ईश्वर पर चिर विश्वास मुझें।" उसे कैसे भक्त नहीं माना जाय। वास्तविक भक्त वही है जिसका ईश्वर पर विश्वास हो।

निस्संदेह उनका काव्य प्रार्थना परक गीतों की मधुर ध्वनि से आप्लावित है। भक्ति भावना की दृष्टि से पंत काव्य समृद्ध है। स्वर्ण धूलि, उत्तरा और अतिमा संग्रह विनय एवं भक्ति परक प्रार्थना का समुच्चय है। वैसे ध्यान से देखने पर युगान्त, युगवाणी जो उनकी प्रगतिवादी रचनाओं का संग्रह हैं में भी आत्मवाद, ईश्वरवाद, सत्य, अहिंसा आदि से सम्बन्धित कविताएं हैं।

पंत अपने प्रथम काव्य संग्रह 'वीणा' में वाणी की अधिष्ठात्री देवी से प्रार्थना करते हैं कि वह उसे उस विराट् चेतना के शब्द चित्र उतारना सिखलायें–

आंखो ने जो देखा करके
उसे खींचना सिखलाओ।[4]

"वीणा" के ही अधिकांश गीतों में कवि–मां, सहचरी, प्रेयसी, आदि सम्बोधनों का प्रयोग विश्वचेतना के लिए करता है। कवि इस विश्वसत्ता को "नभवासिनी" "कुमुदकलहासिनी"

---

1. डा0 सुषमा पाल – छायावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि – पृ0 180
2. सुमित्रानन्दन पंत – उत्तरा – प्रस्तावना – पृ0 20
3. विश्वम्भर मानव – श्री सुमित्रा नन्दन पंतः काव्य कला और जीवन दर्शन (छायावाद, रहस्यवाद और पंत) सम्पादिका–शचीरानी गुर्टू पृ0 173
4. सुमित्रा नन्दन पंत – वीणा – पृ0 2.

"अमृतवासिनी" "अमृत प्रकाशिनी आदि रूपों में देखता है इस प्रकार कवि "वीणा" के प्राकृतिक दृश्यों में परम सत्ता का ही आभास करता है। "वीणा" की आधी रचनाएँ "मां" को निवेदित हैं। जो इस विराट संसार की जननी है। जो ब्रह्म (परम सत्त) की ही पर्याय है। श्री राम कृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द की "काली" और निराला की जननि भी इतनी ही विराट हैं जो समस्त सृष्टि के सृजन और संहार की शक्ति संचित किए हुए हैं। पंत जी ने अनेक स्थलों पर उसी शक्ति स्वरूप को "सुजान" "करूणावान" "शिव सुन्दर" "कर्णाधार" आदि कह कर उसका विभिन्न गुणों के निधान रूप में उल्लेख किया है। यह उस भक्ति का सगुण रूप है जो भक्तों के साकार रूप से भिन्न है। "स्वर्ण धूलि" संग्रह में भी विनय परक रचनाएंहैंजहाँ श्रद्धा की अभिव्यक्ति हुई है। यही बात अतिमा और उत्तरा में भी लागू होती है।पंत काव्य में "उत्तरा" संग्रह की "नमन" शीर्षक कविता में भक्त के समर्पण को भक्ति के महत्वपूर्ण तत्व के रूप में परिणत किया गया है। इसी संग्रह की "विनय" और वन्दना जैसी रचनाएँ भी है, जहाँ कवि ने प्रार्थना परक भावनाओं को व्यक्त किया है। ईश्वर के चरणों में "प्रणति की कामना करने वाले कवि ने अत्यन्त विनयावनत् होकर इन पंक्तियों को प्रस्तुत किया है।

मुझें प्रणति दो
प्रीति समर्पित प्राण कर सकूं
निज पद रति दो।[1]

इसी प्रकार "अतिमा" संग्रह की "ध्यान भूमि" शीर्षक कविता में कवि जीवन के अंतरतम सत्य को उद्घटित करना चाह रहा है। साथ ही साथ पूर्ण आत्म समर्पण की आकांक्षा भी व्यक्त करता है।

आओ हे, सब ध्यान मौन, एकाग्र प्राण मन,
जीवन के अंतरतम सत्य करें उद्घाटन।
पलक मूँद अंतः स्थित, खोले मन के लोचन,
घटवासी को करें पूर्ण हम आत्म समर्पण।[2]

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत – उत्तरा (विनय) – पृ0 – 157
2. सुमित्रा नन्दन पंत – अतिमा – (ध्यान भूमि) पृ0 – 89

कवि 'वीणा' में मां को अपनी श्रद्धा भेंट करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहता है कि –

मां अपने जन का पूजन।

ग्रहण करो पत्रं पुष्पम्।[1]

कवि आगे यह कामना करता है कि वह दिव्य–शक्ति संपन्न (माँ) की आभा को प्राप्त कर "जन का तिमिर–त्रास हर" लेने में समर्थ हो।

तेरी आशा को पाकर माँ!

जग का तिमिर त्रास हर दूँ![2]

"ग्राम्या" में अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत जनता पंत की दृष्टि में असंस्कृत प्रतीत हुई थी, और पूंजीपतियों के लिए श्रम करने वाली उसी असंस्कृत जनता के मुख पर छाये हुए श्रमकण उन्हें पावन लगने लगे थे। ऐसा इसलिए प्रतीत होता है, क्योंकि उस समय पंत मार्क्सवाद के प्रभाव से दूर निकलकर अरविन्द की छाया ग्रहण कर चुके थे। मानव के ऐहिक स्वार्थ क्षुद्र हैं अतः उनके लिए संघर्ष का रास्ता अपनाना मूर्खता है। भारत के ऋषि वर्ग ने यहाँ की जनता को "आत्मज्ञान" का अविनाशी रत्न दिया है। इसलिए पंत जी कहते हैं कि तुम दीन कहाँ हो जो दूसरों के सामने हाथ फैला रहे हो, तुम्हारे पास तो संसार का अमूल्यतम रत्न है। इस लिए संघर्ष त्याग दो और आत्मज्ञान रूपी रत्न के गुण गाओ, तुम्हारी मुक्ति निश्चित है।

क्षण भंगुर यह तन, आत्मा रे मुक्त चिंरतन,

ईश्वर जग में व्याप्त, त्याग से भोगो भवजन।

यह चिर परिचित भारत स्वर, फिर इसे जगाओ

जग के दीनों दुखियो मुक्त कंठ हो गाओ।[3]

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत – वीणा – पृ0 – 3
2. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्ण किरण – पृ0 – 126
3. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्ण किरण – पृ0 –

कवि प्रभुसे प्रार्थना करता है कि –

असत् तमस के मृत्यु सलिल में हमें पार कर

सत्य, ज्योति, अमृतत्व धाम दो, जीवन ईश्वर।[1]

पंत का मानना है कि ईवर सर्वव्यापी है, इसलिए उसकी उपासना मानव रूप में ही करनी चाहिए। वैसे पंत ने ब्रह्म की सूक्ष्मता, संसार में उसकी व्यापकता पर क्षर अक्षर के रूप में उसकी विवेचना की –

लो सविता आता सहस्त्र कर

सविता, उज्ज्वल व्योम पृष्ठ पर

× × × ×

व्याप्त सर्व लोकों में वह

फैले अपार पंखों मे दिशि पल।[2]

"स्वर्णधूलि" संग्रह की प्रथम कविता में ही कवि अपनी रक्षा के लिए वन्दना करता है।

मुझे असत् से ले जाओ हे सत्य ओर

मुझे तमस से उठा, दिखाओ ज्योति छोर

मुझे मृत्यु से बचा, बनाओ अमृत भोर।

बार–बार आकर अंतर में हे चिर परिचित

दक्षिण मुख से रूद्र करो मेरी रक्षा नित।[3]

इसी संग्रह में कवि साम्प्रदायिकता समाप्त करने के लिए कबीर की भाँति अल्ला और ईश्वर में अभिन्नता सिद्ध करते हुए ईश्वर के करूणा सागर रूप की चर्चा करता है।

अल्ला एक मात्र है ईश्वर और रसूल मोहम्मद

घोषित तुमने किया, तड़ित असि चमका मिटा अहम्मद

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्ण किरण – (इन्द्र धनुष) – पृ0 16

2. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्ण किरण – सविता – पृ0 88–89

3. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्णधूलि – पृ0 1

ईश्वर पर विश्वास, प्रार्थना, दान–संत की संपद
शान्ति धाम इस्लाम, जीव प्रति प्रेम, स्वर्ग जीवन प्रद ।[1]

प्रभु की सर्व शक्तिमत्ता में कवि विश्वास रखता है। उसका विश्वास इस स्तर तक दृढ़ है, कि वह अन्य दीन–दुखियों को भी अपने अनुभव में समेट लेने की आकांक्षा रखता है पौरूष से हीन दीन–दुखियों को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है कि अगर तुम जीवन के आवश्यक साधनों को भी उपलब्ध करने में असमर्थ हो तो भी संघर्ष मत करो. प्रभु के चरण-शरण आ जाओं। प्रभु सर्व शक्तिमान हैं, तुम्हारे पूर्ण समर्पण से वो सब कुछ संवार देगें।

प्राप्त नहीं जो ऐसे साधन
करो पुत्र दारा का पालन
पौरूष भी जो नहीं कर सको
जन मंगल जन गण परिचालन
आओ प्रभु के द्वार।
× × ×
पूर्ण समर्पण कर दे प्रभु को, लेंगे सकल संवार।[2]

प्रभु के चरणों में ऐसी पतित पावनी धार प्रवाहित है जिसमें काम, क्रोध, मद, अहंकार जैसी समस्त दुष्प्रवृत्तियां बह जायेगीं और जो भक्ति की आकांक्षा रखते है वो भी प्रभु के शरण आयें प्रभु करूणा के, महिमा के उदार मेघ हैं –

आवें प्रभु के द्वार।
जो जीवन में परितापित हैं
हतभागे, हताश शापित है
काम, क्रोध, मद से त्रासित हैं,
आवें वे आवें वे प्रभु के द्वार।
बहती है जिनके चरणों से पतित पावनी धार

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्णधूलि – पृ0 44
2. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्णधूलि – पृ0 91–92

ज्ञान भक्ति के अभिलाषी है

आवें वे आवें वे प्रभु के द्वार

प्रभु करूणा के, महिमा के है मेघ उदार।[1]

इसी संग्रह में प्रभु के पतित–पावन स्वरूप की अभिव्यक्ति करते वे नहीं थकते एक अन्य स्थल पर प्रभु के पति पावन रूप के सन्दर्भ में कहते हैं कि –

राम पतित पावन, दुख मोचन

लक्षण भव सुख दुख में शोभव

वे सर्वज्ञ, सर्वगत गोपन,

ज्ञान मुक्त ये, पद नत लोचन ।[2]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि छायावादी काव्य के देवदूत, प्रकृति के सुकुमार कवि पंत भक्ति–भावना से दूर नहीं है और न ही उनका काव्य ही भक्ति के तत्वों से अछूता है। जो कवि प्रभु की सत्ता में विश्वास रखता हो, और उसके सर्वव्यापी पतित पावन स्वरूप की वंदना करता हो उसे भक्त कैसे नहीं कहा जा सकता। अर्थात पंत का हृदय एक भक्त का हृदय है जो "पर सेवा का मृदु पराग भर" लेने की आकांक्षा रखता है। इसी सुन्दर शिक्षा की प्राप्ति की आशा में एक भिखारी की भांति दैन्य भाव से विगलित हो वह प्रभु को पुकार उठता है –

द्वार भिखारी आया है

भिक्षा दो भिक्षा सुन्दर ।[3]

निस्सन्देह उनके काव्य में भक्ति भावना का आकर्षक तत्व निहित है, और ऐसे तत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती जिसकी अभिव्यक्ति उनके काव्य में हुई है ।

छायावाद चतुष्टय के कवियों में महाकवि निराला का स्थान अप्रतिम है। महत्व के निर्धारण की दृष्टि से निराला जी अपने युग के पथ–प्रदर्शक और प्रातिनिधि है।[4]

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्णधूलि – पृ0 91
2. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्णधूलि – पृ0 108
3. सुमित्रा नन्दन पंत – वीणा – पृ0 7
4. प्रो0 तेज नरायण सिहं (सं0) निराला: जीवन और साहित्य – पृ0 188

काव्य में पर्याप्त नवीनता एवं उन्मुक्तता के बावजूद यह नहीं भूला जा सकता कि निराला भी परम्परा और संस्कार के कवि है।[1] महाकवि पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला हिन्दी साहित्य की उन विरल विभूतियों में परे गणनीय हैं। जिन्होंने अपने जीवन का कण–कण मां भारती के पद्पद्मों मे निष्काम भाव से समर्पित कर दिया।[2] निराला का प्रारम्भिक जीवन उस भूमि खण्ड में बीता जिसमें शक्ति–पूजा का प्रचार था, और रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द तथा अरविन्द जैसे लोगों का जन्म हुआ था। ऐसे धनी, समृद्ध वातावरण में पले निराला उसके प्रभाव से बच नहीं सके। यहीं कारण था कि ओज, पौरूष एवं अहं भावना को रखने वाला कवि हृदय के एक कोने में शरणागति और प्रपत्ति भाव को लिए अर्चना और आराधना का गीत गाता फिरता है। इस तरह निराला के अन्तः संगीत का एक बहुत महत्वपूर्ण भाग "प्रभु" के साक्षात्कार से सम्बन्ध रखता है। निराला जी के भक्ति–प्रधान गीतों की संख्या पर्याप्त वृहत है। उनके सारे संग्रहों को मिलाकर शरणागति और प्रार्थना क्रम के गीतों की संख्या लगभग–90 के आसपास है।[3] अपने समकालीनों में निराला अकेले कवि हैं जिन्होंने भक्ति और शरणागति के इतने उच्छल और पवित्र गीत लिखे।

स्नेहपूर्ण भावना आध्यात्मिक क्षेत्र में भक्ति का रूप धारण करती हैं। कवि ज्ञान और कर्म को भक्ति द्वारा व्यापक और चिरस्थायी बनाता है। क्योंकि ज्ञान और कर्म के साथ जब तक रागात्मिका वृत्ति का योग नहीं होता, तब तक उसका प्रतिफल प्रकट नहीं होता। यही कारण था जिससे ज्ञानाश्रयी शाखा के महत्वपूर्ण संत कबीर "हरि जननी मैं बालक तोरा" के द्वारा ब्रह्म में मातृ रूप का भाव ग्रहण करना पड़ा। छायावादी कवि निराला भी अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मां श्यामा से पुत्र का संबंध जोड़ते हैं। फलस्वरूप छायवादी युग के कवि होते हुए भी विशुद्ध भक्तयात्मक गीतों की रचना करने मे समर्थ हो सके। इस दृष्टिकोण से निराला और भक्ति कालीन भक्त कवि तुलसीदास में अद्भुत साम्य

---

1. ओंकार शरद – निराला स्मृति ग्रंथ – आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री – पृ0 133
2. ओंकार शरद – डा0 पद्म सिहं शर्मा कमलेश – पृ0 194
3. दूधनाथ सिहं – निराला: आत्महन्ता आस्था – पृ0 331

मिलता है। तुलसीदास जी द्वार–द्वार बिलखते रहे और निष्ठुर विधि ने उनकी भलाई नहीं की। इसी प्रकार आधुनिक कवि निराला भी निरन्तर जीवन–रण में जूझते रहे, नियति के क्रूर थेपेड़ो ने जब उन्हें झकझोरा तब उनकी चेतना जागृत हुई। "हो गया व्यर्थ जीवन, मैं रण में गया हार ।" की स्वीकृति के साथ राम और कृष्ण को कल्याणार्थ स्मरण करते हैं –

काम रूप हरो काम,

जपूँ नाम राम–राम

× × ×

कृष्ण–कृष्ण, राम–राम

जपे हैं हजार नाम।[1]

भक्ति साधना की प्राथमिक आवश्यकता है अनुकूलता का संकल्प, और द्वितीय चरण है प्रतिकूलता का वर्जन निराला मूलतः शरणागति एवं प्रपत्ति भाव के भक्त है इसलिए उनकी भक्ति साधना शरणागति के नियमों के अनुरूप है। प्रभु आराधन में बाधक बनने वाली मानवीय दुष्प्रवृत्तियों का प्रायः सभी संतो एवं भक्तों ने विरोध किया है। तुलसी ने इसे "नाथ नरक के पंथ" कहा।[2] निराला भी प्रभु से यही प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु मुझे इन विकारों से मुक्त कर दो।

मानव का मन शांत करो हे

काम, क्रोध मद लोभ दंभ से

जीवन को एकान्त करो हे।[3]

प्रभु के प्रति अनुरक्ति ही भक्ति है। इसलिए भक्ति को श्रद्धा और प्रेम का योग भी कहा गया है। भक्त में श्रद्धा तत्व की प्रधानता होती है। रागतत्व को समाहित करने

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 12,14
2. काम, क्रोध, मद, लोभ सब नाथ नरक के पंथ
   सब परिहरि रघुवीर भजहु भजहिं जेहि संत।–तुलसीदास–रामचरित मानस सुन्दरकाण्ड दोहा–38
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 64

के लिए ही भक्त ईश्वर में पिता, माता, स्वामी आदि का रूप देखता है, और पुत्रवत, संबंध स्थापित करता है। भक्त मां से यह प्रार्थता करता है कि –

मां अपने आलोक निखारो,
नर का नरक त्रास से वारों।[1]

अपने उद्धार के लिए मात्र प्रार्थना ही नहीं करता। वरन् कवि अंधकार से भयभीत मानव–हृदय को ज्ञान ज्योति के प्रकाश से भर देने की भी याचना की। इस स्तर की प्राप्ति के लिए कवि श्री मां के चरणों में अपने समस्त संचित कर्मफल को बलि चढ़ाने की भी कामना रखता है।

नर जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हो तेरे चरणों पर, मां
मेरे श्रम–संचित सब फल।[2]

निराला परमाराध्या भगवती के चरणों में अपने काव्य सुमनों को अर्पित करते समय असंतुलित हो जाते हैं। उनके हृदय का बांध टूट जाता है और वेदना कातर वाणी में अपनी अकिंचनता व्यक्त करते हुए मां भगवती से पूछते है कि–

देवि, तुम्हें मैं क्या दूँ?
क्या है, कुछ भी नहीं ढो रहा व्यर्थ साधना भार
एक विफल रोदन का है यह हार एक उपहार
भरे आंसुओं में है, असफल कितने विफल प्रयास
झलक रही है मनोवेदना करूणा पर–उपहास
क्या चरणों पर ला दूँ?
और तुम्हें मैं क्या दूँ?[3]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी – अर्चना – पृ0 124
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी – गीतिका – पृ0 22
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी – परिमल – पृ0 95

मेरे पास मेरा क्या है जो कुछ भी है वो तो आपका ही है ये तो माया का प्रभाव है जो हम रोदन को भी अपना समझ बैठे हैं। माया के गहन अन्धकार में पड़कर हमारी सारी शक्तियां दिग्भ्रमित हो गयी है। मोह का अन्धकार मेरे पथ को भ्रष्ट कर दे रहा है। इसलिए कवि दुःखी भाव से इस "गह्वर" से उद्धार के लिए प्रार्थना करता है–

भवसागर से पार करो हे!
गह्वर से उद्धार करो हे!
माया का संहार करो।[1]

इसी माया को कबीर ने "महाठगिनि" कहा, तुलसी के विचार मे ये माया ऐसी है जो मनुष्य को मर्कट की भांति नचाती है।

"अर्चना संग्रह में ऐसे अधिकांश गीत हैं जिसमें इस प्रकार के प्रार्थना का स्वर विद्यमान है। भक्ति के क्षेत्र में "सत्संग" को भक्ति में सहायक तत्व के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। मध्यकालीन सभी संतो एवं भक्तों ने सत्संग की महिमा का गुणगान मुक्त कंठ से किया है। भक्त कवि निराला भी सत्संग पर जोर देते हुए कहते है कि–

दो सदा सत्संग मुझको।
अनृत से पीछा छूटे
तन हो अमृत का रंग, मुझको।[2]

सत्संग ही ऐसा साधन है जिसको अपना कर प्रभु के बारे में जाना जा सकता है, और उसकी प्राप्ति के मार्ग में आने वाली समस्त बाधाओं का नाश किया जा सकता है। सत्संग ही राम के चरण की महत्ता को समझा सकता है। भक्त निराला सत्संग से यह सीखते है कि–

राम के हुए तो बने काम,
सँवरे सारे धन, धान, धाम।[3]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 23
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 37
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 20

प्रस्तुत गीत में कवि न स्पष्ट कर दिया है, कि राम का शरण ही एक मात्र ऐसा उपाय है जिसको अपना कर समस्त, धन, धाम संवारा जा सकता है। निराला प्रभु शरण में इतना आत्म विभोरता का अनुभव करते है कि वह अपना समस्त सुख उसके ऊपर न्यौवछावर करने तक को तैयार हो जाते हैं। बस अब उनकी यही कामना है कि प्रभु का चरण न छूटे –

सुख का दिन डूबे डूब जाए
तुमसे न सहज मन ऊब जाए।[1]

इसलिए जितना भी समय है, उसे व्यर्थ ही बीत जाने नहीं देना चाहते, बड़ी ही तल्लीनता से हरि भजन में संलग्न हो जाते हैं।

रहते दिन दीन शरण भज ले ।
जो तारक सूत वह पद–रज ले।[2]

लेकिन भय उनका पीछा नहीं छोड़ता, अपनी असमर्थता का वर्णन करते हुए कवि निराला कहते है कि –

हार गया जीवन रण,
छोड़ गये साथी–जन,
एकाकी नैश–क्षण
कण्टक–पथ, विगत पाथ [3]

ऐसी स्थिति में भक्त की बस यही कामना और याचना है कि–

दूरित दूर करो नाथ, अशरण हूँ गहो हाथ।[4]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 29
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 68
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 22
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 22

कहीं–कहीं भक्ति मुक्ति की आशा से भी निवेदित दिखाई देती है। "अर्चना" संग्रह का प्रथम गीत कुछ इसी प्रकार का है। जिसमें कवि निराला संसार–सागर से पार उतारने वाली श्री मां की वन्दना करते है।

भव अर्णव की तरणी तरूणा
बरसी तुम नयनों से करूणा।[1]

इसी तरह "भज भिखारी विश्व भरणा" में कवि मां की शक्ति के महत्व का निरूपण प्रस्तुत किया है। जो विश्व भर का भरण–पोषण करती है, तथा जो अशरण–शरण है–

भज भिखारी, विश्व भरणा
सदा अशरण शरण–शरणा।[2]

विश्व–विराट के प्रति निराला का यह आकर्षण केवल कवि का ही आकर्षण नहीं, यह उनकी ब्रह्मनिष्ठा के स्वाभाविक अंकुरण से पुष्कल भाव हैं। जो आगे चलकर उसके अवसाद, उसकी उदासी, खिन्नता, मृत्युभय और आत्म जर्जरता से होती हुई अंततः शरणागति की प्रार्थना–भूमि पर उसे उतारती है। "खेवा" "निवेदन" "शेष" "पतनोन्मुख" "वृत्ति" "प्रार्थना" "आध्यात्मफल" "कण" "हमें जाना है जग के पार" "पारस" "माया" "अधिवास" "तुम और मैं" आदि कविताओं में ऐसा ही भाव व्यक्त हुआ है। "खेवा" में कवि निराला इस अपार भव–सागर में डगमगाती हुई अपनी जीवन नैया को संभालने के लिए खेवन हार प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि –

डोलती नाव प्रखर है धार,
संभालो जीवन–खेवन हार।[3]

शरणागति और प्रपत्ति का उनका यही भाव गीतगुंज और अन्तिम काव्य संग्रह "सान्ध्य काकली" में भी तिरोहित नहीं हुआ। कवि का यही दैन्य भाव उसे भक्त कवि की श्रेणी

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 17
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 19
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 30

में बैठाने में सहायक होता है।

निराला एक सच्चे और आदर्श भक्त हैं, यही कारण है कि जय और पराजय में कोई भेद नहीं मानते। भक्त सरल हृदय इतना अवकाश ही नहीं पाता कि वह सामाजिक तत्वों के बारे में विवेचन कर सके। उसे तो मात्र प्रभु के चरण की कामना रहती है।

तुम्हारे भाव में सोये
तुम्हारे भाव में जागे
तुम्हारे रव सुने, सूने
सदन आचरण अनुरागे।
× × ×
पराजय लाख, लाखों जय,
तुम्हारे केतु के संचय
कुतो भय स्थान, पाकर, मृण–
मयी के श्री चरण लागे।[1]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, कि निराला के काव्य में "अर्चना" और "आराधना" का ऐतिहासिक मूल्य है। यह सत्य है कि इन कृतियों में कुछ विनय गीतों में कवि के हताश और वृद्धावस्था के जर्जर रूग्ण तन–मन की चर्चा आई है, फिर भी विनय का भाव भी भक्ति परक रचनाओं में निराला ने प्रारम्भ से ही अभिव्यक्त किया है। जिस प्रकार हिन्दी का भक्ति साहित्य पूर्णतः इतदर्थ और विजित जाति के निराश जन–मानस के दैन्य और रूदन का परिणाम ही नहीं कुछ और भी है, वैसे ही निराला काव्य में विनय और दैन्य भी उनकी रूग्णावस्था के रूदन मात्र ही नहीं है। वास्तव में "अभी न होगा मेरा अन्त" कहने वाला 'जुही की कली' लिखने वाला, 'बादल राग' जैसी क्रान्तिकारी भावना का प्रस्तोता "विनत माथ" की दुहाई देता और "अशरण–शरण" की बांछा करता है। फिर भी

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – सान्ध्य काकली – पृ0 53

उसे कष्ट की जगह प्रसन्नता ही मिलती है, क्योंकि कवि अपनी उपलब्धि पर गर्व ही कर रहा है "मरा हूँ हजार मरण पाई तब चरण शरण।"[1] ऐसा अमोल रत्न पाने वाला और उसे संजो कर रखने की क्षमता भक्त में ही संभव है। निराला निस्सन्देह एक सच्चे भक्त हैं, और उनकी रचना भक्ति साहित्य का अनुमप रत्न।

महाकवि निराला ने अपनी भक्ति परक रचनाओं के सम्बन्ध में कहा कि अर्चना के विषय में प्राचीन परम्परा से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि –

भाव कुभाव अनख आलसहू
राम जपत मंगल दिशि दसहूँ।[2]

इस उद्धरण से भी यह स्पष्ट होता है कि निराला जी श्रृंगारिक और सौन्दर्य काव्य की भूमिका को छोड़कर विनय और आत्मसाधना प्रधान काव्य रचना में प्रवृत्त हुए है।

"सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी। प्रिय के अनन्त अनुराग भरी।"[3] कहकर किसी अज्ञात, अव्यक्त प्रियतम के प्रति अनन्त अनुराग प्रकट करने वाली अमर सुहागिनी महादेवी आधुनिक कविता कानन की ऐसी कोकिला हैं जिनके मृदुल कोमल कण्ठ से शत–शत मधुर गीत फूट कर निकले हैं। जिनकी अश्रुत–पूर्व मधुरिमा से हिन्दी काव्य का समस्त उपवन झंकृत हो उठा।[4]

उनकी समस्त रचना का आलम्बन अज्ञात प्रिय तथा माध्यम प्रकृति है। जिस प्रकार मीरा का जीवन पोडश कला सम्पन्न श्री कृष्ण के प्रति चिर–समर्पित था, उसी प्रकार महादेवी का समस्त जीवन भी एक मात्र असीम अव्यक्त ब्रह्म रूप प्रियतम के प्रति चिर–निवेदित हैं। उनका ब्रह्म सगुण–साकार न होकर सगुण–निराकार है। जिसकी प्रतिछाया वो प्रकृति के तरू–तृण गुल्मों चन्द्रमा की रश्मियों में देखती हैं। उनका ब्रह्म एक तथा अव्यक्त और अखण्ड है। चिर अक्षय है ऐसी सत्ता की परिणीता चिर सुहागन नहीं तो और क्या हो सकती

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना की स्वयोक्ति।
3. महादेवी वर्मा – सांध्य गीत – पृ0 85
4. प्रेम प्रकाश रस्तोगी – छायावाद और वैदिक दर्शन – पृ0 372

है अतः उनका ये कहना "मैं हूँ अमर सुहाग भरी" सार्थक प्रतीत होता है। दार्शनिकता और दुखवाद आदि पर से थोड़ी देर के लिए अपनी दृष्टि फेर ले तो हम कह सकते हैं कि महादेवी जी आधुनिक हिन्दी काव्य की मीराबाई हैं। क्योंकि इन दोनों प्रतिभाओं के प्रेम प्रदर्शन में पर्याप्त साम्यता देखने को मिलती है। मीरा की ही भांति महादेवी के समस्त काव्य की आत्मा एक ही है। वह इस तथ्य को स्वयं स्वीकार करती हुई कहती हैं, कि "मेरी दिशा और पथ एक रहा है। केवल इतना ही नहीं वे प्रशस्त से प्रशस्ततर और स्वच्छ से स्वच्छतर होते चले गये हैं। उस समय के आज्ञतनामा भाव और विश्वास प्रयोग की अनेक कसौटियों पर कसे जाने के बाद अनुभव की साहसी ज्वालाओं में तपाये जाकर केवल नाम पा गये हैं। उनकी आत्मा वही रही है। समय के मान से काव्य में उनकी चेतना का विभाजन है – "दिन" और "रात" "यामा" में उनकी दिन की साधना है जिसके चार आयाम है – नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत रात की साधना "दीपशिखा" में हुई है। महादेवी के अनुसार– "यामा मेरे अन्तर्जगत के चार यामों का छायाचित्र है।[1] इसी प्रकार "दीपशिखा" की भूमिका में महादेवी की स्वयोक्ति है कि "मेरे गीत अध्यात्मक के अमूर्त आकाश के नीचे लोक गीतों की धरती पर पले हैं।[2] महादेवी की इस स्वयोक्ति से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि उनके गीतों में आध्यात्मिकता का प्राण संचरित है।

भक्ति भावना की दृष्टि से महादेवी के काव्य में वैसे अंश अपना विशेष महत्व रखते हैं जिसमें अध्यात्म का स्वर मुखरित हैं। डा0 सुषमापाल कहती हैं कि निस्संदेह महादेवी का काव्य आस्तिकता के धरातल पर आंखें खोलता है, और ऐसी अस्तिक मना कवियित्री के काव्य में उनकी समग्र अभिव्यक्तियों का आलम्बन उनका प्रिय है जो अनन्त, असीम, सर्वव्यापक, करूणागार, वात्सल्य आदि विविध गुणों से सम्पन्न होते हुए भी अव्यक्त एवं रहस्यमय है।[3]

---

1. महादेवी वर्मा – यामा – पृ0 5
2. महादेवी वर्मा – दीपशिखा – पृ0 20
3. डा0 सुषमा पाल – छायावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि – पृ0 259

निर्गुण भक्ति के सन्दर्भ में निरन्तर इस बात का संकेत किया गया है कि ब्रह्म का विकास "अन्तर" में है। अतः घट–घट व्यापी राम को जाकर मन्दिर, मस्जिद मे ढूंढना भ्रम के जाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं। ब्रह्म तो सर्वव्यापी है। गीता में – श्री कृष्ण ने स्वयं ही उद्घोष किया कि – न तो मैं बैकुंठ में रहता हूँ, और न ही योगियों, साधु–संतों के हृदय में। मेरा निवास तो वहाँ है जहाँ मेरे भक्त मुझें याद करते हैं।[1] इसी प्रकार कबीर ने भी कहा –

ना मैं मन्दिर ना मै मस्जिद ना काबा कैलास में
मुझको तू क्यों दूढै बन्दे मैं तो तेरे पास में।[2]

"पास ही रे हीरे की खान" की तरह महादेवी का प्रिय भी उनके अन्तःकरण में ही स्थित है। वह प्रिय अज्ञात और "अज्ञेय" तो है। पर अद्भुत कार्यों का संचालन करने में सूक्ष्म है। महादेवी के काव्य में जहाँ एक ओर इस "अज्ञेय" से अपरिचित बने रहने की स्थिति है, वहीं दूसरी ओर उसकी अनन्त शक्ति के परिज्ञान हो जाने के कारण उसके प्रति जिज्ञासा का भाव भी दिखाई देता है।

कौन तुम मेरे हृदय में ?
स्वर्ण स्वप्नों का चितेरा
नींद के सूने निलय में।
कौन तुम मेरे हृदय में।[3]

महादेवी के काव्य में "अनन्त प्रिय" या "परमतत्व" का स्वरूप निर्गुण ब्रह्म के समान ही है। जो अपार शक्ति सम्पन्न है, और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। डा0 सुषमा पाल के शब्दों में – "अनुभव ही बनता जो जगमय की विशेषता से युक्त महादेवी का अनन्त प्रिय वेद प्रतिपादित ब्रह्म के सर्वथा अनुकूल है।[4] ब्रह्म निराकार होते हुए भी अपार ज्योति सम्पन्न है।

---

1. नाहम बसामी बैकुठं योगिनाम् हृदयेन च, मम भक्ता यत्र गयान्ति तत्र तिष्ठामि -नारद–गीता
2. कबीर –
3. महादेवी वर्मा – यामा – (नीरजा)
4. डा0 सुषमा पाल – छायावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि – पृ0 263

उसी के प्रकाश से आत्मा प्रकाशित है। ऐसे भाव को महादेवी ने "रश्मि" के अन्तर्गत व्यक्त किया है।

तुम असीम विस्तार ज्योति के, मैं तारक सुकुमार
तेरी रेखा रूपहीनता है जिसमें साकार।[1]

इस गीत से स्पष्ट हो जाता है कि महादेवी की साधना निराकार परमतत्व की साधना है। ऐसे साध्य के लिए जो निराकार अव्यक्त और सर्वत्र व्याप्त हो, के लिए पूजा और अर्चना के लिए किसी बाह्य उपकरण मन्दिर आदि की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि उस अन्तर्यामी की उपासना के लिए इस लघुतम जीवन रूपी मन्दिर से अच्छी जगह और क्या हो सकती है –

क्या पूजन क्या अर्चन रे?
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे
मेरी श्वासें करती रहती नित प्रिय का अभिनन्दन रे।[2]

अपने इसी "असीम" प्रियतम को जो अलख और अविकल है को महादेवी जी रूप देने की चेष्टा करती देखी जा सकती हैं। इसका उल्लेख "सान्ध्य गीत" में महादेवी ने किया है।

दे रही हूँ अलख अविकल
को सजीला रूप तिल–तिल।[3]

यही महादेवी जी की रागात्मिका भक्ति है। भक्ति–भावना की दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्य ये है, कि साधक अपने साध्य के समक्ष अपनी अल्पज्ञता का वर्णन करता है। शरणागति में इस प्रकार का दैन्य भाव सबसे श्रेष्ठ भाव माना गया है। प्रायः सभी भक्तों ने अपनी इसी अकिंचनता का प्रदर्शन भक्ति साहित्य में किया है। महादेवी भी इस परम्परा–पालन में परमतत्व

---

1. महादेवी वर्मा – यामा (रश्मि) – पृ0 103
2. महादेवी वर्मा – यामा (नीरजा) – पृ0 192
3. महादेवी वर्मा – (सान्ध्यगीत)

की विराट शक्ति के समक्ष अपनी अल्पज्ञता को स्वीकार किया। अल्पज्ञता का यह बोध ही उन्हें भक्ति के उस तत्व के समीप ले जाने में समर्थ हुआ है। जिसे "दैन्य" की संज्ञा दी गई है।

महादेवी के काव्य में मीरा का प्रभाव स्पष्ट रूप में मिलता है। इसी प्रभाव ग्रहण की दृष्टि से कई साहित्यिकों ने महादवी को मीरा के समीप घोषित किया। समता की दृष्टि से विचार करने पर यह जानते देर नहीं लगती कि मीरा और महादेवी हिन्दी साहित्य के दो विभिन्न युगों की कवियित्रियां तो है, पर उनकी काव्यगत मूल प्रेरणा एक जैसी है। इस दिशा में दोनों को एक दूसरे से अभिन्न कहना उचित है।[1] श्री गंगा प्रसाद पाण्डेय के शब्दों में मीरा की स्वर लहरी में बहती हुई पुनीत गोमुखी गंगा हिन्दी काव्य प्रदेश की असंख्य उपत्यकाओं में से बहती चली आ रही थी – देवी जी की कविता के मर्मस्थल में झांकने मात्र से ही ऐसा प्रतीत होता है मानों वह संकरी गंगोत्री धारा समभूमि का व्यापक हृदय पाकर अपनी व्यापकता से विस्तार पा गई।[2]

समता की दृष्टि से दोनों कवियित्रियां प्रियतम की आगवानी, प्रतीक्षा में एक सी दीखती है अगर मीरा की नींद उचट जाती है तथा प्रतीक्षा में सारी रात जगी रह जाती है।[3] तो महादेवी जी पथ देख बिता दी रैन, मैं प्रिय पहचानी नहीं।

इस प्रतीक्षा की घड़ी में भी साधिका साध्य को उपालम्ब नहीं देती उसे अपने प्रिपतम पर पूर्ण विश्वास है, अपनी ही गलती मान लेती है कि "प्रिय पहचानी नहीं" भक्ति का इससे श्रेष्ठ उदाहरण क्या हो सकता है, कि भक्त अपनी कमियों को ही देखें। दोनों कवियित्रियां अपने प्रियतम के पास सन्देश भेजना चाहती हैं पर भेज नहीं पाती दोनों ने यद्यपि अलग–अलग कारण बताया, लेकिन उनकी असफलता के पीछे जो कारण है वो समान है मीरा कहती हैं कि –

---

1. शचीरानी गुर्टू संपादित – महादेवी वर्मा – काव्य कला और जीवन दर्शन – पृ0 – 260
2. श्री गंगा प्रसाद पाण्डेय – महीयसी महादेवी – पृ0 – 219
3. सखी मेरी नींद नसानी हो। प्रिय को पंथ निहारत सिगरी रैन बिहानी हो–मीरा

पतियां मैं कैसे लिखूँ लिखियो न जाय

कलम धरत मेरे कर कॉपत है नैनन ह्वै झरलाव

तो महादेवी जी का कथन है कि –

कैसे सन्देश प्रिय पहुँचाती।
दृग जल की सित मसि है अक्षय, मसि प्याली झरते तारक द्वय
पल पल के उड़ते पृष्ठों पर, सुधि से लिख श्वासों के अक्षर
मैं अपने ही बेसुध पन में लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती।

यहाँ महादेवी जी मीरा से भी आगे निकल जाती हैं क्योंकि मीरा लिख नहीं पाती। और महादेवी उसे याद करते ही बेसुध हो जाती है जो भी लिखना चाहती है न लिख कर कुछ और ही लिख देती हैं।

अद्वैतवाद की काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है। अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा और परमात्मा का संबंध अंश और अंशीका है। महादवी जी के साहित्य में भी इसी एक रूपता का दर्शन होता है। आत्मा और परमात्मा की एक रूपता को उन्होंने अनेक उपमानों द्वारा प्रस्तुत किया है। महादेवी जी ने इसमें सर्वाधिक "सूर्य" और "दीपक" का प्रयोग किया है।

मधुर मधुर मेरे दीपक जल
युग–युग, प्रतिदिन, प्रतिक्षण, प्रतिपल
प्रियतम का पथ आलोकित कर।[1]

इसके अतिरिक्त महादेवी के काव्य में परमात्मा को विधु, जलराशि, ऋतुराज, निद्रा, ज्योति विस्तार, प्रकाश, ज्वाला और बादल और आत्मा को रश्मि, उर्मि, मधुश्री, स्वप्न, तारक, उत्ताप और बिजली के द्वारा व्यक्त किया गया है।

(क) तुम हो विधु के बिम्ब और मैं
मुग्धा रश्मि अजान

---

1. महादेवी वर्मा – यामा – पृ0 – 145

(ख) तुम अनन्त जल राशि उर्मि मैं
चंचल सी अवदात

(ग) तुम परिचित ऋतु राज मूक मैं
मधुर श्री कोमल गात

(घ) स्वर लहरी मैं मधुर स्वप्न की
तु निद्रा के तार

(ड़) तुम असीम विस्तार ज्योति के
मैं तारक सुकुमार।[1]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि महादेवी की विरहानुभूति में आध्यात्मिकता के साथ–साथ एक भक्त हृदय की तन्मयता भी समाहित है। इनकी पूजा–अर्चना में भले ही भौतिकता एवं पार्थिवता नहीं है पर उनकी तन्मयता वही है जो एक पार्थिव पुजारी या लौकिक भक्त में होती है। इस प्रकार महादेवी की विरहानुभूति भक्ति की तन्मयता से परिपूर्ण है। जबकि उनकी उपासना एक प्रकार से निर्गुण निराकार की है। जहाँ तक उनकी रहस्य साधना में उनकी विरह साधना का प्रश्न है, वह रसिक सम्प्रदाय की "लगन साधना" से साम्य रखता है।

छायावादी कवियों की भक्ति चेतना के आलम्बन –

छायावाद युग के सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में असंतोष और तद्जनित विद्रोह की भावना अंगड़ाई ले रही थी। एक ओर दयांनन्द के कर्म और विवेकानन्द के ज्ञान का प्रचार हो रहा था। तो दूसरी तरफ पाश्चात्य ज्ञान की किरणों का भारतीय युवा मानस में प्रवेश, परिणामतः दो संस्कृतियों की टकराहट से जो आलोक फैल रहा था। वह व्यावहारिक जीवन में प्रेरणा देने से अधिक काल्पनिक सुख के क्षितिज की ओर संकेत करता था।[2] इससे स्पष्ट है, वातावरण की असामंजस्यता ने ही विद्रोह की भावना को उकसाया और इसी असंतोष के विरूद्ध में छायावाद का जन्म हुआ। दूसरे शब्दों में छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है, जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था, तो दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से।[3]

---

1. महादेवी वर्मा – यामा – पृ0 – 121, 102, 103
2. डा0 उर्मिला सिंह – भक्ति परम्परा में निराला – पृ0 – 113
3. डा0 नामवर सिंह – छायावाद – पृ0 – 15

छायावादी काव्य, संस्कार जनित प्रभावों को नए रूपों में नए युग की नव प्राकृतिक हरातमा में प्रस्तुत करता है। बुद्धिवादी भक्ति स्वर प्रमुख है। वैसे तो महादवी जी के गीतों में मध्ययुगीन मन की आदर्श-परक भावना कार्यरत है। देव, प्रियतम, मधुर-मिलन आदि शब्दों के द्वारा उनमें उपासना का भी रूप दिखाई देता है। इस युग की भक्ति सगुण रूपा न होकर निर्गुणिया चोला धारण किए हुए है, जिसमें लीलात्मकता कम रहस्यात्मकता अधिक है, नीतिवादी न होकर व्यक्तिवाद के अधिक निकट है। इन गीतों में व्यक्ति की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति एवं आध्यात्मिक अनुभूति अनेक दार्शनिक प्रयत्नों को सुलझाती है। इस प्रकार के गीतों में सांस्कृतिक पक्ष संशलिष्ट है।

आधुनिक युग विशेष कर छायावाद युग भक्ति की तर्कपरक वैचारिक भूमि को भी स्वीकार करता है। यद्यपि निर्गुण, निराकार के रूप में आत्म निवेदन करता है, फिर भी इस युग का कवि अपने व्यक्तित्व को नहीं भुला सका है। प्रसाद, निराला तथा पंत के काव्य में जो रहस्यानुभूति है, वह उनकी आत्मा का व्यक्त प्रकृति के साथ सम्बन्ध जोड़ती हुई, स्वयं लक्ष्य की स्थिति का एक केन्द्र बिन्दु भी है। जो अपनी पूर्णाभिव्यक्ति में एक मानवीय पक्ष लिए हुए है। व्यक्त सत्ता के रूपांकन में आध्यात्मिक अनुभूति भूमा के आनन्द को सामने लाती है। केवल आत्मा और परमात्मा के व्यक्तिकरण में संकोची भावों को स्वीकार नहीं करती। प्रसाद ने रहस्यानुभूति, दर्शन और नई संस्कृति के परिपार्श्व से ही मंगलमयी जीवन भूमियों का स्पर्श किया है, जहाँ पंत की रहस्य-शक्ति प्राकृतिक दृश्यों के संश्लिष्ट चित्र उपस्थित कर सकी है। वहीं निराला जी के काव्य की रहस्यमयता वस्तुसंस्पर्श से उन समस्याओं के समाधान को प्रस्तुत करती है जो कोरी भावना तथा निरीह बुद्धि के विषय नहीं हो सकते। निराला जी की भक्ति परक कवितायें प्रार्थनापरकता एवं कर्म प्रधानता दोनों को एक करती हुई मानवीय भूमि पर अधिक हैं। अब भक्ति का आलम्बन सगुण–साकार न होकर सगुण-निराकार के रूप में प्रतिस्थापित हुई।। ये परिवर्तन युगानुरूप है।

यह उचित है, कि इस काल की आध्यात्मिक भावना मध्य–युगीन भक्ति भावना से भिन्न भूमिकाओं पर प्रतिष्ठित हुई, इस काल में मानव जीवन के अन्तर्गत ही उसकी निष्ठाओं आचार व्यवहारों और आदर्शो में ही ईश्वरत्व खोजन का प्रयास अधिक हुआ। मेरे कहने का

आशय कदपि ये नहीं कि परम्परागत भक्ति भावना है ही नहीं। इस युग में एक अनादि अनन्त शक्ति के रूप में सूक्ष्म आध्यात्मिक भावना आस्थावान कवियों के मन–प्राणों में तंरगित होती रही।

छायावाद शंकर के निवृत्त मूलक अद्वैतवाद को मान्यता नहीं देता, इस युग पर स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के सामाजिक भावनाओं से युक्त वेदान्त दर्शन का प्रभाव पड़ा है। आधुनिक युग के अग्रदूतों ने वेद उपनिषद् गीता, वेदान्त तथा वेष्णव धर्म को मिला कर एक ऐसे नव आध्यात्मवाद को जन्म दिया, जो देश की प्राचीन दार्शनिक मान्यता एवं परम्परा में होता हुआ भी सर्वथा नवीन एवं वर्तमान सामाजिक आवश्यकतताओं के अनुकूल था।

छायावाद के कवियों के ऊपर इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा। इसी प्रभाव का प्रतिफलन है, कि छायावादी कवियों ने जो कुछ महान् था, उदात्त था, सातत्य पुर्ण था, उसे अपने काव्य में उचित स्थान दिया। प्रसाद में शैवतत्व, निराला में वेदान्त और उपनिषदिक विचारधारा, पंत में अरविन्द, गीता और उपनिषदों की विचारधारा के साथ तद्‌युगीन धार्मेक संस्थाओं का पूर्णतः प्रभाव है। पंत काव्य में विभिन्न प्रभावों पर प्रकाश डालने में "उत्तरा" की प्रस्तावना सहायक सिद्ध होती है। "उत्तरा" में पंत जी का कथन है कि "मैं अपने युग, विशेषतः देश की प्रायः सभी महान विभुतियों से किसी न किसी रूप में प्रभावित हुआ हूँ।[1] आगे पंत जी ने स्पष्ट रूप से कवीन्द्र रवीन्द्र तथा स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव को स्वीकार करते हुए कहा है "वीणा–पल्लव काल में मुझ पर कवीन्द्र रवीन्द्र तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव रहा है।[2] लेकिन पंत पर सर्वाधिक प्रभाव महर्षि अरविन्द का पड़ा उनकी उत्तरवर्ती समस्त रचनाओं पर अरविन्द का प्रभाव देखा जा सकता है। पंत काव्य में श्री अरविन्द के प्रभाव को निरूपित करने के लिए हमारा ध्यान कवि के उत्तरा नामक काव्य की भूमिका की ओर निश्चित रूप से जाता है। जहाँ उन्होंने श्री अरविन्द का प्रभाव

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत – उत्तरा (प्रस्तावना) – पृ0 – 23
2. सुमित्रा नन्दन पंत – उत्तरा (प्रस्तावना) – पृ0 – 23

स्वीकृत किया है। "इसमें संन्देह नहीं कि श्री अरविन्द के दिव्य जीवन दर्शन से मैं स्वभावतः प्रभावित हुआ हूँ।-----श्री अरविन्द के प्रति मेरी कुछ विनम्र रचनाऐं भेंट रूप में स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि तथा युगपथ में पाठकों को मिलेगी।-----श्री अरविन्द को मैं इस युग की अत्यन्त महान् तथा अतुलनीय् विभूति मानता हूँ, उनके जीवन दर्शन से मुझें पूर्ण सन्तोष प्राप्त हुआ है।-----विश्व कल्याण के लिए मैं श्री अरविन्द की देन को इतिहास की सबसे बड़ी देन मानता हूँ।"[1] इन्हीं महापुरूषों का प्रभाव है कि इस काल के कवियों के काव्य का एक नया पक्ष जो विश्वमानवतावादी है, वह उच्चतर आदर्श को रखता हुआ भी यथार्थ जगत से दूर नहीं है।

आधुनिक औद्योगिक सभ्यता ने यदि व्यक्ति को भौतिकता के समतल धरातल पर लाकर खड़ा किया, तो दर्शन का अद्वैतवाद उसे आध्यात्मिकता के उसी धरातल पर लाकर प्रतिष्ठित करता है। छायावादी काव्य में इसी मानवी-एकता की प्रतिष्ठा हुई है।[2] दर्शन और ज्ञान, व्यवहार में भक्ति का रूप धारण करता है, और ज्ञानी कर्म क्षेत्र में उतरकर भक्त बन जाता है। ज्ञान के सिद्धान्त और व्यवहार के इस स्वरूप पर स्वामी विवेकानन्द ने एक स्थान पर कहा है "ज्ञानी पुरूष ऐसी एक समष्टि की ऐसे एक निरपेक्ष और व्यापक तत्व की कामना करता है, जिसे जानने से वह सब कुछ जान सके। भक्त उस एक सर्वव्यापी पुरूष की साक्षात् उपलब्धि कर लेना चाहता है, जिससे प्रेम करने से वह सारे विश्व से प्रेम कर सके।[3] महादेवी वर्मा का लक्ष्य भी विश्व के लिए सर्वस्व त्याग ही है। "दुख मेरे निकट जीवन का एक ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बांध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूंद आंसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्बर बनाये बिना नहीं गिर सकता।"[4]

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत - उत्तरा - प्रस्तावना - पृ0 - 23-24
2. राजेश्वर दयाल सक्सेना - छायावाद:स्वरूप और व्याख्या - पृ0 - 25
3. विवेकानन्द साहित्य - जन्मशती संस्करण - प्रथम सं0 - 1963 - पृ0 - 56
4. महादेवी वर्मा - रश्मि की भूमिका - पृ0 - 6

इसी सत्य को निराला ने भी अपनी काव्य साधना में अभिव्यक्त किया है – "योग्यजन जीता है, पश्चिम की उक्ति नहीं, गीता है। गीता स्मरण करो बार–बार। निश्चय ही कवि का यह उद्घोष पश्चिम की भौतिक शक्ति की जगह भारत की आध्यात्मिक शक्ति का समर्थन करता है। क्योंकि इसी शक्ति के बल पर योग्य जन की रक्षा हो सकती है।

छायावादी काव्य की सर्वप्रथम विशेषता है कि उसका उद्देश्य लोक है, व्यक्ति नहीं। इसलिए व्यक्ति भावनाओं के उद्दीपन का सीधा सम्बन्ध लोक भावना के प्रकाशन से है। छायावादी काव्य सम्पूर्ण जड़, चेतन प्राणी को एक भावना सूत्र में जोड़ता है। समत्व और विश्ववन्धुत्व की यही भावना छायावाद की मुख्य विशेषता है जिसका मूल बीज हमारे वेदों एवं उपनिषदों में उपलब्ध है।

ऋग्वेद में मरूतों को संबोधित एक मंत्र में ऋषि श्यावाश्व ने कहा है "ये मरूद्गण एक साथ ही उत्पन्न हुए हैं तथा परस्पर ज्येष्ठ ओर कनिष्ठ भाव से वर्जित हैं। ये परस्पर भ्रातृभाव से सौभाग्य के लिए वर्द्धमान होते हैं– "अज्येष्ठा सो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो बाबृधः सौभगाय।"[1] इस मंत्र में स्पष्ट ही ऋषि ने ऊँच–नीच ओर छोटे–बड़े के भेद भाव से सर्वथा रहित समत्व के भाव का प्रतिपादन किया है। एक अन्य मंन्त्र में कहा है कि हे प्रभु, मुझें ऐसा दृढ़ बना दे कि सब प्राणी मुझें मित्र की दृष्टि से देखें मैं स्वयं ही सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता हूँ।[2] वेदों में उपलब्ध ये ऐसे मंत्र हैं जो समाज में परस्पर मैत्री पूर्ण व्यवहार, स्नेह, ममत्व एवं विश्ववन्धुत्व की भावना का पोषण करते हैं। जो लोक-मंगल और समाज-कल्याण की भावना के विधायक हैं।

उपनिषदों का अद्वैतवाद (आत्मवाद) भी प्रकारान्तर से व्यावहारिक धरातल पर इसी समत्व और लोक सेवा का समर्थन करता है। वैदिक समत्व भावना की एक और विशिष्टता है कि यह केवल मानव मात्र तक ही सीमित नहीं है उसकी परिधि में तो समस्त प्राणी आते हैं। वैदिक आत्मवादी सर्वभूतो के हित में रत रहने वाला श्रेष्ठ पुरूष होता है।[3] उसकी साधना ही समत्व की साधना है वह समस्त प्राणियों में अपनी जैसी अविनाशी आत्मा

---

1. ऋग्वेद – 5/60/5
2. यजुर्वेद – 36/181
3. गीता – 5/25

के ही दर्शन करता है, तब वह किससे घृणा करें, किससे द्वेष करें, किससे ईर्ष्या करें।[1] उसके तो सब अपने हैं। सबके हित में ही अपने हित का दर्शन करता है। सबका सुख उसका अपना सुख होता है। यही वह कल्पना है जो समस्त प्राणी मात्र में समता और विश्व बन्धुत्व के सिद्धान्त को जन्म देती है। आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द ने इसी व्यावहारिक वेदान्त पर आधारित सेवावाद का प्रचार किया। यही आस्थामय प्रवृत्ति निराला की "भगवान बुद्ध के प्रति", "सुन्दर हे सुन्दर", "जन-जन के जीवन के सुन्दर", धूलि में तुम मुझें भर दों", तथा "राम की शक्ति पूजा" आदि रचनाओं में बड़ी निष्ठा के साथ प्रकट हुई है। प्रस्तुत पंक्तियों में निराला ने निराभिमानी और सदाशर्यी होने की प्रार्थना मानवतावादी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए ही किया है।

दूर हो अभिमान संशय
वर्ण आश्रम गत महाभय
जाति जीवन हो निरामय
वह सदाशयता प्रखर दो।[2]

यही आध्यात्मिक चेतना प्रसाद जी की "कामायनी" के अन्तिम सर्ग में मनु के कथन में व्यक्त हुई है। उन्होंने भी जन मंगल के लिए अद्वैतवादी भावना को ही स्वीकार किया है।

सब की सेवा न परायी
वह अपनी सुख संसृति है
अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है।[3]

मनुष्य-मनुष्य के समत्व भाव को दर्शाते हुए पंत जी ने लिखा कि अगर मनुष्य-मनुष्य में समता का संबंध स्थापित हो जाय, तो मृत्यु से भी भय नहीं रहेगा। इसी स्फूर्तिदायिनी अहिंसक क्रांति का आह्वान करते हुए पंत जी ओजस्वी वाणी में कहते हैं कि-

---

1. ईशोपनिषद् - 6/7
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - अपरा - पृ0 - 192
3. जयशंकर प्रसाद - कामायनी - आनन्द सर्ग - पृ0 - 289

न रक्त पात युद्ध हो,

न उर्ध्व शक्ति रूद्ध हो

मनुष्य शुद्ध बुद्ध हो तो विदेहमन क्रुद्ध हो

अभय अमर हो मृत्यु आज, साथ साथ जो मरो।[1]

मानव से मानव की समता स्थापना तभी संभव है जब लोगों में परस्पर स्नेह भाव का उदय हो। विवेच्य युग में मतानुयायियों की पारस्परिक फूट और कलह मानवता की भावना को विच्छिन्न कर रही थी। गांधी जी ने मतवादों में ग्रस्त जनता को सर्वधर्म समन्वय का महत्व समझाया। धर्म के नाम पर किये जाने वाले पापाचारों की कटु आलोचना करके मानव धर्म की स्थापना की, और मानवीय भावना को जागृत किया। मानव की असीम शक्ति का आभास दिलाने वाले गांधीवाद का गौरव–गान करते हुए पंत जी लिखते हैं।

गांधीवाद जगत में आया ले मानवता का नवमान,

सत्य अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करके निर्माण।

गांधीवाद हमें जीवन पर देता अन्तर्गत विश्वास

मानव की निःसीम शक्ति का मिलता उससे चिर आभास।[2]

गांधी का ही प्रभाव है कि कवि वर्ण ओर जाति में विभक्त मानव को अखण्ड रूप प्रदान करने की प्रेरणा देता है। स्वार्थ के घेरे में घिरा मनुष्य कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। मनुष्य का विकास तभी संभव है जब दूसरों के दुख को बांटे–''कामायनी'' में श्रद्धा इसी भाव को व्यक्त करती है।

औरों को हंसते देखो मनु,

हँसो और सुख पाओ,

अपने सुख को विस्तृत कर लो,

सबको सुखी बनाओ।[3]

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्णधूलि (मानसी) – पृ0 – 158
2. सुमित्रा नन्दन पंत – युगवाणी (समाजवाद और गांधीवाद) पृ0 – 29
3. जयशंकर प्रसाद – कामायनी (कर्म सर्ग) – पृ0 – 132

मानवता के पुर्ण विकास के उपकरणों में कवि ने एक ऐसी रीति–नीति को मान्यता दी जो विश्व मानव की प्रगति में सहायक हो। कवि की आकांक्षा है कि विश्व का प्रत्येक मानव आपसी हितसंवर्द्धना के भाव से पुण्य पथ का निर्माण करें, जिस पर समस्त मानवता अबाध गति से बढ़ सके। कवि प्रभु से ऐसी ही नव-मानवता के उदय के लिए प्रार्थना करता है।–

संस्कृत हो सब जन, स्नेही हों, सुहृद सुन्दर,
संयुक्त कर्म पर हो संयुक्त विश्व निर्भर
राष्ट्रों से राष्ट्र मिलें, देशों से देश आज,
मानव से मानव, हो जीवन निर्माण काज।
हो धरणि जनों की, जगत स्वर्ग, जीवन का घर
नव मानव को दो प्रभु! भव मानवता का वर।[1]

निराला जीवन के उस सत्य को वरण करना चाहते है, जिससे निखिल विश्व स्नेह की भाव-धारा में बद्ध हो सके और मानव संस्कृति का आस्वाद ग्रहण कर सके –

प्रति जन को करो सफल
जीर्ण हुए जो यौवन,
जीवन से भरो सकल।
नहीं राजसिक तन–मन,
करो मुक्ति के बंधन,
नन्दन के कुसुम–नयन
खोलो मृदु–गन्ध विमल।
जागरूक कलरव से
भरे दिशाएं स्तव से
मुंदे हुए खुले कमल
रंगे गगन अन्तराल,

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत –ग्राम्या (विनय) पृ0 – 108

मनुजोचित उठे भाल

छल का छूट जाय जाल

देश मनाये मंगल।[1]

वेदों में तो कर्म की प्रतिष्ठा है ही, उपनिषदों ने भी अपना समर्थन दिया है इसी आधार पर निराला लोक-सेवा को मोक्ष की अपेक्षा अधिक महत्व देते है मनुष्य के प्रति मनुष्य का ये व्यवहार प्रशंसनीय और परम्परा विहित है –

देखा दुखी एक निज भाई

दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे

झट उमड़ वेदना आई

उसके निकट गया मैं धाय

लगाया उसे गले से हाय।[2]

निराला की ये अभिव्यक्ति विवेकानन्द के प्रभाव का परिणाम है जिसे नव-विश्वबन्धुत्व एवं लोकहित की भावना का श्रेष्ठ स्वरूप प्राप्त हुआ है।

मातृभूमि का स्तवन –

मातृभूमि का स्तवन भारतीय संस्कृति की परम्परा में सदैव से ही की जाती रही है। आधुनिक काल में भी "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसि" की महत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयास छायावादी कवियों में देखने को मिलता है। मातृभूमि का स्तवन करते हुए छायावादी कवियों ने सर्वप्रथम स्वदेश की महत्ता का वर्णन प्रस्तुत किया है। उन्होंने मानव के लिए उनकी जन्मभूमि को सर्वोच्च एवं सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करते हुए, उसके प्राकृतिक वैभव और आध्यात्मिक महत्ता का गान किया। कितनी सघन रागात्मकता है, मातृभूमि के प्रति प्रसाद के काव्य में, उनके अनेक गीतों में मातृभूमि के प्रति उनके हृदय का घनीभूत प्रेम और श्रद्धा, पुर्ण ममत्व के साथ प्रकट हुआ है।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – बेला – पृ0 – 81
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 – 118

अरूण यह मधुमय देश हमारा

जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

× × × ×

हेम कुंभ ले उषा सवेरे भरती ढुलकाती सुख मेरे।

मदिर ऊँघते रहते जब जग कर रजनी भर तारा।[1]

कविवर निराला ने भी जनकण्ठ में मातृभूमि का स्तवन ध्वनित करने के लिए अनुराग में श्रद्धा एवं गर्व का मिश्रण करके, भारत–भूमि को दैवी रूप में प्रतिष्ठित कर दिया उन्होंने पवित्र शब्द "ओंकार" की सर्वत्र गूंजने वाली ध्वनि का वर्णन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि भारत भूमि प्रत्येक अवस्था में मंगल-प्रदायिनी एवं कल्याण कारिणी है।

भारती, जय, विजय करे

कनक–शस्य कमल धरे

लंका पदतल शतदल,

गर्जितोर्मि सागर–जल

धोता शुचि चरण–युगल

स्तव कर बहु अर्थ भरे

तरू–तृण वन लता–वसन

अंचल में खंचित सुमन

गंगा ज्योतिर्जल–कण

धवल धार हार गले।

मुकुट शुभ्र हिम–तुषार,

प्राण प्रणव ओंकार

ध्वनित दिशाऐं उदार

शत मुख–शतरव–मुखरे।[2]

---

1. जयशंकर प्रसाद – चन्द्रगुप्त – पृ0 – 89
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अपरा (भारती–वन्दना) – पृ0 – 1

समस्त विश्व को जीवन के शाश्वत नियमों का उपहार देने वाली भारत-भूमि निश्चय ही वन्दनीय है। जहाँ की शस्य-श्यामला-भूमि हिमकिरीटिनी देवी के समान है ऐसी भूमि के प्रति भारत वासियों का अनुराग स्वाभाविक है। इसी अपनी जन्मभूमि के प्रति महादेवी वर्मा के आंतरिक भाव अनायास ही शब्दों में फूट पड़े है –

मैं कम्पन हूँ तू करूण राग
मैं आँसू हूँ तू है विषाद
मैं मदिरा तू उसका खुमार
मैं छाया तू उसका आधार
मेरे भारत मेरे विशाल
मुझको कह लेने दो उदार
फिर एक बार बस एक बार।[1]

प्रसाद जी ऐसी महिमा मंडित मातृभूमि के गौरव रक्षा में अपना सर्वस्व समर्पित कर देने का भाव रखते हुए कहते है कि –

जियें तो सदा उसी के लिए
यही अभिमान रहे, यह हर्ष
निछावर कर दे हम सर्वस्व
हमारा प्यारा भारत वर्ष।[2]

प्रसाद जी मातृभूमि के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की कामना रखते हैं तो निराला "दुख–अवनि" के त्राण के लिए देवी मां से प्रार्थना करते हैं, कि हे मां ऐसी शक्ति दो जिसको पाकर अवनि का दुख दूर कर सकूँ। मातृभूमि के गौरव रक्षा में मेरा प्राण भी चला जाय सार्थक ही होगा –

सार्थक करो प्राण
जननि, दुख–अवनि को

---

1. महादेवी – यामा – (नीहार) पृ0 – 33
2. जयशंकर प्रसाद – स्कन्दगुप्त – पृ0 – 145

दुरित से दो त्राण।[1]

आद्याशक्ति ही माँ भारती है। भारती के मुक्ति के लिए कवि अपने समस्त संचित फलों का बलिदान करने को प्रस्तुत है। रूदन करती हुई मां (जो पराधीनता की बेड़ी में जकड़ी हुई है) को देखकर कवि निराला के हृदय में सर्वस्व उत्सर्ग की भावना बलवती हो उठती है।

नर जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ
मेरे श्रम-संचित सब फल
जीवन के रथ पर चढ़ कर
सदा मृत्यु-पथ पर बढ़कर
महाकाल के खर तर शर सह
सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर
जागे मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रुजल-धौत विमल
द्रग-जल से पा बल, बलिकर दूँ
जननि, जन्म-श्रम-संचित फल
× × × ×
क्लेद युक्त अपना तन दूंगा
मुक्त करूँगा तुझे अटल
तेरे चरणों पर देकर बलि
सकल श्रेय-श्रम-सिंचित फल।[2]

कवि इसके बाद ही इस अलौकिक शक्ति के वैभव पर दृष्टिपात करता है। वह समस्त प्राकृतिक विलास और ऐतिहासिक चेतना के बीच मां के माहात्म्य को प्रकट करता है –

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 – 58
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 – 20

दिवस–मास–ऋतु–अयन–वर्ष भर
अयुत–वर्ण युग–योग निरन्तर
बहते छोड़ शेष सब तुम पर
लव–निमेष–कणिके।[1]

इसी प्रकार भारतमाता से सम्बन्धित पंत ने भी कई गीतों की रचना की है। "ग्राम्या" के अन्तर्गत "भारतमाता ग्रामवासिनी",[2] में कवि पंत का देश-प्रेम व्यक्त हुआ है। "ग्राम्या" संग्रह की ही एक अन्य रचना "चरखा गीत" में कवि भारत की गरीबी को दूर करने का उपाय स्वरूप चरखा अपनाने पर बल देता है। कवि कहता है, कि चरखे की शक्ति असाधारण है: वह शक्ति रूई धुनने तक ही सीमित नहीं वरन् उसके द्वारा निर्धनता को आसानी से समाप्त किया जा सकता है।

धुन रूई, निर्धनता दो धुन
कात सूत, जीवन पट लो बुन।[3]

पंत ने चरखे की महत्ता में कहा है कि –

नग्न गात यदि भारत माँ का
तो खादी समृद्ध की राका।[4]

इसी प्रकार ग्राम्या संग्रह की "राष्ट्रगान" शीर्षक कविता में भारत देश की वंदना की है। जहाँ देश भक्ति की सशक्त पुकार सुनाई पड़ती है। कवि की अन्य कृतियों "स्वर्ण किरण" की "ज्योति भारत", "स्वर्ण धूलि" की "जन्मभूमि" "युगपथ" की "भारत–गीत" "उत्तरा की "जागरण गान" और "उद्बोधन" शीर्षक कविता में देश भक्ति की भावना का सर्वोत्कृष्ट रूप दिखाई देता है।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 – 15
2. सुमित्रा नन्दन पंत –ग्राम्या – पृ0 – 48
3. सुमित्रा नन्दन पंत – ग्राम्या (चरखा गीत) – पृ0 – 50
4. सुमित्रा नन्दन पंत – ग्राम्या – (चरखा गीत) पृ0 – 50

ज्योति भूमि,

जय भारत देश।

ज्योति चरण धर जहाँ सभ्यता

उतरी तेजोन्मेष।

× × ×

फूटे जहाँ ज्योति के निर्झर

ज्ञान भक्ति गीता वंशी स्वर,

पूर्ण काम जिस चेतन रज पर

लौटे हँस लोकेश।[1]

भारत के इस अपराजित व्यक्तित्व के प्रति विनीत श्रृद्धांजलि के रूप में कवि ने "रजत शिखर" में अपना अभिवादन निवेदित किया है –

अभिवादन इस भव्य देश का, वृद्ध जगत के

साथ बढ़े वह, विश्व शांन्ति का पोषक बनकर।[2]

भारत की महिमा अपरम्पार है, इसका गुणगान शब्दों में सहज ही नहीं किया जा सकता। गुंगे और गुड की स्थिति है। समस्त विश्व में इसका स्थान सर्वोच्च है। इसकी कल्पना "जगततरिणी" के रूप में करना उचित है –

देखो, मां के अंचल में जो रत्न बँधा अविनाशी

जगत तारिणी भरत भूमि, वह नहीं भिखारिन दासी

× × × ×

आओ, मुक्त कंठ से सब जन

भू–मंगल का गावें गायन,

वन्दे मातरम्।

जन धरणीं जन भरणी

रत्न प्रसवनी मातरम्।[3]

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्ण किरण (ज्योति भारत) – पृ0 – 34
2. सुमित्रा नन्दन पंत – रजत शिखर – पृ0 – 83
3. सुमित्रा नन्दन पंत – स्वर्ण किरण (स्वर्णोदय) – पृ0 – 94

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि छायावादी कवियों ने परम्परागत भक्ति के साथ ही साथ युगानुरूप नव-मानववाद और देश-भक्ति परक गीत भी लिखे है। पूरा का पूरा छायावाद, परम्परा और आधुनिकता के सामंजस्य से अलेकृत है। जहाँ कुंठा नहीं आनन्द व्याप्त है।

शक्ति की आराधना –

शक्ति पूजा, विशेष रूप से मातृ भाव से शक्ति पूजा भारत की सम्पत्ति है। मातृ भाव से पृथक अन्य भावों की शक्ति पूजा का कुछ अंश अन्य देशों में भी परिलक्षित होता है। यथार्थ में जगत्कारण को माँ जगदम्बा कह कर पुकारना केवल भारत में ही दिखाई पड़ता है।

या देवी सर्वभूतेषु शक्ति रूपेण संस्थिता
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।[1]

जड़, चेतन सभी प्रकार के प्राणियों के भीतर कहीं गुप्त और कहीं व्यक्त भाव से अव-स्थित शक्ति रूपिणी देवी को हम बारम्बार प्रणाम करते हैं। वेद कहते हैं –"प्राचीन होने पर भी शक्ति नित्य नीवन है, अव्यक्त भाव से जब वह व्यक्त होती है तब वह नवीन प्रतीत होती है। इसी कारण श्री रामकृष्ण देव कहा करते थे –"चिक की ओट में देवी सदा ही खड़ी है।"[2]

शक्ति पूजा में ही सारा संसार अनादि काल से लगा हुआ है। शक्ति की आराधना के अतिरिक्त संसार में अन्य किसी प्रकार की उपासना कभी नहीं हुई और न होगी। जड़ और चेतन सभी युग-युगान्तर से जीवन भर शक्ति की आराधना में व्यस्त रह कर भी पूजा समाप्त नहीं कर सके, और न कभी कर सकेंगे। यदि कभी कर सके तो वह शक्ति की ही सहायता से संभव है–

"सैषा प्रसन्ना वरदानृणां भवति मुक्तये।"[3]

---

1. दुर्गा सत्तशती – 5/32–34
2. स्वामी सारदानन्द –भारत में शक्ति पूजा – पृ० – 2
3. दुर्गा सप्तीशती – 1/56

उपनिषद् ब्रह्म को शक्ति–समन्वित रूप में वर्णित करता है। वह अपनी शक्ति से युक्त होकर अनेक रूप धारण करता है सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में विद्यमान उसी की शक्ति सक्रिय होकर कार्य करती रहती है इसी शक्ति समन्वित ब्रह्म को श्री रामकृष्ण परमहंस देव "काली" अथवा "मां" कह कर पुकारते हैं, वे कहते है – वे सृष्टि, स्थित और प्रलय करती हैं, उन्हीं का नाम काली है, काली ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही काली।[1] निराला ने भी उसी व्यापक शक्ति को माता माना है। –

सारे ब्रह्माण्ड के जो मूल में विराजती है
आदि–शक्ति–रूपिणी
शक्ति से जिनकी शक्ति शालियों में सत्ता है
माता हैं मेरी वे-----।[2]

शक्ति स्वाधीन भाव से कार्य नहीं कर सकती, फिर भी चैतन्य पुरूष के साथ शक्ति का नित्य संयोग रहने के कारण वो नित्य चैतन्यमयी दीखती है। ऋषियों ने कहा है कि "कल्पना की सहायता से तुम भले ही शक्ति और शक्तिमान को पृथक कर लो, पर वस्तुतः उन्हें पृथक कर पाना संभव नहीं।

(क) नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्व मिदमृततम्।[3]
(ख) मन योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।[4]

अर्थात देवी नित्य स्वरूप है, जगत ही उनकी मूर्ति है– वे ही अखिल ब्राह्माण्ड में व्याप्त है, जहाँ से जीव और जगत की उत्पत्ति हुई है। सभी की उत्पत्ति का कारण स्वरूप मै ही वह शक्ति हूँ। जो पर ब्रम्ह में सदा विद्यमान है। इसी कारण देवताओं ने शक्ति की स्तुति करते हुए कहा–

या दवी सर्वभूतेषु चेतनंत्याभिधीयते
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।[5]

---

1. रामकृष्ण वचनामृत – भाग 1 – पृ0 – 125
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराल – परिमल – पृ0 – 219
3. दुर्गा सप्तशती – 1/64
4. ऋग्वेद – 10/125/7 – देवी सुक्त
5. दुर्गा सप्तशती – 15/19

भारतीय धार्मिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि शिवावतार शंकराचार्य तथा भक्ति मूर्ति श्री चैतन्य देव आदि महान अवतारों ने भी शक्ति उपासना का पवित्र आदर्श प्रस्तुत कर शिवोक्त–तंत्रशास्त्र की यथार्थ मर्यादा संस्थापित की।

श्री शंकराचार्य द्वारा लिखित शिव, दुर्गा की स्तुतियां और विष्णु सहस्त्रनाम का भाष्य तथा श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा अन्नपूर्णा देवी की इष्ट देवी के रूप में उपासना सर्वविदित है। श्री रामकृष्ण परमहंस देव भी माँ काली के अनन्य उपासक थे। इन्हीं के प्रभाव से बंगाल में शक्ति पूजा का प्रचार था। निराला का प्रारम्भिक जीवन इसी शक्ति भूमि में बीता भारतीय धर्म दर्शन में पुरूष–प्रकृति शिव–शक्ति, राधा–कृष्ण आदि युग्मों में सरलता से पुरूष एवं नारी भावों की स्थिति स्वीकृत कर ली गई है। वस्तुतः शक्ति भी शिव के समान ही परस्पर द्वन्द्व विमुक्त, निराकार, निरंजन और नित्य है। अभिव्यक्ति बाधा ही उसे व्यक्त रूप में सगुण–साकार रूप प्रदान करती है।

मातृ रूप में ब्रह्म शक्ति की कल्पना स्त्रोत्र और शक्ति साहित्य में प्रचुर मात्रा में दिखाई देता है। दुर्गा सप्तशती के 11 (ग्यारहवें) अध्याय में देवी को जगत की आधारभूत "महीस्वरूपा" "अनन्तवीर्या" "विश्वबीज" "परमामाया" "भुवि मुक्ति" हेतु आदि कहा है। सप्तशती, आनन्द लहरी, देवी भागवत, एवं अन्य सम्प्रदाय ग्रंथो में देवी को "नारायणी" "वैष्णवी" "माहेश्वरी" "जयन्ती", "मंगला" "काली" "कंपालिनी" "श्यामा" "सरस्वती" "मृगेन्द्र-पीठ संस्थिता भी कहा गया है। "सरस्वती" और नव दुर्गा में इस प्रकार अभेद सिद्ध होता है। निराला के काव्य में भी देवी को ही विश्व-रूपा, विराट रूपिणी, श्यामा, सरस्वती आदि विभिन्न नाम भेदों से देखा गया है।

शक्ति-पूजा के सन्दर्भ में महर्षि अरविन्द का विचार है कि "भगवान का सेवक होना कुछ चीज है, भगवान का दास होना उससे भी बड़ी चीज है------भला वह मनुष्य कृष्ण को कैसे पा सकता है। जिसने कभी काली की उपासना नहीं की है।[1]

---

1. डा0 श्याम बहादुर वर्मा – श्री अरविन्द साहित्य दर्शन – पृ0 –61

आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य में भी शक्ति आराधना का विपुल भण्डार दिखाई देता है। भारतेन्दु जी शक्ति रूपिणी राधा रानी के उपासक थे,[1] पंडित प्रताप नारायण मिश्र ने मा भगवती दुर्गा की उपासना की। ठाकुर जगमोहन सिंह भी मां दुर्गा के अनन्य भक्त थे।[2]

द्विवेदी युग में भी शक्ति पूजा का स्वरूप पूर्ववत दिखाई देता है।''प्रियप्रवास'' में यशोदा ने कृष्ण के मथुरा गमन की बात जान व्याकुल हृदय से भगवती जगदम्बिका का स्तवन किया -

कलुष-नाशिनी दृष्ट-निकंदिनी
जगत की जननी भव-वल्लभे।
जननि के जिय की सकलाव्यथा
जननि ही जिय है कछु जानता।[3]

छायावाद युग में भी इसी मातृशक्ति की आराधना उपलब्ध होती है। मातृभाव से शक्ति आराधना जो भारत की अपनी सम्पत्ति है, की जो अवधारणा निराला में उपलब्ध होती है, वह श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द का ही प्रदेय है। उनके प्रभाव का प्रत्यय है। वास्तव में रामकृष्ण के आविर्भाव से ही नारी प्रतीक में अत्यन्त शुद्ध रूप से शक्ति पूजा साकार हुई। यद्यपि निराला काव्य किसी सम्प्रदाय विशेष का आग्रह नहीं रखता फिर भी उसमें मां के विविध रूपोपासना से सम्बद्ध स्तवन और गीत मिलते हैं। निराला शक्ति तत्व पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि ''शक्ति तत्व की समालोचना करने पर उनके एक ही आधार में प्रसव और प्रलयंकारी विरोधी गुणों का समावेश हो जाता है। आजकल के दार्शनिकों का भी यही सिद्धान्त है कि शक्ति का न नाश है और न ह्रास हॉ गुप्त और व्यक्त भाव अवश्य होता है।[4] इसी में आगे ''शक्ति'' की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि शक्ति अर्जन हमारा ध्येय होना चाहिए-सच तो यह है कि जिसमें भाव शक्ति या धारणा शक्ति कम है, वह अपने से अधिक शक्तिशाली के साथ आदेश का भाव नहीं

---

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - जयति जयति श्री राधिका------।
2. पुरवहु सब मम आस - दुर्गा दुर्गति नाशिनी - डा0- जगमोहन सिंह - श्यामा स्वप्न
3. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध - प्रियप्रवास - तृतीय सर्ग - छन्द - 49
4 सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - चयन - पृ0 - 152

रख सकता। जिसमें शक्ति की मात्रा कम होती है उसे स्वभावतः यह ज्ञान हो जाता है कि प्रतियोगी की शक्ति अधिक है।[1]

विवेच्य युग में शक्ति–पूजा सम्बन्धी प्रार्थना निराला के काव्य में सबसे अधिक दिखाई देती है। यह प्रभाव निराला पर बंगाल की भूमि ने दिया। निराला को विद्वानों ने ओज का कवि कहा है। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने तो इन्हें "नवीन कविता–कामिनी के अनुपमरत्न" कहा है।[2] निःसंदेह निराला पौरूष और ओज के कवि है। ओज शक्ति का ही प्रतिफल है। शक्ति और सौन्दर्य के इस कवि ने विविध रूपों में मातृशक्ति के दर्शन किये हैं, पर शक्ति का परम्परा पुष्ट रूप–चित्रण कवि का अभीष्ट नहीं। निराला के काव्य में मातृ शक्ति कहीं भारत माता, कहीं सरस्वती, तो कहीं दुर्गा, कालिका आदि का रूप धारण कर लेती है। कवि ने शक्ति के उग्र रूप की ही आराधना की है, और अपनी भक्ति इसी शक्ति के चरणों पर निवेदित की है।

दुर्गा, काली, श्यामा –

"राम की शक्ति पूजा" में निराला ने शक्ति का रहस्यात्मक वर्णन भी प्रकृति के तत्वों की संश्लिष्ट – योजना के रूप किया है।

> देखो बन्धुवर, सामने स्थित जो यह भू-धर
> शोभित शत–हरित–गुल्म–तृण से श्यामल सुन्दर
> पार्वती कल्पना है इसकी, मकरन्द–विन्दु,
> गरजता चरण–प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु
> दशदिक समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर
> अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि–शेखर
> लख महाभाव–मंगल पद तल धंस रहा गर्व
> मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व।[3]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – चयन – पृ0 – 155
2. आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी – हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी – पृ0 – 142
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अनामिका – पृ0 – 160

मा दुर्गा शक्ति और तेज की देवी हैं। उसके इसी स्वरूप की आराधना करते हुए राम के रूप में निराला कहते है कि –

देखा राम ने–समाने श्री दुर्गा, भास्वर
वामपद असुर–स्कन्ध पर रह. दक्षिण हरि पर
ज्योतिर्मय रूप, हस्त दश, विविध अस्त्र सज्जित
मन्द स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित।[1]

मां दुर्गा की यह छवि (दश भुजाओं वाली) महिषासुरमर्दिनी की छवि है, जिसका राम को दर्शन होता है। बंगाल में शारदीय नवरात्र में देवी क इसी रूप की पूजा होती है। यह प्रभाव निराला पर बंगाल से ही पड़ा था। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है। कवि ने पार्वती के कालिका रूप का भी वर्णन किया है। धारा की प्रखरता ही कालिका की गति है। वह बालिका धारा रूपिणी पार्वती ही अपने अपार शक्ति का प्रदर्शन कर कालिका बन गयी है –

समझे थे जिसे बालिका
आज ढहाते शिला–खण्ड–चय देख
काँपते थर–थर––
शिला–खण्ड–नर–मुंड–मालिनी कहते उसे कालिका।[2]

काली आद्या शक्ति रूपिणी है। काली सृजन और प्रलय दोनों का प्रतीक है। निराला ने काली के विध्वंसक, भयंकर और विकराल रूप का ही आवाहन किया है। "आवाहन" शीर्षक कविता में कवि श्यामा–काली को असुर विनाश नृत्य के लिए अनुरोध करता है। निराला उस परमात्मतत्व के व्यापक भीम–भाव से भय की प्राप्ति नहीं करते। कवि का भक्त भी खड्ग खप्पर धारिणी मुण्डमाल विभुषित, मां श्यामा की भीमा मूर्ति में वात्सल्य–भावभरिता मां की विमलता के दर्शन करता है। उसकी कामना है कि संसार के असुरों को मारने के

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अनामिका – पृ0 –
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अपरा – पृ0 – 106

लिए मां श्यामा के उस भयानक रूप में प्रकट होने पर वह उसके खप्पर में अंजलि भर-भर कर रूधिर भरे। उसे ज्ञात है कि मां विविध रूप से प्रकटित होती है। इसका ये रूप "दैत्यानां देह नाशाय भक्ता-नामभ्याय" ही आयुधों को "देवानां हिताय" धारण करती है। कवि की दृष्टि से मां श्यामा के उस विराट नृत्य के मोहक अवसर पर कर-तल-पल्लव-दल से निर्जन वन के सभी तमाल ताल देते दिखाई पड़ेंगे "सिन्धु राग का आलाप होगा, उसकी उत्ताल तरंगों की भंगिमा से निःसृत घोष में "मृंदग के सुस्वर क्रिया कलाप होंगे और मां 'निर्झर के झर-झर स्वर मे सरगम सुनायेगी-

एक बार बस और नाच तू श्यामा।
सामान सभी तैयार
कितने ही हैं असुर, चाहिए कितने तुझको हार?
कर-मेखला मुण्ड-मालाओं से बनमन-अभिरामा-
× × × ×
भैरवी भेरी तेरी झञ्झा
तभी बजेगी मृत्यु लड़ाएगी जब तुझसे पञ्जा
लेगी खंग और तू खप्पर
उसमें रूधिर भरूँगा मां।
मैं अपनी अंजलि भर भर।[1]

कहना न होगा कि इसमें मां श्यामा की सूक्ष्म परन्तु विराट रूप की कल्पना है जो स्वामी विवेकानन्द की "नाचुक ताहाते श्यामा" का हिन्दी रूपान्तरण है।

निराला के शक्ति आराधना में कुछ प्रतीक शाक्त दर्शन से प्रभावित हैं।

मृत्यु रूपिणी मुक्त कुत्तला।
मां भी नहीं किसी को चाह
मृत्यु स्वरूपा मां है तू ही
सत्य स्वरूपा सत्याधार।[2]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल (आवाह्न) – पृ0 150
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अनामिका – पृ0 110

अपनी परमाराध्या भगवती के चरणों में अपने काव्य सुमनों को अर्पित करते समय उनके हृदय का बांध टूट गया अपनी वेदना कातर वाणी में निराला मां भगवती से पूछते हैं –

देवि तुम्हें मैं क्या दूँ?
क्या है कुछ भी नहीं, ढो रहा व्यर्थ साधना–भार
एक विफल रोदन का है यह हार एक उपहार
भरे आंसुओं में है असफल कितने विफल प्रयास
झलक रही है मनो वेदना करूणा पर उपहास
क्या चरणों पर ला दूँ?
और तुम्हें मैं क्या दूँ?[1]

निराला को श्याम और नीले रंग से विशेष आकर्षण दिखाई देता है। क्योंकि सारा वातावरण उन्हें श्याममय दिखाई देता है।

जिधर देखिये श्याम विराजे
श्याम कुंज वन यमुना श्याम।
श्याम गगन, घन वारिद गाजे।[2]

निराला ने पंचवटी–प्रसंग में भी सीता को शक्ति के रूप में लक्ष्मण के मुख से कहलवाया है। लक्ष्मण स्वयं निराला के रूप में मातृशक्ति के चरण–रेणु के लिए लालायित दिखाई देते हैं। यहाँ दृष्टव्य है –

माता की चरण–रेणु मेरी परम शक्ति है–
माता की तृप्ति मेरे लिए अष्ट सिद्धियां –
माता के स्नेह शब्द मेरे सुख–साधन हैं।

---

1. सुर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 95
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – सान्ध्य की कली – पृ0 20

सारे ब्रह्माण्ड के जो मूल में विराजती है–
आदि शक्ति रूपिणी
शक्ति से जिनकी शक्तिशालियों में सत्ता है
माता हैं मेरी वे।[1]

भक्त निराला अपनी इसी माता से जो वर प्रदायिनी है, से उस लोक की याचना करते हैं जो चित् का लोक है, जहां शिव एवं शक्ति का मिलन होता है और जो आनन्द का धाम है।

अनुद्वेलित हुआ चित्सिन्धु जहां है
मिल रहे हैं जहाँ सृष्टि के सभी शय
बिना जिसके नहीं स्थिति, रहा है विलय,
वही हो सही इस देह का अभियान।[2]

"आराधना" और "गीतिका" के अनेक गीतों में कवि ने मातृ शक्ति की आराधना की है। मां के प्रति कवि की भक्ति–प्रार्थना निज स्वार्थ के लिए नहीं, वरन् विश्व कल्याण की भावना से प्रेरित है।

मां मानस के सित शतदल को
रेनु–गन्ध के पंख खिला दो
जग के मंगल मंगल के पग
पार लगा दो प्राण मिला दो
तरू को तरूण पत्र मंजर दो।[3]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल (पंचवटी प्रसंग) पृ0 243
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 34
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना-- गीत –

सरस्वती :–

शक्ति आराधना में आधुनिक कवियों ने मातृशक्ति के जिन विवधि रूपों का स्तवन किया, उसमें वीणावादिनी सरस्वती का महत्वपूर्ण स्थान है। मैथिलीशरण गुप्त ने "साकेत" के प्रारम्भ में ही कवियों की आराध्या विद्या की देवी, वीणावादिनी की स्तुति की है।

अयि दयामयि देवि, सुख दे, सारदे
इधर भी निज वरद पाणि पसार दे।
दास की यह देह–तंत्री सार दे
रोम–तारों में नई झंकार दे।[1]

निराला ने शक्ति के भयंकर रूप के साथ ही साथ शक्ति के सौम्य रूप का भी वर्णन किया है। मानव की आत्मा रूपी शत दल पर वीणावादिनी के युगल चरण शोभित हैं। यह चतुर्भुजी सरस्वती है, जिसके दो हाथों में वीणा एवं एक हाथ में कमल और दूसरे में पुस्तक है। शुभ्रतर ज्योति से खिला शरीर और चरणों के पास हंस शोभायमान है, जो वीणा के तीव्रमृदु झंकार को सुन रहा है। यह सरस्वती आर्यों की पूज्या है, जीवन शक्ति का प्रतीक है जिसका उल्लास प्रकृति के कण–कण में दिखाई दे रहा है।

शुभेकुल रंगों की, रागों की शब्दों की
नित्य नवीना हो बंदित यद्यपि अब्दों की।[2]

निराला का सर्व प्रिय एवं प्रसिद्धगीत मां सरस्वती के चरणों में स्वतंत्रता के प्रिय अमृत मंत्र को समस्त भारत वर्ष में भर देने के उद्देश्य से निवेदित है।

वर दे वीणावादिनी वर दे।
प्रिय स्वतंत्र–रव अमृत मंत्र नव
भारत में भर दे

---

1. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – प्रथम सर्ग – पृ0 2
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अपरा – पृ0 156

कलुष–भेद–तम हर प्रकाश भर

× × × ×

नवगति, नवलय, ताल छन्द नव

नवल कण्ठ, नव जलद–मन्द्र रव

नव नभ के नव विहग–वृन्द को

नव पर, नव स्वर दे।[1]

"गीतिका" संग्रह के कई गीतों में निराला ने सरस्वती की वंदना की है। "कल्पना के कानन की रानी"[2] जैसे गीत में सरस्वती की वन्दना कर श्री मां का आह्वान किया है। तथा निवेदन किया है, कि "जला दे जीर्ण शीर्ण प्राचीन"[3] ऐसे निवेदन में निश्चय ही कवि नवीन शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा रखता दिखाई देता है। "एक ही आशा में सब प्राण" के अन्तर्गत एक वृक्ष के पुष्पों की भांति सभी ऊँच–नीच को समान रूप स अपनाने की बात कहकर वंदना की है।

एक ही आशा में सब प्राण

बांध मां, तंत्री के से गान

तोल तू ऊँच–नीच समतोल

एक तरू केसे सुमन अमोल।[4]

निराला अपनी अकिंचनता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि "तुम्ही गाती अपना गान, व्यर्थ मैं पाता सम्मान"[5] ऐसे उदार मां के लिए प्रेरणा देना कोई बड़ी बात नहीं कवि कहता है कि हे मां तुम दुख पूर्ण धरती को त्राण से मुक्त करने के लिए अपने बालकों को प्रेरित करो, जिससे प्रेरित हो वह अपने प्राण को धरती की मुक्ति के लिए न्यौछावर कर दें –

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 3
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 26
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 36
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 35
5. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 49

सार्थक करो प्राण
जननि दुख, अवनि को
दुरति से दो त्राण ।[1]

निराला की शक्ति भावना रूप से अरूप की और संक्रमण करती भी दिखाई देती है। वह मांसलता से सूक्ष्मता की ओर प्रयाण करने लगती है। "तुलसीदास" रचना में कवि ने रत्नावली को तुलसी की शक्ति के रूप में रूपायित किया है। जो रत्नावली अब तक एक मांसल स्त्री थी, वह आग की जलती प्रतिमा के सदृश है। वह बांधने वाली है, तो साथ ही मुक्ति भी देने वाली है। शक्ति, मुक्ति और भुक्ति उभय प्रदायिनी है। तुलसी का रत्नावली को सरस्वती रूप में देखना कवि की अपनी मौलिक कल्पना है। जो विश्व–हंस पर स्थित नीलवासना शारदा सी प्रतीत होती है।

देखा, शारदा नील–वसना
है सम्मुख स्वयं सृष्टि–रशना,
जीवन समीर–शुचि निःश्वसना, वरदात्री
वीणा वह स्वयं सुवादित स्वर
फूटी तर अमृत–धार निर्झर,
यह विश्व–हंस है चरण सुघर जिस पर श्री ।[2]

ऐसी अलौकिक प्रतिमा का दर्शन कर तुलसी का मन पुनः उर्ध्वमुखी हो जाता है, और आकाश के बहुरंगी स्तर पर क्षण में पार कर जाता है। संस्कारों के धूसर समुद्र के ऊपर एक तारिका चमक उठती है। उसी में शारदा का रूप लीन हो जाता है। केवल अरूप की महिमा शेष रह जाती है –

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 58
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – तुलसीदास – पृ0 46

धमकी तब तक तारा नवीन
द्युति नील नील, जिसमें विलीन
हो गयी भारती, रूप क्षीण महिमा अब।[1]

श्री जयशंकर प्रसाद ने भी कामायनी की श्रद्धा को विश्व मोहिनी शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया। वह स्वयं अपने आप में महामाया है, त्रिपुर सुन्दरी है, अर्थात श्रद्धा सौन्दर्य–शक्ति का प्रतीक है, और मनु के जीवन के सहज भाव से यह सौन्दर्य शक्ति आत्मसमपर्ण कर देती है सौन्दर्य के सहज सात्विक ज्ञान होने के कारण मनु आनन्द की खोज में तरह–तरह के अनुष्ठानों एवं यज्ञों से सोम तथा विलास–आकुलि जैसी आसुरी प्रवृत्त्यिों के प्रवाह में बहते चले जाते हैं। गंगा की धारा पास बह रही है, पर उसमें मनु वारूणी की उत्तेजना ढूढ़ते है। आनन्द की लीला यद्यपि समस्त विश्व के परिव्याप्त है, किन्तु मनु उस आनन्द को नहीं प्राप्त कर पाते।[2]

आनन्द शक्ति, सौन्दर्य–शक्ति से ही प्रादुर्भुत होती है। चेतना का उज्ज्वल वरदान, सौन्दर्य ही महाचिति सा समस्त विश्व मे व्याप्त है। वह लीलामय आनन्द का सर्जन कर रही है। विश्व, इसी चिति सत्ता में अपनी आँखे खोलता है।

कर रही लीलामय आनन्द–
महाचिति सजग हुई–सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम–
इसी में सब होते अनुरक्त।[3]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – तुलसीदास – पृ0 47
2. डा0 सुरेन्द्र मोहन प्रसाद – शाक्त दर्शन और हिन्दी के वैष्णव कवि – पृ0 322
3. जयशंकर प्रसाद – कामायनी – पृ0 53 (श्रद्धासर्ग)

नारी से जुड़ा हुआ काम तत्व भी उसकी एक शक्ति है जिसका स्वरूप मंगल मंडित है। यही मूल शक्ति सृष्टि का कारण बनती है–

वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई
अपने आलस का त्याग किये
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े
जिसका सुन्दर अनुराग लिए।[1]

यही चिति–शक्ति सम्पूर्ण विश्व का आधार है। चिति शक्ति के स्वरूप में सत्यं शिवम् सुन्दर की ही अभिव्यक्ति है। प्रसाद जी ने इस भाव को बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया–

चिति का विराट–वपुमंगल
वह सत्य सतत चिर सुन्दर।

श्रद्धा के संस्पर्श से मनु की सारी व्यथा शेष हो जाती है। फलस्वरूप मनु श्रद्धा में मातृमूर्ति का दर्शन करते हैं। श्रद्धा यहाँ लोक की अग्नि में तपकर स्वर्ण प्रतिमा के समान हिमशिखरों से भी उन्नत दिखाई देती है ऐसे अनुपम दिव्य मूर्ति में श्रद्धा शक्तिमयी मातृमूर्ति के रूप में दिखाई देती है। यहाँ निराला के तुलसीदास की तरह ही योजना की गयी है।

तुम देवि! आह कितनी उदार
यह मातृमूर्ति है निर्विकार,
हे सर्व मंगले! तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती
कल्याणमयी वाणी कहती
तुम क्षमा निलय में हो रहती
मैं भूला हूँ तुमको निहार–
नारी सा ही! वह लघु विचार।[2]

---

1. जयशंकर प्रसाद – कामायनी – काम सर्ग – पृ0 72
2. जयशंकर प्रसाद – कामायनी – दर्शन सर्ग – पृ0 249

नारी का यह सर्वमंगला रूप मां भगवती का ही रूप है। 'दुर्गा सप्तशती' में भी इस सर्व मंगला भगवती की अराधना की गयी है –

> "सर्व मंगल मांगल्ये शिवे सर्वार्थ साधिके"
> शरणे त्रयम्बिके गौरी नारायणि नमोस्तुते।[1]

इसी परम शक्ति के रहस्य को जान लेने के बाद मनु का श्रद्धा के साथ अद्वय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जिस प्रकार शक्ति और शक्तिमान में अभेद है। यहाँ सामरस्य के स्तर पर पहुँच कर मनु और श्रद्धा में बस नाम का अन्तर रह जाता है। इड़ा इसी का अवलाकन करती हुई कहती है –

> चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
> वह चेतन–पुरूष – पुरातन
> निज शक्ति तरंगायित था
> आनन्द–अंबु–निधि शोभन।[2]

समाहार :–

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है, कि छायावादी काव्य में भक्ति का स्वरूप लोकोन्मुखी है। द्विवेदी काल में भक्ति को आधुनिक सन्दर्भों से जोड़ा गया। व्यक्तिगत कोरी एकान्त साधना का बहिष्कार किया गया। इस दृष्टि से छायावादी काव्य, भक्ति संवेदना की गहराई को लिए हुए है। भारतीय धार्मिक परम्परा में द्विवेदी युग के पूर्व भक्ति का स्वरूप व्यक्तिगत ही दिखाई देता है, लेकिन छायावाद में व्यष्टि की जगह समष्टि को महत्व प्रदान किया गया। पूरा का पूरा छायावाद युग सभी को समान रूप में देखने को आग्रह रखता है। छायावादी भक्त कवियों ने केवल अपनी मुक्ति के लिए प्रार्थना नहीं की, वरन् अपनी मुक्ति के साथ ही साथ समष्टि के कल्याण की कामना रखते हैं। वे ऐसी "प्रखर सदाशयता" की याचना करते हैं जिसमें समस्त जाति जीवन ही निरामय हो जाय। छायावादी कवि प्रसाद मनु के

---

1. दुर्गासप्तशती –
2. जयशंकर प्रसाद – कामायनी – आनन्द सर्ग – पृ0 286

माध्यम से ऐसे भाव की अभिव्यक्ति करते हुए कहते हैं कि –

औरों को हंसते दखों मनु
हँसों और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सबको सुखी बनाओ ।

छायावाद के सभी कवियों ने शक्ति की आराधना की है। आलम्बन उनका भिन्न–भिन्न अवश्य रहा है, लेकिन उद्देश्य एक ही दिखाई देता है। किसी ने दुर्गा की आराधना की है, तो किसी ने सरस्वती और भारत माँ की। पर वस्तुतः परमशक्ति एक ही है, इसमें भेद नहीं। शक्ति और शक्तिमान में भी कोई भेद नहीं है। अज्ञानवश हम उसमें भेद उपस्थित कर देते हैं। प्रसाद ने कामायनी में इसी द्वयता को नष्ट कर अद्वय की स्थापना की है। जहाँ सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है।

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

* * * * *

पंचम अध्याय

निराला के काव्य में भक्ति–चेतना का स्वरूप ।

1. व्यक्तित्व एवं संस्कार
2. काव्य का विकास
3. भक्ति का आलम्बन और आयाम
4. निराला के काव्य में विविध प्रभाव
5. समाहार

निराला के काव्य में भक्ति का स्वरूप :–

व्यक्तित्व एवं संस्कार:–

छायावादी काव्य चतुष्टयी के बहु–स्पार्शनी प्रतिभा से सम्पन्न, नवीन कविता–कामिनी के अनुपम रत्न[1] भाषा और छन्द के असाधारण प्रयोक्ता तथा हिन्दी में गीतों की नई परम्परा को जन्म देने वाले[2] सार्वभौम प्रतिभा क शुभ्ररूप[3] महाकवि निराला का जन्म प्राकृतिक सुषमा के बीच प्रभात कालीन–प्रकाशमान कोमल किरणों के साथ सन् 1896 ई0 में बसंत पंचमी के पावन दिन को बंगाल प्रान्त के मेदिनीपुर जिले में महिषादल नामक रियासत के जमादार पंडित राम सहाय तिवारी के परिवार में हुआ था । इनके पिता पंडित राम सहाय तिवारी उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले में गढ़कोला नामक गांव के निवासी थे। जो जीविकोपार्जन के उद्देश्य से बंगाल के प्रवासी नागरिक थे। निराला का जन्म उनकी दूसरी पत्नी की कोख से हुआ था। बालक निराला की ओज–तेजमय मुखाकृति के अनुरूप "सूर्यकान्त" नाम रखा गया।[4] निराला जी का बाल्यकाल राज दरबारी वातावरण में व्यतीत हुआ। पालन–पोषण उनकी प्रारम्भिक शिक्षा राजपुत्रों के साथ सम्पन्न हुई। जिसका प्रभाव निराला के व्यक्तित्व की नींव है। अभी निराला चलना ही सीख रहे थे, कि विधि ने उनसे मां की ममता व स्नेह छीन लिया। मां की ममता व दुलार से वंचित बालक प्रारम्भ से ही दुख व संघर्ष झेलने के लिए सन्नद्ध हो गया। पिता के जीवन में अन्य परेशानियों के अतिरिक्त पत्नी वियोग का यह दूसरा अवसर था। दो–दो पत्नियों की मृत्यु के कारण श्री राम सहाय जी भी बहुत खिन्न और उद्विग्न रहने लगे और उनके स्वभाव में असामान्य कठोरता आ गयी। बालक निराला मातृ–स्नेह से आकिंचन तो हो ही गये थे, पिता का कठोर स्वभाव भी उन्हें पितृ–स्नेह से वंचित कर दिया। इन प्रतिकूल परिस्थितियों के योग से निराला के जीवन में आत्मनिर्भरता व विपत्तियों में अड़िग रहकर उनका विरोध करने की क्षमता का संचार हुआ। स्नेह से

---

1. नन्द दुलारे बाजपेयी – हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी – पृ0 142
2. डा0 राम विलास शर्मा – निराला – पृ0 81
3. ओंकार शरद – निराला स्मृतत ग्रंथ – पृ0 18
4. गंगा प्रसाद पाण्डेय – महाप्राण निराला – पृ0 43

वंचित बालक का उद्दत होना स्वाभाविकहै। बालक की प्रवृत्ति ही होती है बन्धन तोड़ना और स्वच्छन्द कार्य करना। जहां तक निराला का प्रश्न है, वह तो मातृविहीन थ हां लाड़–प्यार मिला नहीं मिली पिता की ताड़ना। स्वयं निराला का कथन है कि "मारते वक्त पिताजी इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें भूल जाता था कि वह दो विवाह के बाद पाये हुए इकलौते पुत्र को मार रहे हैं। मैं भी स्वभावनबदल पाने के कारण मार खाने का आदी हो गया था। चार–पांच साल की उम्र से अब तक एक ही प्रकार का प्रहार पाते पाते सहनशील भी हो गया था; और प्रहार की हद भी मालूम हो गयी थी।[1] यह हद यहाँ तक थी कि –– जब बालक बेसुध हो गया, तभी ताड़न क्रिया बन्द हुई।[2] पिता के इस व्यवहार मे पले निराला निर्भीक, आत्म विश्वासी और सहिष्णु होते गये, साथ ही साथ विद्रोही प्रवृत्ति भी यहीं से पनपी। डा0 राम विलास शर्मा ने उनकी इसी निभीर्कता का परिचय इस प्रकार दिया है – "निराला जी के व्यक्तित्व में निर्भीकता और उद्दण्डता कूट–कूट कर भरी थी। श्मशान और नगर में वह पूर्ण स्वच्छन्दता से विचरते थे। डलमऊ में अवधूत का टीला उनका ठीहा था। महिषादल में भी वह मसान में घूमने जाया करते थे। बरसात की अँधेरी रात में खेतों और मैदानों को पार करते जरा भी भय नहीं होता था। उनकी निर्भीकता दु:सहास की सीमा तक पहुँची हुई थी। इसका असर उनकी बातचीत पर भी था। वह बनावटी शिष्टचार को तोड़ते हुए निर्द्वन्द्व भाव से बातें करते थे, सुनने वाला क्या सोचे और समझेगा, इसकी उन्हें परवाह नहीं थी।[3] निराला के व्यक्तित्व में यह निभीर्कता पिता के कठोर अनुशासन का प्रभाव तो था ही मुख्य रूप से राज परिवार से जुड़े रहने का भी प्रभाव है।

युगीन एवं वंशीय परम्परा के अनुसार चौदह वर्ष की अल्पावय अवस्था में निराला जी का विवाह भी फतेहपुर जिले के चांदपुर की एक कन्या मनोहरा देवी के साथ हो गया था। मनोहरा देवी एक सुन्दर और गुणवती महिला थीं। वह स्वभाव से सौम्य, रूचियों से

---

1. डा0 राम विलास शर्मा – निराला – पृ0 46
2. डा0 राम विलास शर्मा – निराला – पृ0 46
3. डा0 राम विलास शर्मा – निराला – पृ0 45

सुसंस्कृत, प्रवृत्ति से धर्म परायण, और साहित्यानुरागेणी थीं। विवाह के पूर्व निराला को बंगाली, अंग्रेजी, संस्कृत आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था. हिन्दी भाषा के प्रति उनका रूझान विवाहोपरान्त ही हुआ, क्योंकि उनकी पत्नी मनोहरा देवी को हिन्दी का अच्छा ज्ञान था। "सरस्वती" की प्रतियों को लेकर उन्होंने हिन्दी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। स्वयं निराला ने "गीतिका" के समर्पण में लिखा है – "जिसकी हिन्दी के प्रकाश से प्रथम परिचय के समय मैं आंख नहीं मिला सका –– लजाकर हिन्दी की शिक्षा के संकल्प से, कुछ काल बाद देश से विदेश पिता के पास चला गया था, और उस हिन्दी–हीन प्रांत में, बिना शिक्षक के, सरस्वती की प्रतियां लेकर, पद–साधना की और हिन्दी सीखी थी। इस सन्दर्भ में बच्चन सिहं का कथन है कि "बंगाली कवि निराला को हिन्दी का कवि बनाने का श्रेय उनकी पत्नी को प्राप्त है। ––– श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला को "निराला बनाने में उनकी पत्नी का उतना ही हाथ है जितना कालिदास को कालिदास बनानें में विद्योत्तमा का, और तुलसीदास को तुलसीदास बनानें में रत्नावली का।"[1] पत्नी सम्पर्क ने बाल्यकालीन एकाकी, स्नेह रिक्त जीवन को माधुर्य एवं प्रेम से सिक्त कर दिया। निराला जी मनोहरा देवी को अपने जीवन में आना वरदान मानते थे। निराला जी का कहना था कि उन्होंने अपने जीवन में उनसे अधिक सुन्दर अन्य कोई स्त्री नहीं देखी थी। लेकिन जिस नारी ने निराला के व्यथित जीवन में व्यथा खींच कर अथाह अनुराग, साहस और जीवन के प्रति राग उत्पन्न किया, निराला को हिन्दी का प्रेमी बनाया वह उनकी जीवन यात्रा में अधिक दूर तक साथ न दे सकीं। जीवन के उबड़–खाबड़ रास्तों को साथ चलकर पार तो किया लेकिन जैसे ही कुछ समतल मार्ग मिला उनका साथ छोड़ गयी। उमर अभी मात्र 21 वर्ष ही थी तरूणावस्था भी नहीं बीती थी। पत्नी की इस असामायिक मृत्यु का निराला के व्यक्तित्व पर जो प्रभाव पड़ा उससे उग्र वृत्ति और भी जाग्रत हो गयी जो पत्नी के कारण कोमलतर बनती जा रही थी। इस अभाव को निराला कभी भूल नहीं सके, मनोहरा देवी की छाया उनके स्मृति में हमेशा सजीव रूप में दिखाई देती रही। "सरोज स्मृति" में एक स्थल ऐसा भी आया जब प्रिया के रूप की स्मृति पुत्री के रूप की स्मृति में संक्रमित होने लगती है।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अनामिका – (सरोज स्मृति) – पृ0 120

पर बांध देह के दिव्य बांध
छलकता दृगों के साथ–साथ
फूटा कैसा प्रिय कण्ठ–स्वर
माँ की मधुरिमा व्यंजना भर
मेरे स्वर की रागिनी वही
साकार हुई दृष्टि में सुघर
समझा मैं क्या संस्कार प्रखर।[1]

पत्नी वियोग ने निराला की कोमल वृत्तियों पर कुठाराघात किया। पत्नी की मृत्यु से निराला विक्षिप्त से हो गये। वह घण्टों श्मशान में बैठे सोचते रहते थे। मां का स्वर्गवास निराला की जीवन–भित्ती की पहली दरार थी, और वह दरार स्त्री के देहान्त से और भी स्फीत हो गयी। वस्तुतः निराला अगाध और विशाल हृदय के महामानव थे, सब कुछ समा लेने की क्षमता उनके अन्दर थी। इस मनोवेदना को काल की तरह निगल गये, शंकर की भांति वियोग–विष पी गये, नीलकंठ स्वयं हो गये लेकिन दुनिया को सुधापान ही कराया। उनके काव्य में लौकिक श्रृंगार भावना दिव्य–श्रृंगार–भावना के रूप में व्यक्त हुआ।[2]

पत्नी की मृत्यु के बाद ही निराला पर एक के बाद एक पारिवारिक विपत्तियां आती गयी। पहले पिता का निधन फिर चाचा का। यहीं से निराला के ऊपर परिवार का दायित्व, आर्थिक विपन्नता का बोझ फलस्वरूप दुःख, दर्द और संघर्ष की कभी न खत्म होने वाली कथा आरम्भ हो गयी, जिसने और कुछ न सही निराला को दृढ़ता और औदार्य, विश्वास और दर्प तो दिया ही जिसमें तपकर वह और उदीप्त हो उठे। यद्यपि परिस्थितियां विषम थी, लेकिन उन्होंने दृढ़ता से काम लिया। नौकरी की खोज में पुनः बंगाल गये नौकरी भी मिल गयी, लेकिन काव्य–साधना में बाधा उत्पन्न होने से उसे भी त्याग दिया, इधर काव्य–साधना उधर पारिवारिक संकटों का सामना इन दोनों पाटों के बीच में फंसा उनका जीवन एक प्रकार की विशेष अन्यमनस्कता से भर गया। फलतः काम में शिथिलता होने

---

1. "गीतिका" के समपर्ण में निराला ने लिखा – "जिसने अन्त में अदृश्य होकर मुझसे मेरी पूर्ण–परिणीता की तरह मिलकर मेरे जड़ हाथों को अपने चेतन हाथ से उठाकर

लगी। अन्ततागत्वा   नौकरी से त्याग पत्र देकर सन् 1920 में घर वापस लौट आये। घर लौट अना कोई समाधान नहीं था। जीावका की समस्या ज्यों की त्यों बनी रही। आर्थिक विपन्नता के कारण मातृविहीन पुत्री "सरोज" और "रामकृष्ण" के प्रति भी वह अपने आनेवार्य पितृ-कर्तव्य से वंचित रह गये। और पुत्री के अन्तिम क्षणों में निरूपाय दर्शक मात्र बने रहे।

धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका।[1]

उसकी अल्पाधिक सुश्रुषा भी वह न कर पाये। उन्हें इस बात का खेद अन्त तक रहा। इसके पीछे उनकी उपार्जन अक्षमता का हाथ था स्वयं निराला ने स्वीकार भी किया।

अस्तु मैं उपार्जन को अक्षम
कर नहीं सका पोषण उत्तम।[2]

पिता को पुत्री और पुत्र के प्रति दायित्व निर्वाह में अपने वाली परेशानी तो थी ही साहित्यक क्षेत्र में भी उनकी कम कटु आलोचनाएं नहीं हुई। उनके द्वारा प्रतिपादित मुक्त छन्द का भी अत्यधिक विरोध हुआ, उसे केंचुआ छन्द, रबड़ छन्द आदि कहकर उपहास किया गया।[3] अपने सहधर्मियों से भी उन्हें विरोध ही मिला। निराला ने स्वयं इस स्थिति पर कहा कि "बीस वर्षो एक साथ काम करके भी मैं अभी अपने मित्रों की ममता का पात्र नहीं बन सका।"[4] "विशाल भारत" के संपादक बनारसी दास चतुर्वेदी ने तो उनका घोर विरोध किया, यहाँ तक कि उनके एक निबन्ध "वर्तमान धर्म का शीर्षक" "साहित्यक सन्निपात" बदलकर उसे प्रकाशित किया व आलोचकों से उस पर सम्मति देने को कहा। इस प्रकार उन्हें आजीवन परिस्थितियों से संघर्ष करना पड़ा व दुख सहने पड़े, कवि स्वयं अपनी दुखद जीवन व्यापार पर लम्बी सांस छोड़ता हुआ कह उठा।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला- अनामिका (सरोज स्मृति)- पृ0 120
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - अनामिका (सरोज स्मृति) - पृ0 120
3. डा0 वीणा शर्मा - निराला की काव्य साधना - पृ0 5

दुख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज जो नहीं कही?[1]

ऐसे बाधित जीवन गाते के बारे में कहा भी क्या जा सकता है। संघर्ष जीवन की सहचरी बन गयी है । जहां भी कदम आगे बढ़ता है वहीं विरोध पैदा हो जाता है। ''राम की शक्ति-पूजा'' में निराला की ही आत्मग्लानि राम की आत्मग्लानि बनकर व्यक्त हुआ है।

धिक् जीवन जो पाता ही आया है विरोध
धिक् साधना जिसके लिए सदा ही किया शोध।[2]

इस विरोध और आलोचना से निराला ने समझौता नहीं किया। वह टूटे एक नहीं सौ बार टूटे लेकिन उन्हें एक बार भी झुकना पसन्द नहीं। उन्होंने कभी-कभी संघर्षों को आमंत्रण भी दिया। जीवन भर उदात्त, ऊर्ज और पौरूष का प्रमाण प्रस्तुत करते रहे। संघर्ष और विरोध उनके जीवन तथा साहित्य में गतिरोध लाने की अपेक्षा नई गति ही देता गया। संघर्ष से ही विकास होता भी है और निराला के व्यक्तित्व का विकास इस संघर्ष ने खूब किया।[2] निराला ने परिस्थितियों के सम्मुख कभी भी हार स्वीकार नहीं की। जीवन-संघर्ष का यह अप्रतिहत भट पलायन वृत्ति का पोषक कभी नहीं बना। चाहे मानसिक दबाव कितना भी न बढ़ा हो। जीवन के उत्तरार्द्ध में यह मानसिक दबाव इतना बढ़ गया कि मानसिक विभ्रम व विक्षिप्तता की अवस्था तक पहुँच गया।

निराला जीवन पर्यन्त खाली हाथ रहे, धन कभी भी स्वार्थ में खर्च नहीं किया परार्थ के लिए मुक्तहस्त लुटाते रहे। अर्थाभाव ने उन्हें और उदार बना दिया था। जब कभी भी कहीं से कुछ अर्थ प्राप्ति होती थी तो वह उसे किसी दीनदुखी को दे देते या किसी

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - राम की शक्ति पूजा -
2. धनज्जय वर्मा - निराला काव्य पुनर्मूल्यांकन - पृ0 68

विद्यार्थी की फीस दे देते, अथवा अतिथि सत्कार में व्यय कर देते। बड़े प्रयत्न से बनवाई रजाई, कोट जैसी नित्य व्यवहार की वस्तुएं भी जब दूसरे दिन किसी अन्य का कष्ट दूर करने के लिए अन्तर्धान हो गयी, तब अर्थ के सम्बन्ध में क्या कहा जावे, जो साधन मात्र है।[1] "अपरा" का 2100 रू0 का पुरस्कार मुंशी नवजादिक लाल की विधवा पत्नी की सहायता के लिए पचास रूपये प्रति मास बंध गया। महादेवी वर्मा जी ने जब इस सन्दभं में उनसे यह प्रश्न किया कि "उक्त धन का कुछ अंश भी क्या वह अपने उपयोग में नहीं ला सकते के उत्तर मे निराला का कथन था कि वह तो संकल्पित अर्थ है। अपने लिए उसका उपयोग करना अनुचित होगा।[2] निराला जी ने अर्थ की परवाह कभी नहीं की। जब पाया कर्ण के के हाथों खर्च किया। एक बुढ़िया मां की भिक्षा-वृत्त्त समाप्त करने के लिए पूरे तीन सौ रूपये निराला ने दे दिये और खाली हाथ घर लौटे हैं।[3] यही कुछ उदाहरण है जिसके कारण उन्हें कर्ण और औघड़ दानी आदि विशेषणों से विभूषित किया जाता है। वास्तविकता यह थी कि निराला जी ने आर्थिक महत्व को समझा था, अर्थाभाव ही था कि सरोज का इलाज नहीं करा सकें, पुत्र रामकृष्ण को उचित शिक्षा और दीक्षा नहीं दे सके। कई बार ऐसे अवसर भी आये जब उन्हें भूखे पेट सोना पड़ा। ऐसी स्थितियों से गुजरा व्यक्ति का उदार होना निराला के ही बस की बात थी। आज का मनुष्य जो अर्थाभाव में जी रहा है समय- लाभ या अवसर की प्राप्ति पर सब कुछ समेट लेने की आकांक्षा रखता है। अपना कोश रूद्ध कर देना चाहता है। फिर भी सन्तुष्ट नहीं होता। निराला जी ऐसे वर्ग विशेष पर कुठराघात करते है और कहते हैं –

> रूद्ध कोष है, क्षुब्ध तोष
> अंगना–अंग से लिपटे भी
> आतंक–अंक पर काँप रहे हैं।[4]

---

1. महादेवी वर्मा – पथ के साथी – (निराला) – पृ0 50
2. महादेवी वर्मा – पथ के साथी – (निराला) – पृ0 52
3. उमाशंकर सिंहं – महाकवि निराला का निरालापन – पृ0 76
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 180

निराला जी के जीवन में घोर आर्थिक जटिलताएं उत्तरोत्तर भीषण रूप धारण करती जा रही थी, फलतः वे जीवन में एक बेचैनी, वितृष्णा और अभाव का अनुभव भी करते थे। यही कारण था कि कहीं स्थिर न होकर निजी आवास छोड़कर परिव्राजक का जीवन व्यतीत करते रहे। कभी महिषादल तो कभी लखनऊ तो कभी प्रयाग। काव्य साधना निरन्तर चलती रही। अस्थिर चित्त के कारण उनके काव्य में यह स्पष्ट दृष्टिगोचर है "एक ओर विषाद" निराशा के स्वर है, रहस्य और भक्ति का प्रश्रय है, तो दूसरी ओर समाज के विद्रूप और विकलांगता पर करारा व्यंग प्रहार भी कम नहीं। निराला के व्यक्तित्व का निर्माण संघर्षों से हुआ था। निराला का जीवन संघर्षों की राह का पथिक है। जो संघर्ष में ही अपना पाथेय स्वयं ढूढता है, और विकास पथ पर चलता ही जाता है। "कुकुरमुत्ता" नामक कविता में निराला का व्यक्तित्व कुकुरमुत्ता के प्रतीक रूप में समाहित देखा जा सकता है। निराला ने अपने वैयक्तिक अनुभूति को ही कुकुरमुत्ता के शब्दों में व्यक्त किया है। उनका कहना है कि कुकुरमुत्ता बिना किसी आश्रय के ही बढ़ता है, न उसे खाद की आवश्यकता है, न ही पानी और सरंक्षण की। दूसरी ओर गुलाब है, जो सुविधा भोगी व्यक्ति का प्रतीक है, जो बराबर खाद-पानी, सेवा की मांग करता है। निःसन्देह निराला जी का जीवन गुलाब की तुलना में कुकुरमुत्ते का जीवन है जो बिना किसी की परवाह किये अपने लक्ष्य की ओर एक विचित्र मस्ती के साथ आगे बढ़े थे।

निष्कर्षतः निराला नाम आते ही आंखों के सामने पौरूष, विद्रोह और अपराजेयता की साकार मूर्ति प्रतिभासित हो उठती है। और कानों में स्वर गूंज उठता है, "तुम हो महान" तुम सदा हो महान है नश्वर यह दीन भाव कायरता, कामपरता, ब्रह्म हो तुम पद रज भर भी है नहीं, पूरा यह विश्व भार?" सामान्यतः हम निराला को अप्रतिहत यौवननद के रूप में ही स्मरण करते हैं जो किसी बाधा विरोध या अवरोध को नहीं मानता अपनी उच्छल तरंगों से उन्हें पार करता हुआ अपने गन्तव्य की ओर बढ़ता जाता है। निरंतर अभाव अभियोग, वियोग, अन्याय, अत्याचार से जूझते रहने कारण उस सिहं गर्जना में वेदना का करूण स्वर भी उभरता चला गया है।[1]

---

1. ओंकार शरद (सं0) – निराला स्मृति ग्रंथ – पृ0 284

निराला जी पर स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी सारदानन्द जी का प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव के कारण एक ओर वह वज्रादपि कठोर थे, तो दूसरी ओर कुसुमादपि मृदु। उनका व्यक्तित्व पौरूष तथा करूणा के सम्मिलित योग का निर्माण है।

इस प्रकार विभिन्न पारिवारिक साहित्यिक और सामाजिक परिस्थितियां के प्रभाव से निर्मित निराला का व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में अप्रतिम और अद्वितीय है। उनके इसी व्यक्ति का उन्मेष उनके काव्य में हुआ।

काव्य विकासः-

चेतना के विकास का क्रम भी अपनी सीमाएं रखती हैं। जीवन की रेखायें और युग की परिस्थितियां भी अवश्य कवि को प्रभावित करती हैं। परन्तु किसी भी कवि की चेतना का निर्माण या विकास जितनी बाध्य परिस्थितियां करती है उससे कहीं अधिक आतंरिक परिस्थितियां। यही कारण है कि बाह्य परिस्थितियों की समानता होते हुए भी मानव चेतना में उसकी प्रतिक्रियाएं भिन्न-भिन्न देखी जाती हैं।[1]

निराला सर्वतोमुखी प्रतिभा के कलाकार हैं। क्या कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध रेखाचित्र आलोचना आदि विभिन्न क्षेत्रों में उनकी पैठ थी, किन्तु इनका यश पुष्प कविता-कानन में खिला। आधुनिक हिन्दी साहित्य में निराला जी विद्रोह, क्रांति और परिवर्तन के कवि माने जाते हैं। विरोध, संघर्ष को स्वीकार अपनी काव्य-धारा को नवीन मार्ग से प्रवाहित करने की जैसी सामर्थ्य निराला में है वैसी हिन्दी के किसी अन्य कवि में नहीं है।[2] निराला जहां एक ओर इस वातावरण की देन थे, वहीं उसके प्रति विद्रोही भी थे। उनका युग सांस्कृतिक जागरण और राष्ट्रीय आन्दोलन का युग था। इसलिए उनके काव्य में एक ओर बंगाल के नवीन जागरण और स्वामी विवेकानन्द के दर्शन का प्रभाव देखने को मिलता है, तो वही

---

1. ओंकार शरद - निराला स्मृति ग्रंथ - पृ0 227
2. ओंकार शरद - निराला - स्मृति ग्रंथ - पृ0 45

दूसरी ओर राजनीतिक श्रृंखला और सामाजिक पुरातन रूढ़ियों को चुनौती देते दिखाई देते हैं। "भिक्षुक", "दीन" "वह तोड़ती पत्थर" "विधवा" आदि रचनाएं इसी चुनौती को व्यक्त करती हैं। वही वह अपने साहित्य में उस अव्यक्त शक्ति को भी स्थापित करने की वांछा रखते है, जो कण-कण में व्याप्त जनमंगल करती है। निराला का कथन है कि "हम साहित्य में अपनी बहुत दिनों की भूली हुई उस शक्ति को आमंत्रित करना चाहते हैं, जो अव्यक्त रूप से सबमें व्यक्त अपनी ही आंखों से विश्व को देखती हुई अपनी ही भीतर से उसे डाले हुए है। पानी की तरह सहस्त्र ज्ञान धाराओं में बहती हुई, स्वतंत्र किरणों की तरह सब पर पड़ती हुई मधुर, उज्जवल, अम्लान, मृत्यु की तरह नवीन जन्मदात्री सर्व शाखाओं की तरह अगणित प्रसार से फैली हुई, प्रत्येक मूर्ति में चिर कमनीय है।[1] महत्व निर्धारण की दृष्टि से साहित्य की विविध विधाओं के साथ निराला की प्रतिभा का सम्बन्ध स्थापित किया गया। नवीनता, क्रान्ति, उन्मुक्तता के गायक निराला भी परम्परा और संस्कार के कवि हैं।[2] जिन्होंने अपने जीवन का कण-कण मां भारती के पद्पद्मों में निष्काम भाव से समर्पित कर दिया।[3] छायावादी कवि निराला ने प्राकृतिक और मानवीय श्रृंगार के अतिरिक्त अपनी रचना के प्रथम प्रयास से ही विनय और प्रार्थना के गीत लिखते रहे।

डोलती नाव, प्रखर है धार
सँभालो जीवन-खेवन हार।
तिर तिर फिर फिर
प्रबल तरंगों में
घिरती है,
डोले पग जल पर
डग मग डग मग

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी – प्रबंध पद्म – पृ0 20
2. ओंकार शरद – निराला स्मृति ग्रंथ – पृ0 121
3. ओंकार शरद – निराला स्मृति ग्रंथ – पृ0 194

फिरती है,

टूट गई पतवार

जीवन खेवन-हार।[1]

इन तमाम विषयों पर एक साथ दृष्टि डालने वाला कवि निःसन्देह अप्रतिम कवि होगा। उनकी कविता का जो स्वरूप हमारे समक्ष उपलब्ध है उसमें विकास की अनेक .पद्धतियां एवं सम्भावनाएं दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे डा0 बच्चन सिहं ने (कवि की रचनाओं में परिवर्तन बिन्दुओं को लक्ष्यकर चेतना-विकास का विभाजन प्रस्तुत किया है।[2] लेकिन ये निर्धारण निराला के वास्तविक काव्य विकास का निर्धारण सही मायने में नहीं कर पाता, क्योंकि निराला की समस्त रचनाओं एवं उनके प्रकाशित संग्रहों के अवलोकन से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि निराला एक ही समय में विभिन्न रचना स्तरों को एक साथ वहन करते चले हैं। दूधनाथ सिंह ने लिखा है कि – संसार की किसी भी भाषा में ऐसे कवि बहुत कम होंगें, जो रचना स्तरों के अनके रूपों को एक साथ वहन कर सकें और लगातार अनेक मुखी अर्थों वाली कविताएं रचने में समर्थ हो। इसका प्रमुख कारण यही था कि निराला ने जीवन को एक ही साथ अनेक स्तरों पर जिया।[3] उनके हृदय में पड़ी दुख की छाया उन्हें बार-बार उस बिन्दु पर ले जाती रही जहॉं पहुँचकर "दुखी भाई" दिखाई देता है।

मैंने "मैं" – शैली अपनाई

देखा दुखी एक निज भाई

दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे

झट उमड़ वेदना आई।[4]

निराला जी का सर्व-साधारण के प्रति कभी भी रिक्त न होने वाला यह प्रेम प्रगतिवाद के प्रभाव का प्रतिफलन नहीं है। क्योंकि तत्कालीन साहित्य में उस अवधि में प्रगतिवाद का

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 30
2. डा0 बच्चन सिहं – क्रान्तिकारी कवि निराला – पृ0 5
3. दूधनाथ सिहं – निराला आत्महत्ता आस्था -- पृ0 17
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी – परिमल – पृ0 124 (अधिवास)

कहीं नामों निशान भी नहीं था। ये तो कवि के सम्वेदना का प्रवाह है, जो सर्व साधारण के तिरस्कार को सम्मान दिलाने के सोपान तक बहा ले जाने का उपक्रम है। यही उपक्रम आगे चलकर और गाढ़ा होता जाता है। 'परिमल'' संग्रह के ''अधिवास'' कविता के अतिरिक्त यह स्वर 'विधवा', 'भिक्षुक', 'दीन', ''अनामिका'' संग्रह की ''तोड़ती–पत्थर' 'कुकुरमुत्ता', ''नये पत्ते'' संग्रह की 'खजोहरा', 'रानी और कानी', 'मंहगू मंहगा रहा' और ''आराधना'' के 'मानव जहां बैल घोड़ा है' शीर्षक कविता में सुनाई देता है।

निराला का काव्य संग्रह विषयवस्तु, भाव सम्वेदना और भाषिक संरचना की एकरूपता से दूर है, जब कि प्रसाद जी के काव्य में भाव सम्वेदना, शिल्प और भाषिक संरचना सभी धरातलों पर रचना प्रक्रिया का विकास एक समान एकरूपता के साथ हुआ है। इस दृष्टि से देखाजाय तो पंत जी की कविता में कई शुरूआतें हैं और अन्त भी कई। प्रसाद जी की भांति शुरूआत और अंत एक ही नहीं है, न ही निराला जी के अनुरूप रचना प्रक्रिया में अनेक उद्वेलन ही दिखाई देता है। पंत जी जिस समय एक भाव सम्वेदना लेकर चले उसे पूर्णता प्रदान की। 'वीणा,' 'पल्लव' और 'गुंजन' जो पंत की प्रारम्भिक रचना सन् 1918 से 32 में लिखी गयी पूर्णरूपेण सौन्दर्य चेतना से अनुप्राणित है। तो 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' भू चेतना समन्वित। 'गुंजन' से पंत ग्राम्या की भूमि पर उतर आते है और पुनः वापस गुंजन की भूमि पर नहीं लौटते। इसी प्रकार अपनी उत्तवर्ती रचनाओं 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्णधूलि' की अरविन्दवादी भावभूमि पर जब पहुँचते है तो सिर्फ अध्यात्मिक चेतना ही दिखायी देती है, वहाँ ग्राम्या का भाव तिरोहित जाता है। लेकिन विवेच्य कवि, पंत की भांति अलग–अलग शुरूआत नहीं करता बल्कि एक साथ अनेक शुरूआत दिखाई देती है। उनके जीवन में परिवर्तित भाव के अनुरूप जहाँ है वही रूक जाती हैं।

निराला जी की काव्यात्मक उपलब्धि भी यही है इनकी शुरूआतों का कहीं अंत नहीं।

निराला जी मुख्य रूप से मुक्तक के ही प्रणेता रहे, सिर्फ दो खण्ड काव्यों की रचना की। निराला जी के कवि जीवन का प्रस्फुटन सन् 1916 से माना जा सकता है,

क्योंकि इनकी पहली रचना "जुही की कली" द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक एवं आदर्शवादी दृष्टिकोण के प्रतिरोध में लिखी गयी। आलोचकों की ऐसी मान्यता है। साहित्य भूमि में इस रचना के अंकुरण के उपरान्त उनकी काव्य धारा निरन्तर अनामिका से शुरू होकर "सान्ध्य का कली" तक अप्रतिहत गति से प्रवाहित हुई।

अध्ययन की सुविधा के लिए इनकी काव्य संपदा में उपलब्ध तेरह संग्रहों को दो कालों विभक्त करना आवश्यक है।

1. सन् 1916 से 1940 तक की रचनाएं।
2. सन् 1940 से 1960 तक की रचनाएं।

जिन्हें क्रमशः हम पूर्ववर्ती और परवर्ती काव्य कृतियों की संज्ञा भी दे सकते हैं।

पूर्ववर्ती कृतियाँ परिमल (सन् 1930) गीतिका (1936) अनामिका (1938) और तुलसीदास (1938) हैं। इन कृतियों में प्रकृति, समाज, दर्शन, संस्कृति, देश-प्रेम श्रृंगार आदि अनेक विषयों से सम्बद्ध रचनाएं संकलित है। इस काल की रचनाओं में भाव और शैली दोनों दृष्टियों का उत्कर्ष दिखाई देता है। इसी काल में महाकवि ने "तुलसीदास" और "राम की शक्ति पूजा" जैसी सशक्त एवं सफल प्रबन्ध-काव्यों की रचना की। निराला जी का काव्य विकास "परिमल" "गीतिका" तक एक विशेष दिशा का निर्देशक है। उनकी "राम की शक्ति पूजा" और "तुलसीदास" आदि वृहत्तर काव्य रचनाएं एक दूसरे उत्थान की प्रतिनिधि है। निराला जी की ये प्रारम्भिक कृतियाँ विवेकानन्द के दर्शन से प्रभावित है। इन संग्रहों में विद्रोह का स्वर एक तरफ उभरता है, तो दूसरी तरफ सामाजिक चेतना। अवसाद भी मुखरित है। "पारस" नामक कविता में कवि सर्वव्यापी प्रभु का स्तवन करते हुए अपने जीवन की समस्त विजय-पराजय, आशा, सुख और समस्त भय प्रभु में ही तन्मय कर देने की आकांक्षा करता है।

जीवन की विजय, सब पराजय
चिर अतीत आशा, सुख, सब भय,
सब में तुम, तुममें सब तन्मय,

कर–स्पर्श रहित और क्या है? अपलक असार।

मेरे जीवन पर, प्रिय यौवन–वन के बहार।[1]

"परिमल" कृति से ही निराला कवि रूप में प्रतिष्ठत हुए। इस कृति में कवि की चेतना का वह सामान्य रूप है जो साधारण रूप से अनुभूति के सभी विषयों का संस्पर्श करती है। जिसमें कवि चेतना सहज रूप में अभिव्यक्त हुई, जो जिज्ञासा, आस्था, करूणा, विद्रोह और सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित है। इस संग्रह की "तुम और मैं" और "कण" कविता में कवि ने ब्रह्म और जगत के संबंध में अपनी जिज्ञासा की अभिव्यक्ति की है। ब्रह्म इस संसार में ही व्याप्त है। या ये संसार ही प्रभु में व्याप्त है, दोनों एक हैं या इनमें भेद है।

तुम होअखिलविश्व में
या यह अखिल विश्व है तुममें,
अथवा अखिल विश्व तुम एक।[2]

कवि इस गुत्थी को शीघ्र की सुलझा लेना चाहता है, ब्रह्म की तथा इस जगत की वास्तविकता को जान लेना चाहता है क्योंकि –

क्षीण हुए अन्तर में है आभास,
प्रिय दर्शन की प्यास,
ताक रहे आकाश।[3]

वस्तुतः "परिमल" में कवि के काव्य सुमन का पूर्व विकास है।[4] इसी प्रकार "गीतिका" में भी विवेच्य कवि अपने विविध झंकारों से हृदय वीणा का प्रेम सौन्दर्य, प्रकृति के तारों पर

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 70
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 171
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल (कण) – पृ0 172
4. ओंकार शरद – निराला स्मृति ग्रंथ – पृ0 229

अलापे गये गीतों में स्वरों का समारोह प्रस्तुत किया है। जिसमें विनय का राग तो है ही, दर्शन, उन्मुक्त प्रेम और श्रृंगार के साथ ही मानवतावादी चेतना का भी प्रसार स्पष्ट है। "गीतिका" के प्रथम गीत में ही प्रार्थना करते हुए कवि वीणावादिनी से देश के मंगल की प्रार्थना करता है –

वर दे, वीणावादिनी वर दे ।
प्रिय स्वतंत्र – रव अमृत–मंत्र नव
भारत में भर दे ।
काट अन्ध–उर के बन्धन–स्तर
बहा जननि, ज्योर्तिमय निर्भर,
कलुष–भेद–तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे ।
नवगति, नवलय, ताल–छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद–मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहग–वृन्द को
नव पर, नव स्वर दे ।[1]

इसी प्रकार "जागो जीवन धनिके"[2] में कवि मां भारती से देश को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने की प्रार्थना करता है। "भारति जय विजय करे" में भारत देश के गौरव का वर्णन करता है तो "बन्दूं पद सुन्दर तव" में जन्मभूमि का।अपनी जन्मभूमि के कल्याणार्थ उसे अपना सर्वस्व त्यागना पड़े तो भी वह इसमें गौरव का अनुभव ही करता है। कवि प्रार्थना करते हुए कहता है कि हे मां जीर्ण–शीर्ण हुए मान्यताओं एवं परम्पराओं को नष्ट कर दो और नवीनता के प्रकाश से प्रकाशित करो –

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 1
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 15

जला दे जीर्ण-शीर्ण प्राचीन,
क्या करूँगा तन जीवन-हीन ?
मां, तू भारत की पृथ्वी पर
उतर रूप मय माया तन धर,
देवव्रत नरवर पैदा कर
फैला शक्ति नवीन ।[1]

निराला पर विवेकानन्द का प्रभाव पड़ा। विवेकानन्द के नवविश्व मानववाद से निराला जी प्रभावित रहे "बुझ तृष्णाशा-विषनल झरे" में इसी मानवतावाद की चर्चा प्रस्तुत करते हुए कहते है मनुष्यों की तृष्णाशा, विषानल शांत हो जाय, सभी मानव एक दूसरे से परस्पर स्नेह बंधन में बंध जाय और धरा शोषण जन्य दुख से दूर हो जाय।

बुझे तृष्णाशा-विषानल झरे भाषा अमृत-निर्झर,
उमड़ प्राणों से गहनतर छा गगन ले अवनि के स्वर।
× × × ×
मिटे कर्षण से धरा के पतन जो होता भयंकर,
उमड़ प्राणों से निरन्तर छा गगन लें अवनि के स्वर।
बढ़े वह परिचय बिंधा जो क्षुद्र भावों से हमारा,
क्षिति-सलिल से उठ अनिल बन देख लें हम गगन कारा,
दूर हो तम-भेद यह जो वेद बनकर वर्ण-संकर,
पार प्राणों के करें उठ गगन का भी अवनि के स्वर।[2]

"अनामिका" संग्रह में "परिमल" और "गीतिका" के स्वर एवं शिल्प का ही प्रौढ़ रूप दिखाई देता है।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 37
2. सूर्यकानत त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 94

निराला के परवर्ती काव्य संग्रहों में – कुकुमुत्ता (1942) अणिमा (1942), बेला (1946), नये पत्ते (1946), अर्चना (1950), आराधना (1953), गीत गुंज (1954) एवं सान्ध्य काकली (1969) हैं। इन काव्य–कृतियों मे निराला जी का परिवर्तित दृष्टिकोण स्पष्ट परिलक्षित है। इस भाव भूमि पर पहुँच कर कवि का दृष्टिकोण व्यंगात्मक एवं उपहासात्मक हो गया जिसमें कुकुरमुत्ता विशेष प्रसिद्ध है। कुकुरमुत्ता के बाद "आणिमा" में कवि पुनः रहस्यवादी हो जाता है। बेला में कवि ने गजलें लिखीं ऐसा कवि ने हिन्दी के विषय में उर्दू की शिकायत को दूर करने के लिए किया, लेकिन "बेला के कई गीत" "गीतिका" परम्परा के भी हैं जिसमें कवि की रहस्यानुभूते प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर हो गयी है। जहाँ कुकुरमुत्ता में एक अनगढ़पन है वहाँ बेला में सहज नैसर्गिक प्रांजलता के दर्शन होते हैं। "नये पत्ते" में कवि ने जीवन की यथार्थ–भूमियों का आकलन प्रस्तुत किया है, साथ ही नये प्रतीकों एवं प्रतिमानों की स्थापना भी देखने को मिलती है। "खजोहरा" और "रानी और कानी", मंहगू मंहगा रहा।" आदि यथार्थवादी रचनाएं हैं। जिसे हम निराला के हृदय में पड़ी साधारण जन के दुख की छाया का सहज विकास कह सकते हैं। आगे की तीनों रचनाओं "अर्चना" "आराधना" और "गीतगुंज" में कवि क्रमशः आत्मगत होता दिखाई देता है। यहाँ निराला का स्वर हिन्दी की भक्ति–युगीन भाव–धारा की निकटता ही नहीं समता भी करता है। इन गीतों में भक्ति के वैसे ही आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी भावों की अभिव्यंजना हुई है, लेकिन इस भक्ति को किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता।[1] इन संग्रहों का मूल स्वर भक्ति है। इस भाव भूमि पर पहुँच कर निराला स्वयं कहते हैं कि "अर्चना का अंतरंग विषय यौवन से अतिक्रांत कवि के परलोक से संबद्ध है, इसलिए यहां सम्मति का फल निष्काम ही होगा।" इतना ही नहीं वह आगे यह भी कहते है कि अर्चना के विषय में प्राचीन परम्परा से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि –

भाव कुभाव अनख आलस हूँ
राम जपत मंगल दिशि दसहू।[2]

---

1. धनज्जय वर्मा – निराला काव्य पुनमूल्यांकन – पृ0 136
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना स्वयोक्ति

निराला जी की इस स्वयोक्ति के आलोक में यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, कि निराला जी श्रृंगारिक और सौन्दर्य काव्य की भूमिका को त्यागकर विनय और आत्म साधनात्मक काव्य प्रणयन में प्रवृत्त हुए और अप्रत्याशित ही विनय और भक्ति की आर्त्तवाणी में गा उठे। भारतीय परम्परा में ईश्वर-स्तुति और भक्ति एकआवश्यक परिणति रही है। प्रत्येक बड़े साधक ने भक्ति को जीवन की मुक्ति का चरण लक्ष्य माना है। कोई इसे जीवन के अभावों की प्रतिक्रिया रूप क्षतिपूर्ति कहे अथवा किसी जाति या व्यक्ति की अमार्क्सीय दृष्टि या सामाजिक एवं वैज्ञानिक दर्शन का अभाव पर यह भारतीय जीवन प्रणाली का आवश्यक मोड़ है।[1] निराला की यह परिणति स्वाभाविक और भारतीय जीवन के अनुकूल है। इसे किसी वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव या नैराश्य अथवा पराजय का परिणाम नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उनके पूर्ववर्ती काव्यों में भी इस प्रकार के गीतों की संख्या कम नहीं है। "निराला में यह (भक्ति की कलस्वता) प्रारम्भ से ही है। परिमल, गीतिका, बेला में कितने ही गीत इस कोटि के हैं। "अर्चना" में यह स्वर वयस के प्रभाव के कारण कदाचित अधिक भाव-विगलित हो गया।[2] यहाँ कवि का अहं पूर्णतया नष्ट हो जाता है और अपने को पतित और भिखारी कहने में कोई संकोच का अनुभव नहीं करता -

भज भिखारी, विश्व भरणा
सदा अशरण-शरण शरणा।[3]
× × ×
पतित हुआ हूँ भव से तार
दुस्तर दव से कर उद्धार।[4]

वस्तुतः "अर्चना" को आज के तुलसीदास की "विनय गीतिका" कहा जा सकता है। कवि का यही दैन्य भाव उसे भक्तों की पंक्ति में अग्रणी करने में सहाय्य है।

"आराधना" में पहुँचते-पहुँचते कवि की यह वैयाक्तिक भक्ति भावना और अधिक प्रगाढ़ हो गई और भक्ति परक उनके गीतों में शांत और करूण रस का गहरा पुट मिलने

1. नरेश मेहता-ओलोचना-2 पृ0 - 86
2. आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री - नई धारा - जून - 1951
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - अर्चना - गीत - 3 पृ0 - 19
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - अर्चना - गीत - 95 - पृ0 - 111

लगता है। उनकी प्रार्थनाऐं अब शीर्फ अपने लिए न होकर सारे "जाति जीवन की निरामयता" की आकांक्षा रखती हैं। सारे संसार को ज्योतिर्मय देखना चाहता है। इन गीतों में निराला जी की मानवतावादी भूमिका भी स्थान–स्थान पर उभरी है।

रंग–रंग से यह गागर भर दो,
निष्प्राणों को रस मय कर दो।
मां, मानस के सित शत दल को
रेणु–गंध के पंख खिला दो
जग को मंगल मंगल के पग
पार लगा दो प्राण मिला दो।[1]

"प्रति जन को करो सफल।[2] की वांक्षा से कवि अपने आराध्य से विश्व मंगल की कामना करता है और, प्रगति में अवरोध उत्पन्न करने वाले मनोविकारों काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार से भी मानव के मन को मुक्त करने की प्रार्थना करता है –

मानव का मन शांत करो हे
काम, क्रोध, मद, लोभ, दम्भ से
जीवन को एकान्त करो हे।[3]

और "नर को नरक त्रास से वारने"[4] की प्रार्थनात्मक भाव को ग्रहण करने में मानवतावादी भावना को बल प्रदान करता है।

अपने जीवन के पूर्ण विराम की अवस्था में पहुँच कर कवि "तुम्हीं जीवन में पूर्ण विराम" के सत्य तत्व को सहर्ष स्वीकार करता दिखाई देता है। "सांध्य काकली" का वृद्ध कवि उस परम शक्ति को ही अपनी निजी जीवन और विश्व जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। वस्तुतः वह परम शक्ति ही कवि के जीवन और रचना का पूर्ण विराम है –

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – गीत –8
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – बेला – पृ0 – 81
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 – 64
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 – 128

तुम्हारे काम, तुम्हारे नाम
तुम्हारे लिए सही संग्राम
तुम्हीं जीवन की घाटी पर
विजय की तरणी खेते हो,
तुम्हीं अपनी पाटी भर कर
लिखाते हो, लिख लेते हो,
तुम्हीं जीवन में पूर्ण विराम।[1]

इस पूर्ण विराम की स्थिति में पहुँच कर कवि की बस अब एक ही आकांक्षा शेष रह जाती है। जागतिक समस्त संघर्ष, जय-विजय की वांक्षा नष्ट हो जाती है। और कह उठता है कि -

तुम्हारे भाव में सोये
तुम्हारे भाव में जागे।[2]

अपने जीवन के अन्तिम चरण में निराला इस वरदान को प्राप्त कर लेते है, तभी तो वह कहते है -

जिधर देखिये, श्याम विराजे।[3]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि महाकवि निराला परम्परा और संस्कार के कवि तो है ही उन्होंने अपने जीवन का पल-पल प्रभु के पद्पद्मों में निष्काम भाव से समर्पित कर दिया।

काव्य-सम्पदा की दृष्टि से निराला जी की कृतियाँ समर्थ एवं महत्वपूर्ण हैं। उनकी कुल 13 (तेरह) रचनाऐं प्रकाशित हुई जिसे काल क्रमानुसार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है ।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - सान्ध्य काकली - पृ0 - 57
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - सान्ध्य काकली - पृ0 - 57
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - सान्ध्य काकली - पृ0 - 20

1.	अनमिका (प्रथम)	–	सन् 1922	–	7 गीतों का संग्रह
2.	परिमल	–	सन् 1930	–	78 गीतों का संग्रह
3.	गीतिका	–	सन् 1936	–	101 गीतों का संग्रह
4.	अनामिका (द्वितीय)	–	सन् 1938	–	56 गीतों का संग्रह
5.	तुलसीदास	–	सन् 1938	–	100 बंध जिसमें 600 पंक्तियां हैं।
6.	कुकुरमुत्ता	–	सन् 1942	–	दो खण्डों में – कुल–436 पंक्तियां
7.	अणिमा	–	सन् 1942	–	
8.	बेला	–	सन् 1946	–	95 गीत
9.	नये पत्ते	–	सन् 1946	–	28 गीतों का सग्रह
10.	अर्चना	–	सन् 1950	–	
11.	आराधना	–	सन् 1953	–	96 गीतों का सग्रह
12.	गीत–गुंज	–	सन् 1954	–	42 गीतों का संग्रह
13.	सांध्य काकली	–	सन् 1969	–	65 गीतों का संग्रह

निराला जी की प्रारम्भिक रचनाओं में "अनामिका" का नाम आता है, जिसका प्रकाशन सन् 1922 में हुआ। लेकिन इस संग्रह में मात्र 7 गीत थे, जिन्हें बाद में प्रकाशित होने वाले संग्रहों में स्थान दिया गया। अतः स्वतंत्र अस्तित्व में सुरक्षित उनकी पहली काव्य–कृति परिमल ही मानी जायेगी।

परिमल –

यह संग्रह सन् 1930 में प्रकाशित हुआ इसमें कुल 78 गीत हैं इसे निराला के सर्वोत्कृष्ट काव्य संग्रह के रूप में मान्यता मिली है। इसका प्रकाशन उस समय हुआ जबकि हिन्दी के उद्यान में प्रभात काल **ही** की स्वर्ण छटा फैली थी। इसमें तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में सममात्रक सान्त्यानुप्रास कविताऐं हैं, दूसरे खण्ड में विषम मात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताऐं तो तीसरे खण्ड में स्वच्छन्द छन्द।[1]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल (भूमिका) –पृ0 – 10

श्री पद्मसिंह शर्मा ''कमलेश'' के शब्दों में स्वच्छन्द छन्द निराला जी की हिन्दी को मौलिक देन है।[2] इस संग्रह में विषय की दृष्टि से कई विभाग किए जा सकते हैं क्योंकि ''परिमल'' अपने विविध कणों से कवि के काव्य सुमन का पूर्ण परिचय प्रस्तुत करता है। इसमें ''खेवा'', ''निवेदन'', ''शेष '' ''पतनोन्मुख'', ''वृत्ति'', ''प्रार्थना'', ''आध्यात्मफल'', ''कण'', ''हमें जाना है जग के पार'', ''पारस'', ''माया'', ''तुम और मैं'' आदि आध्यात्मिक अनुभूति एवं चिंतन प्रधान कविताएँ है, तो दूसरी ओर ''जागो फिर एक बार'', ''छत्रपति शिवाजी का पत्र'', तथा ''यमुना के प्रति'' आदि रचनाऐं देश-प्रेम और उद्‌बोधन का प्रमाण प्रस्तुत करती है। प्रेम और नारी सौन्दर्य के पुष्प भी इस वाटिका में मनोहारी स्थान रखते हैं। ''प्रिया के प्रति'', उसकी स्मृति ''भ्रमर गीत'', ''जुही की कली'', ''शेफालिका'', ''पंचवटी प्रसंग'', आदि कविताऐं इस कोटि की है। प्रकृति से सम्बन्धित कविताओं का भी एक अच्छा संग्रह यहाँ देखने को मिलता है। आलम्बन रूप में कवि ने प्रकृति के अनेक रूप चित्रित किऐ हैं। ''प्रभाती'', ''यमुना के प्रति'', ''वासंती'', ''तरंगो के प्रति''ज़लद के प्रति'',''प्रथम प्रभात'',''सांध्य सुन्दरी'',शरद पूर्णिमा की विदाई''आदि कविताएं प्रकृति चित्रण के सशक्त उदाहरण हैं। निराला जन्म लेते ही संघर्ष के पाले में चुन लिए गये। संघर्ष व्यक्ति को एक नवीन दृष्टि प्रदान करती है। अज्ञेय ने भी कहा है कि ''वेदना में दृष्टि होती है।'' यह दृष्टि निराला को प्राप्त थी, यही कारण था कि प्रकृति की मनोहारी भुलैया में पड़कर भी सामाजिक विद्रुपता को आसानी से देख सके। उनकी दृष्टि उस विधवा की ओर, भिक्षुक की ओर पड़ी जो –

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी
वह दीप शिखा सी शांत–भाव में लीन,
वह टूटे तरू की छुटी लता सी दीन
दलित भारत की विधवा है।[1]

× × ×

वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 – 126

पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठीभर दाने को–भूख मिटाने को
मुहँ फटी पुरानी झोली का फैलाता।[1]

× × ×

इस प्रकार "परिमल" संग्रह विषय वैविध्य, भाव - सौन्दर्य, और अभिव्यंजना–कौशल से पूर्ण एक सशक्त रचना संग्रह है। जिसमें कवि अपने समूचे रचना संविधान की प्रस्तावना एवं रचना बिन्दुओं को बीज रूप में प्रस्फुटित करता है। निराला की समस्त परवर्ती रचनाऐं इसी संग्रह के पल्लवन एवं पुष्पन का परिणाम हैं। "परिमल" में ही कवि की दार्शनिकता, आध्यात्मिकता राष्ट्रीयता, दलितों एवं पीड़ितों के प्रति सहानुभूति अतीत–स्मृति, प्रेम, सौन्दर्य और प्रकृति के प्रति कवि की जागरूकता आदि का परिचय मिलना आंरम्भ हो जाता है। श्री गंगाधर मिश्र ने "परिमल संग्रह" को निराला की प्रतिभा का आरम्भिक आलोक सौरभ कहकर संबोधित किया है।[2] इस विवरण के उपरान्त मेरा ध्यान अपने विवेचन विन्दु की ओर जाता है कि क्या निराला में भक्ति है या नहीं? और है तो उसका स्वरूप क्या है। इसके उत्तर में मैं निःसंकोच यह कह सकता हूँ कि निराला का साहित्य भक्ति से विरल नहीं बल्कि सघन है जो उत्तरोत्तर सघनतर होती जाती है। इस प्रथम संग्रह "परिमल" में ही अपनी "डोलती नाव" को "प्रखर धार" से निकालने के लिए "खेवन हार" प्रभु से प्रार्थना करता है।[3] क्योंकि उसे इस जग, प्रापंचिक जग में नहीं रहना उसकी कामना तो "हमें जाना है जग के पार"।[4] की है। उसकी ये आशा बनी हुई है इसीलिए तमाम विघ्नों के जाल, अगम विस्तृत पथ पर विकराल संकट पार करने की कठिन साधना करता हैतत्पश्चात कवि को आत्मविश्वास प्राप्त होता है और कह उठता है –

अभी न होगा मेरा अन्त
अभी अभी ही तो आया है

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 113
2. गंगाधर मिश्र – युगाराध्य निराला – पृ0 82
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – (खेवा) – पृ0 30
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 105

मेरे वन में मृदुल बसन्त।[1]

गीतिका :–

निराला की दूसरी समर्थ कृति 'गीतिका' है। जो एक नहीं 101 गीत–पुष्पों का गुलदस्ता है। यह संग्रह सन् 1936 में प्रकाशित हुआ। 'गीतिका' हिन्दी के लिए सुन्दर उपहार है। उसके चित्रों की रेखाएं पुष्ट, वर्णों का विकास भास्वर है। उसका दार्शनिक पक्ष गम्भीर और व्यंजना मूर्तिमती है। 'गीतिका' में केवल पिक की पंचम पुकार ही नहीं, कनेरी कीसी एक ही मीठी तान नहीं, अपितु सब स्वरों का समारोह है।[2] इस संग्रह में कवि का नवीन दृष्टिकोण गीतों के माध्यम से व्यक्त हुआ। "गीतिका" के गीतों की शैलीगत मौलिकता के सन्दर्भ में स्वयं निराला जी का कथन यथेष्ट है, कि "प्राचीन कवियों की शब्दावली संगीत की संगति की रक्षा के लिए किसी तरह जोड़ दी जाती थी, इसीलिए उनके काव्य में एकान्त अभाव रहता था। आज तक इसका दोष प्रदर्शित होता है। मैंने अपनी शब्दावली को काव्य के स्वर से भी मुखर करने की कोशिश की है। ह्रस्व–दीर्घ की घट–बढ़ के कारण पूर्ववर्ती गवैये–शब्दकारों पर जो लांछन लगाता है। उससे भी बचने का प्रयत्न किया है। दो एक स्थलों को छोड़ कर अन्यत्र सभी जगह संगीत के छन्द–शास्त्र की अनुवर्तिता की है। भाव प्राचीन होने पर भी नवीन–ढंग लिए हुए है।-----जो संगीत कोमल मधुर और उच्च भाव तदनुकूल भाषा और प्रकाशन से व्यक्त होता है, उसके साफल्य की मैंने कोशिश की है।[3]

"गीतिका" "परिमल" की ही बहुमुखी प्रवृत्ति का विकसति स्वरूप है। इस संग्रह में भी बिषयों का वैविध्य पूर्ववत बना हुआ है। इस दृष्टि से इसका स्थूल विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है।

1. प्रेम और नारी सौन्दर्य
2. प्रकृति प्रेम
3. देश प्रेम (राष्ट्रीयता)
4. रहस्यात्मकता
5. भक्ति

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल (ध्वनि) पृ0 – 120

''गीतिका'' के कुल 101 गीतों में करीब 20 गीत रहस्यात्मक हैं। गीतिका की ''कौन तम के पार'', जग का देखा एक तार'', ''पास ही रे हीरे की खान'', ''प्यार करती हूँ अलि इसीलिए मुझें भी करते हैं वे प्यार'', तुम्हीं गाती हो अपना गान व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान'', ''कौन तुम शुभ्र किरण वसना'', ''कब से पथ देख रही प्रिय'', ''मौन रही हार'', ''कैसी बजी बीन'', ''हुआ प्रात प्रियतम तुम जाओगे चले'', ''देख दिव्य छवि लोचन हारे। आदि रचनाऐं रहस्यात्मक हैं। इसमें अज्ञात सत्ता के प्रति निराला ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त की है। इसके अतिरिक्त विनय, दर्शन, उन्मुक्त प्रेम व श्रंगार के साथ ही कवि की मानवतावादी चेतना का प्रसार भी है– ''गीतिका'' के प्रथम गीत में ही कवि वीणावादिनी से देश के मंगल की प्रार्थना निवेदित करता है।

वर दे, वीणावादिनी वर दे।
प्रिय स्वतंत्र रव अमृत–मंत्र नव
भारत में भर दे।
× × ×
कलुष–भेद–तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे।[1]

इस प्रकार गीतिका में अनेक स्वरों का समारोह है। इस 101 गीतों की अंजलि में मानव मुक्ति साधना है, रहस्यात्मक संकेत हैं, नारी तथा प्रकृति का रूप चित्रण है, और देश कल्याण के लिए उद्‌बोधन है।[2] इस संग्रह में प्रार्थना परक भक्ति प्रधान कुछ गीत भी संग्रहीत है। जिसमें साधना और वरदान की आकांक्षाऐं सम्मिलित रूप में दिखाई देती हैं। निराला की भक्ति मूल रूप से शक्ति को निवेदित है। सर्वत्र अपनी प्रार्थना उन्होंने मां को ही स्तवित किया है। कहीं मां के चरणों पर ''नर जीवन के स्वार्थ सकल'' एवं ''श्रम संचित फलों की बलि चढ़ाने की कामना करता है तो कहीं मां सरस्वती की वंदना करता है। एक ही आशा में सब प्राण'' में मां की आराधना है, जिसमें ऊँच–नीच को समतोल करने की प्रार्थना की गई है।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 – 1
2. इन्द्रनाथ मदान – आधुनिक कविता का मूल्यांकन – पृ0 – 279

एक ही आशा में सब प्राण

बांध मां, तन्त्री के से गान

तोल तू उच्च–नीच समतांल

एक तरू के–से सुमन अमोल,

सकल लहरों में एक उठान

उठा माँ तन्त्री के–से गान।[1]

अनमिका (द्वितीय) –

"अनामिका" नाम संग्रह तो निराला का पहला प्रकाशित संग्रह था लेकिन, परिमल में इसकी कविताओं को पुनः प्रकाशित किया गया। इसलिए प्रथम प्रकाशित अनामिका का अस्तित्व मान्य नहीं सन् 1 में पुनः अनामिका का प्रकाशन हुआ। जिसका कलेवर 56 गीतों के योग से निर्मित है। इस संग्रह में कुछ कविताऐँ रवीन्द्र नाथ और विवेकानन्द की कविताओं का अनुवाद हैं। शेष मौलिक रचनाऐं हैं।

उनकी मौलिक रचनाओं में "परिमल" की अपेक्षा अनामिका में तुकांत, अतुकांत, मुक्त छंद और गीत सृष्टि का उत्कर्ष कहीं अधिक मिलता है। जिससे उनका उत्तरोत्तर विकास स्पष्ट रेखांकित किया जा सकता है। विषय की दृष्टि से अनामिका की रचनाओं में भी वैविध्य भाव देखने को मिलता है। जो क्रमशः रहस्यात्मक, दर्शनिक, सामाजिक, सांस्कृतिक प्रकृति परक एवं वैयक्तिक लोक नैराश्य और अवसाद को प्रकट करने वाली है।

'अनामिका' के एक छोर पर प्रेयसी जैसी रचना है, तो दूसरे पर "राम की शक्ति पूजा" जैसा शक्ति काव्य इसके बीच एक रूप में निराला "तोड़ती पत्थर" वाली श्रमिका के प्रति संम्वेदना और सहानुभूति प्रकट करते देखे जा सकते हैं तो वही दूसरी ओर "सरोज स्मृति में स्वयं टूटते एवं घोर अवसाद में डूबते दिखाई देते हैं। एक ओर "दान" जैसी व्यंग्य प्रधान रचना हैं तो दूसरी ओर "नर्गिस" जैसी महा-काव्यात्मक कल्पना–प्रधान रचना इन सब से प्रमुख रूप उस स्थल पर दिखाई देता है जहाँ वे एक तरफ पराजय और निराशा में है

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 – 33

वहीं दूसरी ओर उद्दाम आत्मविश्वास का जागरण गीत गाते हैं। यही निराला के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता हैं। ''राम की शक्ति पूजा'' ''अनामिका की सबसे महत्वपूर्ण एवं सशक्त रचना है।

तुलसीदास –

''तुलसीदास'' छायावादी काव्य कला का चरम परिष्कार है। छायावादी काव्य की एक परिणति कामायनी है, दूसरी तुलसीदास। तुलसीदास व्यक्ति अन्तर्मन का मनोवैज्ञानिक भूमि पर विश्लेषण और इतिहास के परिपार्श्व में संस्कृति का अध्ययन है, साथ ही प्रकृति से सूक्ष्म व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक सत्ता का दर्शन।[1] इसका प्रकाशन सन् 1938 में हुआ। विशाल आकार की ये कविता अपने 100 बंन्धों एवं 600 पंक्तियों को लेकर निराला की लम्बी कविताओं में प्रसिद्ध है। समस्त कथा रचना के चार प्रमुख स्तम्भ हैं – भार्या पर तुलसीदास की आसक्ति, भार्या की प्रेरणा, तुलसीदास का विरक्ति भाव तथा भक्ति भावना।[2] ''तुलसीदास'' की कथा यद्यपि अतीत की कथा है, लेकिन कवि निराला ने उसमें सांस्कृतिक नवजागरण की अभिव्यक्ति प्रस्तुत की इस सन्दर्भ में हम उसे सांस्कृतिक काव्य भी कह सकते हैं। इसमें कवि की ऐतिहासिक, सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना बाधित नहीं हुई, बल्कि उसके स्फुरण में सहाय्य ही हुई। कवि निराला का उद्देश्य भी यही है कि वह ''तुलसीदास'' के माध्यम से सांस्कृतिक पुनरूत्थान की युगीन मूल चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करें। एक सीमा तक उन्हें सफलता भी मिली। प्रारम्भ के दस छन्दों में निराला ने भारत के अधःपतन और इसके सांस्कृतिक अंधकार को वाणी दी है।

भारत के नभ का प्रभापूर्ण
शीतलच्छाया सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे–तमस्तूर्य दिड़मंडल
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान

---

1. घनज्जय वर्मा – निराला काव्य पुनर्मूल्यांकन – पृ0 – 162
2. वीणा शर्मा – निराला की काव्य साधना – पृ0 – 23

है उर्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल।[1]

"तुलसीदास" की वस्तुयोजना में पर्याप्त नाटकीयता है। इसके बावजूद भी ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कवि ने अपनी इस ओजस्वी रचना को एक ही भावुक उड़ान में बैठकर समाप्त कर दिया है। इस प्रबन्ध काव्य में भी निराला का जन साधारण के प्रति सहानुभूति और प्रेम, पूर्व और परवर्ती रचनाओं की भांति देखने लायक है। सामान्य जन-समाज (शूद्र गण) की सामाजिक और आर्थिक पराधीनता की दयनीय स्थिति का चित्रण करते हुए "तुलसीदास" में लिखते हैं कि -

चलते-फिरते, पर निःसहाय,

वे दीन, क्षीण कंकाल काय

आशा-केवल जीवनोपाय उर-उर में।

× × × ×

वे शेष-श्वास पशु, मूक-भाष,

पाते प्रहार अब हताश्वास

सोचते कभी, आजन्म ग्रास द्विजगण के।[2]

"निराला" के तुलसीदास में "प्रकृति चित्रण" की वही कुशलता देखने को मिलती है जो उनकी प्रथम कृति अनामिका की "प्रेयसी" कविता में व्यक्त हुई है। यद्यपि यहाँ प्रकृति चित्रण कथात्मक सुत्रों के अनुसार सोद्देश्य है, उन्मुक्त या स्वच्छन्द नहीं तथापि उसमें स्वच्छन्दतावादी युग का स्वच्छन्दाभास तो है ही -

तरू तरू, वीरूध-वीरूध, तृण-तृण

जाने क्या हंसते मसृण-मसृण,

जैसे प्राणों से हुए उऋण, कुछ लखकर,

भर लेने को उर में, अथाह,

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - तुलसीदास - पृ0 - 11
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - तुलसीदास - छन्द - 28,29

बाहों में फैलाया उछाह

गिनते थे दिन, अब सफल–चाह पल रख कर।[1]

इस प्रकृति चित्रण के अतिरिक्त इस प्रबन्ध काव्य में केवल दो छन्द ऐसे हैं जो यथार्थ में प्रकृति वर्णन से सम्बन्धित हैं।

(क) मग में पिक–कुहरित डाल–डाल,

हैं हरित बिटप सब सुमन माल

हिलती लतिकाएं ताल–ताल पर सस्मित,

पड़ता उन पर ज्योति, प्रपात,

हैं चमक रहे सब कनक गात

बहती मधु–धीर समीर ज्ञान, आलिंगित।

(ख) घूसरित बाल–दल, पुण्यरेणु,

लख चारण–वारण–चपल–धेनु,

आ गई याद उस मधुर–वेणु-वादन की,

वह यमुना–तट, वह वृन्दावन,

चपला नन्दित वह सघन गगन

गोपी–जन–यौवन–मोहन–तन वह वन–श्री।[2]

"प्रकृति चित्रण" के अतिरिक्त कवि ने देशभक्ति से सम्बन्धित छन्द भी लिखे हैं। "तुलसी" के रूप में कवि देश और संस्कृति के उद्धार का दृढ़व्रती बनकर महाभिष्क्रिमण करता है।

करना होगा यह तिमिर पार –

देखना सत्य का मिहिर–द्वार–

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – तुलसीदास – छन्द 28,29
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – तुलसीदास – छन्द 74,75

बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय–
लड़ना विरोध से द्वन्द–समर,
रह सत्यमार्ग पर स्थिर–निर्भर –
जाना–भिन्न भी देह, निज घर निःसंशय।[1]

"प्रत्येक आत्मा ही अत्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तःप्रकृति, दोनों का नियमन कर इस अन्तर्निहित ब्रह्म स्वरूप को अभिव्यक्त करना ही जीवन का ध्येय है। विवेकानन्द के इस विचार से प्रभावित कवि ब्रह्म के असीम सौन्दर्यानुभव की ओर बाह्य–सौन्दर्य के ही माध्यम से पहुँचना चाहता है। 'इस आशय से (रहस्यात्मक दृष्टि) रूपवती रत्नावली ही तुलसी के लिए उस सौन्दर्य की प्रतीक होकर उस महत् मार्ग की सूत्रधार या माध्यम बनती है।

जिस शुचि प्रकाश का सौर जगत्
रूचि–रूचि में खुला असत् भी सत्
वह बंधा हुआ है, एक महत् परिचय से,
अविनश्वर वही ज्ञान–भीतर
बाहर भ्रम, भ्रमरों को, भस्वर
वह रत्नावली–सूत्रधार पर आशय से

इस पंक्ति में कवि निराला का "रहस्यवादी" स्वरूप दिखाई देता है। कवि प्रकृति का मानवीकरण ही नहीं करता वरन् उसमें मातृ शक्ति की महत्ता का अंकन भी करता है। परम–पुरूष की पत्नी मातृ शक्ति संपन्ना प्रकृति का स्तवन करते हुए कवि कहता है।

यह श्री पावन, गृहणी उदार,
गिरवर उरोज, सरि–पयोधर

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – तुलसीदास – छन्द – 74,75

कर–वन-तरू, फैला फल निहारती देती,

सब जीवों पर है एक दृष्टि,

तृण–तृण पर उसकी सुधा वृष्टि,

प्रेयसी, बदलती वसन सृष्टिनव लेती।

× × ×

ये जिस कर के रे झंकृत स्वर

गूँजते हुए इतने सुखकर,

खुलते, खोलते प्राण के स्तर भर जाते,

व्याकुल आलिंगन को, दुस्तर

रागिनी की लहर, गिरि–वन–सर

तरती जो ध्वनित, भाव सुन्दर कहलाते।[1]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि तुलसीदास में निराला का चिन्तन पक्ष हृदय और मस्तिष्क के दृढ़ समन्वय और प्रकृति से एकान्वयन का परिणाम है। वहाँ चिन्तन शुद्ध बौद्धिक अथवा उपदेश के रूप में नहीं आता। भावना और कल्पना के काव्यात्मक परिवेश से ही चिन्तन की आभा विकीर्ण होती है।[2] निराला की यह रचना समग्र रूप में सांकेतिक है, जहाँ भारतीय संस्कृतिक के पतन, युग की विकृति, समाज की अधोगति, दर्शन की उत्कृष्ट व्यंजना आदि का समावेश किया गया है।[3] भावुक उड़ानों की चरमपरिणति रहस्यवादी भावना के समीप पहुँच गई है, प्रवृत्तिमार्गी एवं निवृत्तिमार्गी दृष्टिकोणों का आत्मकल्याण की भूमि पर विवेचन भी हो गया है। वस्तुतः ऐसे ही स्थल कृति की इतिवृत्तात्मकता से रक्षा करते हुए उसे मनोवैज्ञनिकता प्रदान कर सके हैं।[4]

कुकुरमुत्ता –

"कुकुरमुत्ता" निराला की सघन सामाजिक चेतना, यथार्थ दृष्टि, प्रगतिशील विचार धारा, और व्यंग्य वृत्ति का परिणाम है। यह संग्रह सन् 1942 में प्रकाशित हुआ यह कृति

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – तुलसीदास – छन्द 41, 42
2. धनञ्जय वर्मा – निराला काव्य पुनर्मूल्यांकन – पृ0 167
3. ओंकार शरद – निराला स्मृति ग्रंथ – पृ0 11
3. डा0 रामकुमार सिहं – निराला और उनका तुलसीदास – पृ0 142

दो खण्डों में लिखी गई है दोनों खण्डों को मिलाकर कुल 436 पंक्तियां है।

"कुकुरमुत्ता" काव्य प्रणयन के पीछे निराला जी का अपना जो भी उद्देश्य रहा हो, लेकिन मुझें ऐसा प्रतीत होता है कि निराला जी कुकुरमुत्ता के रूप में पूंजीवाद का विरोध करने स्वयं आगे आते हैं। वस्तुतः इस समय तक पहुँकर निराला सामाजिक और आर्थिक वैषम्य से ऊब गये थे। पूंजीवाद का बोल-बाला बढ़ता जा रहा था। बित्य प्रति श्रमिकों (साधारण जन) का शोषण बढ़ता जा रहा था। श्रमिकों का खून चूस कर पूंजीपति ऐश्वर्य भोग करते हैं जिस प्रकार खाद का रस चूस कर गुलाब खिलता है। निराला जी ने गुलाब को पूंजीपतियों का प्रतीक माना तथा कुकुरमुत्ते को श्रमिकों का प्रतीक। निराला जी स्वयं कुकुरमुत्ते के रूप में गुलाब (पूँजी पतियों) को सम्बोधित कर यही कहते हैं कि

अबे सुन बे गुलाब
भूल मत गर पाई खुशबू रंगो आब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा है कैपीटलिस्ट
माली कर रखा, सहाया जाड़ा घाम
× × × ×
तूने दुनिया को बिगाड़ा
मैंने गिरते को उभाड़ा।[1]

इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि "कुकुरमुत्ता" एक व्यंग्य प्रधान रचना है। इसका व्यंग्य आधुनिकता से कुछ अधिक व्यापक है।[2] आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी का विचार है कि "कुकुरमुत्ता में विनोद की सृष्टि अतिरंजित वर्णनों द्वारा की गयी है। निश्चय ही वहां व्यंग अपने आप में तीव्र हैं; पर ऐसा होना ही व्यंग्य की सफलता है।[3]

"कुकुरमुत्ता" जिस अवधि में लिखा गया, उस अवधि में हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील आन्दोलन अपने चरम बिन्दु पर था। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि निराला

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – कुकुरमुत्ता – पृ0
2. ओंकार शरद – निराला स्मृति ग्रंथ – पृ0 12
3. धनन्जय वर्मा – निराला काव्य पुनर्मूल्यांकन – पृ0 177

के ऊपर इस आन्दोलन का न्यूनाधिक प्रभाव भी नहीं पड़ा। प्रभाव अवश्य पड़ा, क्योंकि निराला के कुकुरमुत्ता की अभिव्यंजना शैली प्रगतिशील शैली है। इस प्रभाव के साथ ही उनकी स्वभावगत सांस्कारिक निष्ठा को भी झुठलाया नहीं जा सकता। क्योंकि निराला के व्यक्तित्व में जनसाधारण के लिए बहुत सहानुभूति सुरक्षित है, जा उनके प्रथम संग्रह परिमल में ही दिखाई देते हैं। "कुकुरमुत्ता" में आकर निराला "सामन्य की प्रतिष्ठा" को स्थापित करने के लिए सारी काव्य प्रणाली, शिल्प संगठन और भाषिक संरचना की नये सिर से "छानबीन करते हैं यह छानबीन और खोज, और नया संगठन लगभग पुराने के सम्पूर्ण अस्वीकार या उसके परित्याग से उपजा है।[1]

"कुकुरमुत्ता" वास्तव में अपने विषय–वस्तु, शिल्प की बुनावट और भाषिक प्रयोग, व्यंग्य और हास्य सभी दृष्टियों से एक विद्रोही, आधुनिक और महत्वपूर्ण कृति है, जो "काव्य अभिजात्य" से मुक्ति का सन्देश देता है।

अणिमा :–

इस संग्रह का प्रकाशन सन् 1943 में हुआ। इस संग्रह की रचना तक पहुँचते–पहुँचते निराला जी की बेहद निराश हो गये थे। व्यथा निरन्तर बढ़ती जा रही थी, कुकुरमुत्ता के प्रणयन में पूंजीवाद का विरोध कर कुछ शांन्ति तो मिली, लेकिन पूर्ण शांन्ति नहीं मिल सकी, कवि अणिमा में बेहद थका हारा अनुभव करने लगा, "परिमल" का "अभी न होगा मेरा अन्त" कहने वाला ही कवि अब इतना निराश हुआ कि कह उठा –

मैं अकेला, देखता हूँ आ रही
मेरे दिवस की सांध्य बेला।[2]

कवि इतना निराश है, कि अब अपने मरण की भी कल्पना करने लगा। अस्तु, अणिमा के अधिकांश गीतों में वैयक्तिक निराशा और अवसाद का चित्रण तथा परम सत्ता के प्रति भाव निवेदन है। छायावाद और प्रगतिवाद के दुराहे पर खड़ा कवि अपने सारे साहित्यिक

---

1. दूधनाथ सिंह – निराला आत्महत्ता आस्था – पृ0 234
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अणिमा

जीवन का लेखा–जोखा लेकर नये मैदान में उतर रहा है। अनेक कविताओं में भाषा–शैली छन्द में पुरानापन है, परन्तु कुछ कविताओं में कवि नये क्षेत्र में आ गया है।[1]

"अणिमा" की आध्यात्मिकता तथा भक्ति परक कविताओं का स्वर "गीतिका" से मिलता है। यह संग्रह भी भक्ति भाव से भरा हुआ है। प्रकृति के उपादानों को प्रतीक बनाकर उनका भक्ति स्वर प्रस्फुटित हुआ। जिसमें उनका आत्मनिवेदन है, और अपनी साधना का आख्यान है।[2]

इस संग्रह के प्रार्थना परक गीतों में "जन–जन के जीवन के सुन्दर" दलित जन पर करो करूणा", "भाव जो छलके पदों पर", "धूलि में तुम मुझें भर दो", "मैं बैठा था पथ पर", "तुम्हीं हो शक्ति", आदि प्रमुख हैं प्रार्थना परक गीतों के अतिरिक्त "मैं अकेला–शांत रस का गीत" आदि रचना में कवि ने आत्मनिवेदन किया है।"अणिमा" में पहुँच कर निराला के भक्ति भाव में परिवर्तन स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगता है। क्योंकि इसी भूमि पर आकर निराला परम्परागत भक्ति के विचार से अलग हो जाते हैं। उनकी प्रार्थना अब 'स्वान्तः सुखाय' की भावना त्याग कर "परहिताय" की ओर उन्मुख हो जाती है।"दलित जन पर करो करूणा" और "धूलि में तुम मुझे भर दो" आदि प्रार्थना समस्त जगत के कल्याण की भावना से की गई है।

"अणिमा" संग्रह का एक हिस्सा, साहित्यिक मनीषियों, राजनीतिक तथा धर्मिक महात्माओं के प्रशस्तियों से अलंकृत है। इस दिशा में संत कवि रविदास, आचार्य शुक्ल जी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, विजयालक्ष्मी पंडित, महादेवी वर्मा, स्वामी प्रेमानन्द महाराज आदि के प्रति श्रद्धास्पद भावों को व्यक्त किया गया है।

इस प्रकार "अणिमा" में तीन प्रकार की रचनाऐं है। एक ओर "मैं अकेला, देखता हूँ" जैसी विषाद–मूलक रचना है, तो दूसरी ओर "दलित जन पर करो करूणा" जैसी भक्ति प्रधान रचना और तीसरी ओर प्रशस्ति मूलक रचनाऐं। इस संग्रह की सभी रचनाऐं सामान्य स्तर की हैं।

---

1. डा0 रामरतन भटनागर – कवि निराला – पृ0 – 223
2. धनञ्जय वर्मा – निराला काव्य पुनर्मूल्यांकन – पृ0 – 192

बेला –

"बेला" निराला जी के नए गीतों का संग्रह है। जिसका प्रकाशन सन् 1946 में हुआ। इसमें 95 गीत संग्रहित है। इस संग्रह में गीतों के अतिरिक्त उर्दू फारसी की बहरों के वजन पर लिखी गई गजल शैली की कविताऐं भी संग्रहित हैं। स्वयं कवि निराला ने इस संग्रह का परिचय देते हुए लिखा है कि "बेला मेरे नये गीतों का संग्रह है। इसमें प्रायः सभी प्रकार के गेय गीत हैं। भाषा सरल और मुहावरेदार है। गद्य करने की आवश्यकता नहीं है। देश भक्ति के गीत भी हैं। इससे बढ़कर नई बात यह है कि अलग-अलग बहरों की गजलें भी हैं, जिसमें फारसी के छन्द शास्त्र का निर्वाह किया गया है।"[1] भाषा मिश्रित है। हिन्दी के साथ उर्दू तथा कहीं कहीं संस्कृत भी आ गई है।

विषय वैविध्य पूर्व संग्रहों की तरह दिखाई देता है। इसमें श्रृंगारिक, प्राकृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, देशप्रेम के साथ आध्यात्मिक भाव भी व्यक्त हुआ है।

"बेला" संग्रह में "रूप की धारा के उस पार" "कैसे गाते हो", "नाथ तुमने गहा हाथ", आये पलक पर" "जग के जय के", "प्रतिजन के", अपने नत वदन", "जीवन प्रदीप चेतन", "मन में आये संचित", "मुसीबत में कटे", आदि भक्ति परक रचनाऐं देखने को मिलती हैं। "बेला" में कुछ गीत ऐसे भी हैं जिसमें संसार की क्षण-भंगुरता और नश्वरता का परिचय मिलता है। निराला ने संसार की स्वार्थपरता भेद-भाव, छल-छद्म, विडम्बना आदि का भी परिचय प्रस्तुत किया। निस्संदेह जीवन के अनुभवों को कवि इस संग्रह में निचोड़ कर रख देना चाहता है।[2] "आरे गंगा के किनारे" कविता में कवि उन ढोंगी, पाखण्डी साधुओं पर व्यंग्य करता है, जो पाखण्ड का जाल फैला कर धर्म के नाम पर अपना स्वार्थ और अर्थ सिद्धि करते हैं। निराला ऐसे रचनाकार है जो समाज से संपृक्त रहकर काव्य-रचना करते हैं। यही कारण है कि उनकी कविताऐं समाज के विविध पहलुओं के चित्रिण से ओतप्रोत हैं। ऐसा संभव इसलिए हो गया कि निराला का हाथ नाथ ने पकड़ लिया।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – बेला – आवेदन
2. पद्मसिंह शर्मा. कमलेश –निराला – पृ0 – 67

नाथ, तुमने गहा हाथ, वीणा बजी,
विश्व यह हो गया साथ, द्विविधा लजी।
खिल गये डाल के फूल, रंग गये मुख
विहग के, धूल मग की हुई विमल सुख,
शरण में मरण का मिट गया महा दुख
मिला आनन्द पथ पाथ, संसृति सजी।[1]

इस संग्रह तक पहुँच कर निराला का समग्र दुख नष्ट हो गया, क्योंकि प्रभु का शरण प्राप्त हो गया। अब भक्ति के आनन्द पथ पर प्रसन्न चित्त निराला का भक्त आगे बढ़ा जिसकी अभिव्यक्ति अर्चना और आराधना में सुनने को मिलती है।

नये पत्ते :–

यह संग्रह सन् 1946 में प्रकाशित हुआ इस संग्रह में सभी प्रकार के आधुनिक पद्य देखने को मिलते हैं। इस संग्रह में "कुकुरमुत्ता" की वे सात कविताएं भी संग्रहित हैं जिन्हें निराला ने "कुकुरमुत्ता" के दूसरे संस्करण में निकाल दिया था। अब इस संग्रह में कुल 28 गीत है। जिसमें व्यंग्य और हास्य की प्रधानता है। इस दृष्टि से "गर्म पकौड़ी" "प्रेमसंगीत", "रानी और कानी", "खजोहरा" आदि रचनाएं महत्वूपूर्ण हैं। "प्रेम संगीत" में मनचले नवयुवकों पर व्यंग्य है, तो "डिप्टी साहब आये", "छलांग मारता चला गया", "कुत्ता भोंकने लगा" आदि कविताओं में जमींदारी प्रथा पर व्यंग्य। "राजे ने अपनी रखवाली की" में सामंतवादी व्यवस्था पर व्यंग्य किया है, तो "मास्को डायलॉग्स" में उन समाजवादी नेताओं पर व्यंग्य किया गया है, जो देश का नेतृत्व भार तो ग्रहण करते हैं, पर पेट अपना भरते है। "चर्खा चला" के माध्यम से कवि प्राचीन काल से अब तक साहित्यिक एवं सामाजिक प्रगति के इतिहास पर व्यंग्यात्मक दृष्टि डालता है। कुल मिलाकर "नये पत्ते" संग्रह को "व्यंग्य संग्रह" कहना अनुचित नहीं होगा। इस संग्रह में निराला का भक्त रूप दिखाई नहीं देता,ऐसा आभास होता है कि इस संग्रह से पूर्व के संग्रह "बेला" में निराला के भक्त को जो "आनन्द पथ"

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – बेला – पृ0 23

की प्राप्ति हुई, उसी पर चलते चले जाने में वह अपना स्वरूप भूल गया। शेष बची रह गई विसंगतियों पर व्यंग्य कर उसे भी दूर करने के उद्देश्य से "नये पत्ते"की रचना की है। बेला की ही भाँति इस संग्रह में भी कुछ प्रशस्तियाँ निराला ने लिखी हैं।जैसे "रामकृष्ण देव के प्रति" इसके अतिरिक्त विवेकानन्द जी की कविताओं का अनुवाद भी निराला ने किया जिसमें "कालीमाता" और चौथी जुलाई" उल्लेखनीय है।

अर्चना–आराधना–गीतगुंज –

अर्चना का प्रकाशन सन् 1950 में हुआ। इस संग्रह तक पहुँच कर गीतों की भूमि सहज हो गई है। वह जन के अधिक निकट है। इसीलिए इसकी भाषा सहज और सरल है। विषय की दृष्टि से इन संग्रहों में भक्ति परक गीतों की बहुलता है। अकेले "अर्चना" में शरणागति के लगभग 34–35 गीत संग्रहित हैं।[1] फिर भी "अर्चना" को सामाजिकता से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। अबतक की अपनी संघर्ष पूर्ण यात्रा में थका–हारा कवि अब अपने आप को पूर्ण रूपेण असमर्थ महसूस करता है। भवसागर को पार करने में वह असमर्थ है। अतः "अर्चना" के माध्यम से कवि विश्व–भरण का आश्रय टटोलता हुआ कहता है –

> पतित को सित हाथ गह कर
> जो चलाती है सुपथ पर
> उन्हीं का तू मनन कर–कर
> पकड़ निश्शर विश्व–तरणा।[2]

परिस्थितियां निराला को बुरी तरह तोड़ देती हैं। उनके पास कुछ भी नहीं बचता सिर्फ दीनता शेष रह जाती है जो सब कुछ है एक भक्त को प्रभुकृपा पाने के लिए और क्या चाहिए। फलस्वरूप निराला का भक्त भक्ति कालीन कवियों की भांति दैन्यवाणी में बोल उठता है– "भज भिखारी" "दो सदा सत्संग मुझको" "हरि का मन से", "पतित हुआ हूँ", "चरण गहते थे", "कठिन यह संसार", "तरणि तार हो" इन पंक्तियों में कवि की दैन्य भक्ति सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत हुई है। इस सन्दर्भ में डा0 धनञ्जय वर्मा की टिप्पणी सही है कि "गीति सृष्टि का दूसरा मोड़ अर्चना आराधना में मिलता है जहाँ निराला का स्वर

---

1. दूधनाथ सिंह – निराला आत्महत्ता आस्था – पृ0 –331
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराल – अर्चना – पृ0 – 3

भक्ति युगीन भाव धारा की निकटता ही नहीं, समता भी करता है। इन गीतों में भक्ति के वैसे ही आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी भावों की अभिव्यंजना हुई है – लेकिन इस भक्ति को किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध न करना होगा।[1] "अर्चना" के गीतों का मूलस्वर भक्ति परक और प्रार्थना परक है। जहाँ "अणिमा" में कवि अपने विषाद को व्यक्त करते हुए "मैं अकेला देखता हूँ आ रही, मेरे दिवस की सांध्य बेला" कहता हैं उसी संघर्ष पूर्ण अवसाद–विषाद के चित्र "अर्चना" में यों देखे जा सकते है –

(क) जैसे मैं बाजार में बिका
कौड़ी मोल, पूर्ण शून्य दिखा

(ख) सागर से उत्तीर्ण तरी हो,
अल्य मूल्य की वृद्धिकरी हो।[2]

अंधेरे से मुक्ति के लिए कवि द्वारा की गई सूर्य की प्रार्थना "परिमल" तक ही सीमित नहीं रहती अर्चना और आराधना में भी अपने उसी स्वरूप में दिखाई देती है। "परिमल" का भक्त कवि अपनी प्रार्थना में ये कहता है कि–

जग को ज्योतिर्मय कर दो।
प्रिय कोमल–पद–गामिनि! मन्द उतर
जीवन्मृत तरू–तृण–गुल्मों की पृथ्वी पर
हँस हँस निज पथ आलोकित कर,
नूतन जीवन भर दो।
जग को ज्योतिर्मय कर दो।[3]

तो "अर्चना" में पहुँचकर सम्पूर्ण जीवन और जगत, प्रकृति को अंधकार से मुक्त करने की प्रार्थना कवि ने की है –

तिमिरदारण मिहिर दरसो।
ज्योति के कर अंधकारा।

---

1. धनञ्जय वर्मा – निराला काव्य और व्यक्तित्व – पृ0 128
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 24
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – प्रार्थना (प्रारम्भ)

– गार जग का सजग परसो।

खो गया जीवन हमारा,

अन्धता से गत सहारा,

गात के सम्पात पर उत्थान

देकर प्राण बरसो।

क्षिप्रतर हो गति हमारी,

खिले प्रति–कलि–कुसुम क्यारी,

सहज सौरभ से समीरण पर

सहस्त्रों किरण हरसो।[1]

इसी को कवि कभी "खग को ज्योतिःपुंज प्रात" कहता है, कभी अपने लिए "कविता के प्रपात" के रूप में तो कभी "अविरत मारण–मरण हाथ" के रूप में मांगता है। इस प्रकार की प्रार्थनाओं में शरणागति का भाव अभी नहीं झलकता है। इसलिए उसकी प्रार्थनाएं अभी एक तरह से अरूप–अमूर्त हैं। सूर्य भी यहाँ परम्परागत सूर्य–देवता के रूप में नहीं आया है, बल्कि वह अमूर्त प्रकाश–देवता का प्रतीक ही अधिक है।[2]

सच तो यह है कि निराला के भक्तिगीत बहुत माने में तुलसी के भक्तायातमक उद्गारो से प्रेरित हैं। संभवतः यही कारण है कि डा0 वचनदेव कुमार ने कहा कि – तुलसी और निराला प्रवृत्या एवं मूलतः भक्त हैं।––– दोनों के अधिकांश गीतों में भक्ति की मंदाकिनी प्रवाहित दीखती है।[3] इतना ही नहीं डा0 सुषमापाल ने कहा कि "निराला ने शुद्ध भक्ति भावना का परिचय दिया।[4] ये भक्ति भावना उनके पूर्ववर्ती काव्य में क्षीणकाय रूप में दिखाई देती है जो परवर्ती काव्यों में आकर पुष्ट रूप धारण करती है। जो "हारे को हरिनाम" वाली मनः स्थिति का बोध नहीं कराती।[5] क्योंकि हारे और निराश व्यक्ति की दृष्टि पुनः

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 32
2. दूधनाथ सिहं – निराला:आत्महत्ता आस्था – पृ0 337
3. प्रेमनारायण टंडन संपादित – रसवंती – पृ0 181
4. डा0 सुषमा पाल – छायावाद की दार्शनिक पृष्ठ भूमि – पृ0 148
5. परमानन्द श्रीवास्तव – निराला – पृ0 22

उस क्षेत्र की ओर नहीं लौटती जहां से वह हार चुका है असीम वेदना और तिरष्कार पा चुका है। या बाहर मैं कर दिया गया हूँ, का एक पक्षीय भाव ग्रहण करता है। निराला ने एक पक्षीय स्वरूप पर विचार नहीं किया अगर उनकी पहली स्वीकृति है कि बाहर मैं कर दिया गया हूँ तो तुरत यह भी स्वीकार करते हैं कि "भीतर पर भर दिया गया हूँ।" यही कारण था जिससे निराला निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति मार्गी भक्त ठहरते हैं। बार-बार सामाजिक जीवन की कठिनाइयों का प्रकट करते हैं।

सन् 1947 से 1949 तक निराला सन्यासी वेश में रहे। यही वह समय था जब कवि ने "अर्चना" के गीत लिखे। "इस सन्दर्भ में महादेवी जी का संस्मरण बहुत कुछ उनके बारे में स्पष्ट करता है। गेरू में दोनों मलिन अधोवस्त्र और उत्तरी कब रंग डाले गए इसका मुझे पता नहीं, पर एकादशी के सवेरे स्नान, हवन आदि कर जब वे निकले तब गैरिक परिधान पहन चुके थे। अंगोंछे के अभाव और वस्त्रों में रंग की अधिकता के कारण उनके मुँह-हाथ आदि ही नहीं विशाल शरीर भी गैरिक हो गया था, मानों सुनहली धूप में धुला गेरू के पर्वत का कोई शिखर हो।-----बोले-"अब ठीक है। जहाँ पहुँचे किसी नीम, पीपल के नीचे बैठ गये दो रोटियाँ मांग कर खा लीं और गीत लिखने लगे।"[1] निस्सन्देह निराला अपने उद्देश्य के शिखर पर पहूँच गये थे, जहाँ उनकी कामना में संतोष का साम्राज्य था। अतृप्ति, निराशा, लोभ आशा, आकांक्षा सभी दूर हो गये थे। संत प्रवृत्ति इस समय निराला में आ गई थी। अपनी चिन्ता अब उन्हें नहीं रह गई थी, सारे जगत को अपना घर परिवार मान चुके थे।[2] जहाँ भूख का अनुभव हुआ दो रोटियाँ माँगी और खा ली। "वसुधैव कुटुम्बकम" की भावना "सर्वे भवन्तु सुखिनिः" के उद्देश्य से कवि निराला "अर्चना", "आराधना", में प्रवृत्त हुए- उनकी भक्ति में मात्र व्यष्टि के कल्याण या सुरक्षा का ही भाव नहीं वरन् समष्टि के कल्याण की भावना का करूणार्द्र स्रोत प्रवाहित होता है।

"अर्चना"में आकर निराला स्वयं काम, क्रोध, मद, लोभ दंभ आदि से एकांत तो हो ही गए थे। गृहस्थ से संन्यासी का चोला पहन चुके थे फिर भी जन कल्याण की साधुवृत्ति

---

1. महादेवी वर्मा - पथ के साथी - पृ0 - 54
2. भवन, भुवन हो गया - दुःख ताप खो गया - निराला - आराधना - पृ0 -65

उन्हें बार-बार समष्टि के कल्याण की ओर उन्मुख करती है। फलस्वरूप समस्त मानव के मन से विकरों को निकालने की प्रार्थना करते है –

मानव का मन शांत करो हे
काम, क्रोध, मद, लोभ, दंभ से,
जीवन को एकान्त करो हे।[1]

इसी तरह "आराधना" में कवि समस्त विश्व की चिन्ता में डूबा दिखाई देता है। आतुर हृदय दया की भीख माँगता है –

द्वार पर तुम्हारे,
खड़ा हुआ विश्व,
कर पसारे।[2]

यहाँ कवि भक्त प्रभु के समक्ष जन प्रतिनिधित्व करता हुआ कर तो फैलाता है, पर उन्हें भी सलाह देता है जो हरिविमुख है। कवि का कथन है, कि भवसागर से पार जाने का एक ही मार्ग है वो है –

हरि भजन करो भू-भार हरो,
भव सागर निज उद्धार करो।[3]
× × ×
राम के हुए तो बने काम,
साँवरे सारे धन, धान, धाम।[4]
× × ×
रहते दिन दीन शरण भजले।
जो तारक सूत वह पद रज ले।[5]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 – 64
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 – 16
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 – 51
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 – 20
5. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 – 68

इस नेक सलाह के पीछे भी जन कल्याण की ही भावना कार्य कर रही है। अकेले स्वयं की मुक्ति निराला को अभिष्ट नहीं। समष्टि की मुक्ति में ही वह अपना मुक्ति मानते हैं तभी तो वह ऐसे चरण शरण के प्रति नमित हैं जिसकी कृपा से समस्त धन, धाम, धान, सँवर सकता हैं। भक्त कवि को अपने प्रभु पर पूर्ण विश्वास है अतः प्रार्थना करता है

विपदा हरण हार हरि हे। करो पार।
प्रणय से जो कुछ चराचर तुम्हीं सार।[1]

निस्संदेह ऐसे गीतों में कवि बड़ी तन्मयता एवं आकुलता से भवसागर से पार जाने की कामना रखता है। समस्त वासनाओं से निवृत्ति की याचना करता है।

दुख हर दे, जल– शीतल सर दे।
वरदे। पावन उर को कर दे।[2]

अपने इसी दुख भरे हृदय को पावन करने के लिए तथा प्रभु की करूणा का कोर पाने के लिए एक बार नहीं हजार बार प्रभु को स्मरण करता है, और बार बार स्मरण करते रहने की आकांक्षा भी प्रकट करता है।

कृष्ण–कृष्ण, राम–राम
जपे हैं हजार नाम।[3]
× × ×
कामरूप हरो काम,
जपूं नाम राम, राम।[4]

इस तरह आराधना में कुल लगभग 32 गीत हैं जिसनें कवि की आत्म-परक, प्रार्थना-परक, विनय एवं भक्ति के भाव व्यंजित हुऐ है। इसी संग्रह में निराला का वह महत्वपूर्ण गीत भी संग्रहित है जिसे हम इनकी भक्ति भावना का केन्द्रीय बिन्दु मान सकते हैं।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी –आराधना – पृ0 – 21
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी – आराधना – पृ0 – 28
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी – आराधना – पृ0 – 12
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी – आराधना – पृ0 – 14

मराहूँ हजार मरण

पाया तव चरण शरण।[1]

आराधना में निराला के भक्त हृदय की कोमलतम् अनुभूतियों का प्रकाशन आत्म निवेदनात्मक शैली में हुआ है।

"आराधना" के बाद निराला जी का गीत संग्रह "गीत गुंज" सन् 1954 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में 41 गीत संग्रहीत हैं। वस्तुतः "अर्चना" "आराधना" के गेय गीतों के ही अनुरूप "गीत गुंज" में भी गेय गीत संग्रहीत हैं। मनोभावना एवं काव्य कौशल में भी कोई वैभिन्न नहीं दिखाई देता। ये तीनों रचनाऐं निराला जी के आत्म समर्पण और प्रपत्ति भावना का प्रतिनिधित्व करती हैं। "आराधना" में "हजार मरण" के पश्चात पाये प्रभु चरण-शरण के प्रति उनका झुकाव नित्य प्रति बढ़ता ही दिखाई देता है। वयस के प्रभाव और मानसिक विकारों की वृद्धि से कभी–कभी उन्हें आभास होता है कि ऐसा न हो कि भ्रम वश प्रभु से मन ऊब जाय। अतः भक्त कवि प्रार्थना करता है कि –

सुख का दिन डूबे डूब जाय,

तुमसे न सहज मन ऊब जाय।[2]

× × ×

पार पारावार जो है, स्नेह से मुझ को दिखा दो

रीति क्या, कैसे नियम, निर्देश कर करके सिखा दो।[3]

आदि कविताऐं अलौकिक शक्ति के प्रति आत्मनिवेदन के रूप में प्रस्तुत की गई हैं। यहाँ पहुंचकर निराला को "जिधर देखिये श्याम विराजे, का आभास दृढ़ विश्वास पाता दिखाई देता है। परन्तु "गीत गुंज" में प्रकृति सौन्दर्य के प्रति आकर्षण का भाव भी विपुल मात्रा में दिखाई देता है। सांन्ध्य काकली का प्रकाशन सन् 1969 में निराला जी के मृत्यु के 8 साल बाद प्रकाशित हुई। इस संग्रह मे निराला जी की वे कविताऐं संग्रहीत है जो अब तक किसी कारण वश प्रकाशित संग्रहों में स्थान नहीं पा सकी थीं और जीवन के अन्तिम

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी – आराधना – गीत – 6
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराल – गीत गुंज – पृ0 – 46
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीत गुंज – पृ0 – 63

दिनों में लिखी गई थीं। ये अन्तिम कविताऐं अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उनके विचारों, आस्थाओं ही के सम्बन्ध में नहीं, उनके मानसिक असन्तुलन की उग्रता के सम्बन्ध मे पैदा हुए मतभेदों को भी दूर करने में सहायक है।

निराला जी का यह संग्रह "गीतिका" "आराधना", "अर्चना" आदि की आत्म- निवेदनात्मक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की एक कड़ी है। "सांध्यकाकली" में निराला जी का स्वर अपनी पूर्ववर्ती ओजस्विता से रहित हो जाता है। अब सिर्फ कसक, वेदना और मृत्यु की छाया से उत्पन्न गम्भीर अवसाद ही दिखाई देता है। "यहाँ" "जागो फिर एक बार" "एक बार बस और नाच तू श्यामा" के सृजनकर्ता निराला यह स्वीकारते हैं कि –

आग सारी फुक चुकी है
रागिनी वह रूक चुकी है
याद करता हुआ जीवन
जीर्ण–जर्जर आज तीली।[1]

निराला एक सच्चे भक्त हैं। यही कारण है कि वह जय और पराजय में कोई भेद नहीं मानते उन्हें तो बस प्रभुचरण की कामना है। वह प्रत्येक समय, सोते, जागते प्रभु में ही तन्मय रहना चाहते है।

तुम्हारे भाव में सोये
तुम्हारे भाव में जागें
तुम्हारे रव सुने, सूने
सदन आचरण अनुरागे।
× × ×
पराजय लाख, लोखों जय
तुम्हारे केतु के संचय
कुतो भय स्थान पाकर, मृण
मयी के श्री चरण लागे।[2]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – सांन्ध्य काकली – पृ0 – 54
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – सांन्ध्य काकली – पृ0 –57

इस संग्रह की अन्तिम कविता विशेष महत्व की है क्योंकि इस कविता में मां वीणा वादिनी के गुणों की चर्चा व्यक्त है। इसमें आश्चर्य क्या कि भक्त निराला सरस्वती के वरद-पुत्र ने अपनी अन्तिम कविता वाग्देवी के सम्मान में लिखी।

हाथ वीणा समासीना,
विशद वादन रत प्रवीण।
घिरे बादल गगन मण्डल,
तरल-तारक नयन अविचल,
तार के झंकृत सुकोमल
कराहत कर का नगीना।
राग सावन मनो भावन,
भामिनी के भवन पावन,
दीप्ति नयनों की सुहावन
नाक का हिल रहा मीना।[1]

अतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाकवि निराला का काव्य अनेक मोड़ो से होकर अपनी काव्य यात्रा पूरी करता है, जो उनके विषय वैविध, संघर्ष पूर्ण जीवन एव सांस्कारिक जीवन वृत्त का परिणाम है। जीवन-गत अनेक बाधाओं को सहर्ष स्वीकार करता हुआ कवि एक ऐसे शरण स्थल की खोज कर लेता है, जहाँ पहुँच कर उसका श्रांत क्लांत मन और शरीर सुख और शान्ति से भर जाता है। विषय वैविध्य एवं समय परिवर्तन के साथ ही साथ अभिव्यक्ति में भी परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर है।

निराला छायावादी, क्रान्तिकारी, एंव विद्रोही कवि के साथ ही साथ एक भक्त कवि भी हैं जिसकी अभिव्यक्ति हमें प्रथम संग्रह से ही देखने को मिलती है। हॉ ये सच अवश्य है कि उनका यह भाव पूर्ववर्ती रचनाओं की अपेक्षा परवर्ती रचनाओं में ज्यादा विकास पा सका है। जिन गीतों अथवा भावों को कवि की पराजय अथवा नैराश्य से सम्बद्ध किया

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – सांध्य काकली – पृ० – 85

जाता है,वे गीत और भाव भक्ति के प्रथम सोपान हैं। भक्त पहले अपनी स्थिति की दयनियता, मायाबद्ध अपनी विवशता, कातरता व्यक्त करता है, तत्पश्चात ईश्वर वन्दना और भक्ति।[1] परवर्ती विनय गीतों में निराला अधिक आत्मोन्मुख दिखाई देते है। यही उनके काव्य का विकास मार्ग है।

भक्ति का आलम्बन और आयाम –

निराला काव्य में भक्ति का आलम्बन सगुण–साकार न होकर सगुण निराकार है। नये नये आयाम लेती हुई उनकी भक्ति चेतना अपने अजस्र प्रवाह से काव्य में प्रवाहित हुई है, जो कवि की स्वतत्र चेतना का ही परिणाम है, उसे किसी वाद के घेरे में आबद्ध नहीं किया जा सकता।

कण–कण में देवताओं और देवियों का अनुभावन करने वाला भारत-भूमि पर जन्मा प्रत्येक भक्त या व्यक्ति देवी–देवताओं के प्रति अत्यन्त विनत रहा है। सार्वभौमिक सार्वकालिक, शाश्वत, आनन्ददायी सत्ता के अस्तित्व को अंगीकार करके जन–जन ने उस परमसत्ता के प्रति अपनी भाव सुमनांजलि अर्पित की है। आस्था प्रसन्न निराला भी इस भाव सरिता में बहने में पीछे नहीं रहे है। कवि ने मर्यादा पुरूषोत्तम श्रीराम, जगज्जननी जानकी, वीणा वादिनी मां शारदा, विमल गंगा, श्यामल कालिन्दी, नटवर नागर श्याम, के उच्छल सौन्दर्य का उन्मुक्त कंठ से गान किया है। जो मध्यकालीन भक्ति काव्य के सहश है। निर्गुण के क्षेत्र में जिस प्रकार आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध निरूपण हुआ है, उसी तरह कवि निराला के काव्य में भी दिखाई देता है।

निराला का साहित्य अद्वैत और भक्ति का सुन्दर समन्वय, है। हिन्दी की अपनी निर्गुण और सगुण परम्परा का भी उनकी चेतना पर गहरा प्रभाव है, विशेषत: कबीर और तुलसीदास का। कबीर की अख्खड़ता और तुलसी की प्रौढ़ तथा साहित्यिक अंन्तदृष्टि और सशक्त अभिव्यंजना उनके काव्य में दिखाई देती है।[2]

---

1. धनज्जय वर्मा – निराला काव्य और व्यक्तित्व – पृ0 – 129
2. डा0 रामरतन भटनागर – निराला और नवजागरण – पृ0 – 114

रहस्य दर्शन हो या अध्यात्मिक दर्शन दोनों "प्रेम" की सुदृढ़ नींव पर अपना सिद्वान्त रूपी महल खड़ा करते है। इस प्रेम-तत्व को रहस्यवादियों ने अव्यक्त कहा है परन्तु वही घनीभूत होकर व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेता है। कबीर को भी "हरि–जननी मैं बालक तोरा" "हरि मोरा पिऊ मै हरि बहुरिया" "राजाराम भरतार" "कबीर कूता राम का" के द्वारा ब्रह्म में प्रतीक सम्बन्ध स्थापित करने पर ही भक्ति भावना की अभिव्यक्ति में सफलता मिली। भारतीय भक्ति की परम्परा में परमात्मा के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को को मान्यता मिली है। निराला जी एक ओर शुद्ध अद्वैतवाद की विवेचना एवं स्वीकृति करते हुए "पंचवटी प्रसंग", "तुम और मैं" आदि कविताएं प्रस्तुत करते हैं तो दूसरी ओर "गीतिका और "अर्चना", "आराधना", "गीत गुंज" आदि के गीतों में भागवत भक्ति एवं प्रपत्ति परक वैष्णवी भक्ति की धारा प्रवाहित करते हैं। "भक्ति" यद्यपि द्वैत भाव उत्पन्न करती है। पर यह भी सच है कि अधिकारी भेद के अनुसार इन चारों (भक्ति, योग, कर्म, ज्ञान) में से किसी को लिया जा सकता है। "पंचवटी प्रसंग" में निराला जी ने अपना यह सिद्धान्त स्थापित किया –

"द्वैतभाव ही है भ्रम, तो भी प्रिये,
भ्रम के भीतर से भ्रम के पार जाना है।[1]

जहाँ योग एवं ज्ञान चिन्तन प्रधान हैं वहां भक्तिभाव प्रधान है। ब्रह्म के आदि दैविक रूप की कल्पना करके उसके साथ भाव सम्बन्ध स्थापित करने की बात भक्ति कहलाती है। ईश्वर के प्रति परानुरक्ति ही भक्ति है।[2] भक्ति को श्रद्धा और प्रेम का योग भी कहा गया है। भक्त में श्रद्धा तत्व की प्रधानता होती है। तो भी वह उसमें प्रेम का सम्बन्ध जोड़कर उसे पिता, माता, स्वामी आदि के रूप में देखता है जब प्रेमतत्व की प्रधानता हो जाती है, तो क्रमशः सखा, पुत्र या प्रियतम के रूप में देखने लगता है। निराला भी एक भक्त होने के नाते ब्रह्म से सम्बन्ध स्थापित करने में पीछे नहीं रहे। निराला उस विराट सत्ता को कहीं अनन्त, कहीं श्यामा, कहीं

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – पंचवटी प्रसंग (4) – पृ0 234
2. शांण्डिय भक्ति सूत्र – 2

अतीत और असीम कह कर पुकारते हैं तो कहीं ''कारण संसार क विश्व रूप'' जैसे लम्बे पदों का भी प्रयोग करते हैं। तो कहीं उसे मां रूप में देखा और कहीं जननि और देवि रूप में, नारी रूप में, कवि ने उसे किरण मयी, ज्यातिर्मयि, ज्योत्स्नामयि, सुन्दरि और आश्रम–वासिनि कहकर पुकारता है। कभी उस सत्ता को प्रिय, परमप्रिय, प्रियतम, प्रम प्रकाश, चिर प्रिय दर्शन आदि संबोधनों से संबोधित करता है। कहीं–कहीं कवि ने उसके लिए श्रद्धासूचक संबोधन भी प्रयुक्त किए हैं जैसे– ''प्रभो'' वन्धु, मायाकर, हरि, करण–कारण–पार आदि। ''आराधना'' में तो एक गीत में उसे एक साथ विभिन्न संबोधनों से संबोधित किया है।

जय, अजेय, अप्रमेय
जग–जग के परमपार
जय शिव, जय विष्णु, विष्णु
शंकर, जय कृष्ण, राम।[1]

ब्रह्म के लिए प्रयुक्त इन विविध संबोधनों के प्रकाश में उनका उदार दृष्टिकोण स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है जो अन्य किसी कवि में दृष्टिगाचर नहीं होता। ''शत विध नामानुबन्ध बान्धव हैं निराकार'' कह कर निराला ने कोई नई स्थापना नहीं की। बहुत पहले ही वैदिक ऋषि ''एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'' कह कर उस एक का नाना नामों से स्तवन कर चुके थे। निराला ने पुनः भक्ति को उसी भाव–भूमि पर पुनर्जिवित करने का प्रयास किया और सफल रहे।

जय अजेय, अप्रमेय
जग जग के परम पार–
गरल कंठ हे अकुंठ,
बैठक बैकुंठ धाम,
जय शिव, जय विष्णु विष्णु
शंकर, जय कृष्ण, राम।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 – 67

शतबिध नामानु बन्ध

बान्धव हे निराकार।[1]

× × ×

कृष्ण कृष्ण, राम राम

जपें हैं हज़ार नाम[2]

यहाँ कृष्ण और राम पदों का प्रयोग भी व्यापक धरातल पर हुआ है। वे सगुण निराकार के उपासक थे, सगुण–साकार के नहीं। निराला मूलतः मातृ–शक्ति के उपासक थे। उनकी ये उपासना "परिमल" की "आवाहन" कविता में सर्वप्रथम दिखाई देती है। यह सीधे मां काली की प्रार्थना है। निराला ने मातृ शक्ति के रूप में कभी माँ दुर्गा, सरस्वती, और भारत माता की प्रार्थना की, तो कभी सरस्वती (भारती) और भारत माता को एकमेव कर के अपनी प्रार्थना निवेदित की।

भारति जय विजय करे

कनक–शस्य–कमल धरे।

लंका पदतल–शतदल

गर्जि तोर्मि सागर–जल,

धोता शुचि चरण युगल

स्तव कर बहु–अर्थ–भरे।[3]

इन विविधताओं के बावजूद ढेरों मातृ–वन्दना के गीत ऐसे हैं जिनमें जननि या माँ संम्बोधन एक दम अमूर्त है। उसे किसी भी अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है।

(क) हे जननि तुम तपश्चरिता

जगत की गति, सुमति भरिता।

कामना के हाथ थक कर

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 – 67
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 – 12
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 – 71

रह गये मुख विमुख बक कर
निःस्व के उर विश्व के सुर
बह चलीं हो तमस्तरिता
विवश होकर मिले शंकर
कर तुम्हारे है विजय वर,
चरण पर मस्तक झुका कर
शरण हूँ, तुम मरण सरिता।[1]

(ख) प्रात तव द्वार पर
आया, जननि, नैश अन्ध पथ पार कर।
× × × ×
अवसन्न भी हूँ प्रसन्न मैं प्राप्त वर
प्रात तव द्वार पर।
× × ×
धन्य जीवन कहाँ—मातः, प्रभात—धन,
प्राप्ति को बढ़े जो गहें तब पद अमर—
प्रात तव द्वार पर।[2]

(ग) अनगिनत आ गये शरण में जन, जननि—
सुरभि—सुमनावली खुली, मधुऋतु अवनि।
स्नेह से पंक—उर
हुए पंकज मधुर,
उर्ध्व—दृग गगन में
देखते मुक्ति—मणि।
बीत रे गई निशि,

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 – 117
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 – 100

देश लख हँसी दिशि,
अखिल के कण्ठ की
उठी आनन्द-ध्वनि।[1]

(घ) एक ही आशा में सब प्राण
बाँध माँ, तन्त्री के-से गान।
तोल तू उच्च-नीच समतोल
एक तरू के-से सुमन अमोल,
सकल लहरों में एक उठान,
उठा माँ, तन्त्री के-से गान।[2]

दुर्गा या शक्ति की आराधना का भाव निराला ने बंगाल की भूमि से प्राप्त किया। इसी प्रभाव और भाव ग्रहण के क्रम में निराला ने विवेकानन्द की कविताओं का अनुवाद भी किया। जिसे हम "आवाहन" कविता में देख सकते हैं।

एक बार बस और नाच तू श्यामा।
सामान सभी तैय्यार,
कितने ही हैं असुर, चाहिए कितने तुझको हार ?
कर-मेखला मुण्ड-मालाओं से बन मन अभिरामा-
एक बार बस और नाच तू श्यामा।[3]

कहना न होगा कि इसमें श्यामा की सूक्ष्म परन्तु विराट रूप की कल्पना को साकार रूप प्रदान कर निराला जी ने स्वामी विवेकानन्द के "काली-भक्ति" सम्बन्धी विचारों का बचा हुआ भाव भी स्पष्ट कर दिया। श्री रामकृष्ण देव इसी दैवी शक्ति को काली अथवा माँ कह कर पुकारते थे। निराला ने भी उसी व्यापक एवं विराट शक्ति को माँ माना। जिसका उल्लेख वे "पंचवटी प्रसंग" में करते हैं –

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 – 18
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 – 30
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 – 150

देश लख हँसी दिशि,
अखिल के कण्ठ की
उठी आनन्द–ध्वनि।[1]

(घ) एक ही आशा में सब प्राण
बाँध माँ, तन्त्री के–से गान।
तोल तू उच्च–नीच समतोल
एक तरू के–से सुमन अमोल,
सकल लहरों में एक उठान,
उठा माँ, तन्त्री के–से गान।[2]

दुर्गा या शक्ति की आराधना का भाव निराला ने बंगाल की भूमि से प्राप्त किया। इसी प्रभाव और भाव ग्रहण के क्रम में निराला ने विवेकानन्द की कविताओं का अनुवाद भी किया। जिसे हम "आवाहन" कविता में देख सकते हैं।

एक बार बस और नाच तू श्यामा।
सामान सभी तैय्यार,
कितने ही हैं असुर, चाहिए कितने तुझको हार ?
कर–मेखला मुण्ड–मालाओं से बन मन अभिरामा–
एक बार बस और नाच तू श्यामा।[3]

कहना न होगा कि इसमें श्यामा की सूक्ष्म परन्तु विराट रूप की कल्पना को साकार रूप प्रदान कर निराला जी ने स्वामी विवेकानन्द के "काली–भक्ति" सम्बन्धी विचारों का बचा हुआ भाव भी स्पष्ट कर दिया। श्री रामकृष्ण देव इसी दैवी शक्ति को काली अथवा माँ कह कर पुकारते थे। निराला ने भी उसी व्यापक एवं विराट शक्ति को माँ माना। जिसका उल्लेख वे "पंचवटी प्रसंग" में करते हैं -

सारे ब्रह्माण्ड के जो मूल में विराजती हैं

आदि–शक्ति–रूपिणी,

शक्ति से जिनकी शक्ति शालियों में सत्ता है,

माता हैं मेरी वे।[1]

वैसे निराला जी के भक्ति सम्बोधनो में "जननि" या "माँ" सम्बोधन अन्य सम्बोधनों से अधिक बार प्रयुक्त हुआ है। उनके सारे भक्ति गीतों में लगभग 23–24 गीत सिर्फ इस "जननि संबोधिन से ही अभिव्यक्त हुए हैं।[2]

"भक्ति–योग–कर्म–ज्ञान एक ही है"[3] मानने वाले भक्त निराला निवृत्ति मुखी न होकर प्रवृत्ति मुखी है, क्योंकि उनकी आकांक्षा मुक्ति की नहीं भक्ति की है। यही कारण है कि निराला माया आदि शक्ति के प्रति समर्पण की भावना से प्रेरित होकर कहते है कि जिस प्रकार सलिल प्रवाह में बहता हुआ गृहहीन, लक्ष्यहीन, यन्त्र–तुल्य शैवाल–जाल परमात्मा की प्रेममयी प्रेरणा पाकर अंत में असीम सागर में मिल जाता है उसी प्रकार –

मैं भी त्यों त्याग कर सुखाशाएँ

धर–द्वार–धन–जन,

बहता हूँ माता के चरणामृत–सागर में,

मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे काफी है।[3]

क्योंकि मां का चरण निराला के लिए –

माता की चरण–रेणु मेरी परम शक्ति है –

माता की तृप्ति मेरे लिए अष्ट सिद्धियां–[4]

इन्हीं प्रार्थनाओं के सहारे निराला जी शरणागति की उदात्त भाव भूमि पर उतरते हैं। इस भूमि पर अवस्थित भक्त कवि केवल अपनी मुक्ति की ही आकांक्षा नहीं रखता वरन् अपने

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 – 243
2. दूधनाथ सिंह – निरालाः आत्माहत्ता अस्था – पृ0 – 339
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 – 243
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 – 243

साथ ही साथ सारे जीवन, सारे मनुष्यों यहाँ तक कि प्रकृति को भी मुक्त करने की करते हैं।

(क) जग की दुर्गम बाधाओं से
मुझें बचाओं
मेरा पथ आलोकित कर दो
प्राणों में नव स्पन्दन भर दो।[1]

(ख) माँ अपने आलोक निखारो
नर को नरक त्रास सेवारो।[2]

(ग) दलित जन पर करो करूणा
दीनता पर उतर आये
प्रभु तुम्हारी शक्ति अरूणा।[3]

(घ) माँ मानस के सित शतदल को
रेणु गंध के पंख खिला दो,
जग को मंगल-मंगल के पग
पार लगा दो, प्राण मिला दो,
तरू को तरूण पत्र मर्मर दो।[4]

इस बिन्दु पर पहुँच कर निराला शरणागति की परम्परा से अलग एक नई की शुरूआत करते दिखाई देते हैं। क्योंकि एक मात्र निराला ही दुःखी और संत्रस्त वरन् समस्त दुःख अवनि के परित्राण की कामना देखने को मिलती है। यहाँ निराला महर्षि की भाँति आत्म कल्याण और मानव कल्याण तथा आत्ममुक्ति मानव मुक्ति सम्पूर्ण विश्वमुक्ति को साथ साथ लेकर चले हैं।[5] मानव मुक्ति के लिए कवि करने को भी प्रस्तुत है।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - आराधना - पृ0 - 88
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - अर्चना - पृ0 - 124
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - अणिमा - पृ0 - 6

बहुत तुम्हारे मारे मारे

फिरते हैं हारे बेचारे

चेतन मधु–गन्ध के सहारे

उन्हें प्राण दो, मुझे हरो हे।[1]

संसार के दुख दैन्य से पीड़ित भक्त मातृ-चरण में विश्व हिताय नत है–

नर जीवन के स्वार्थ सकल

बलि हों तेरे चरणों पर माँ

मेरे श्रम–संचित सब फल।

× × ×

दृग–जल से पा बल, बलि कर दूँ

जननि, जन्म–श्रम–संचित फल।

× × ×

तेरे चरणों पर देकर बलि

सकल श्रेयश्रम संचित फल।[2]

शरणागति की भावना का उत्कृष्ट उदाहरण "अर्चना" संग्रह में "दूरित दूर करो नाथ" गीत में देखने को मिलता है, जहाँ कवि अपने जीवन रण में हार गया है, जिससे उसके संगी–साथी भी उसे छोड़ दिये हैं अब तक अकेला आश्रय हीन अपनी मर्मव्यथा का प्रकाशन इन शब्दों में करता है –

दुरित दूर करो नाथ,

अशरण हूँ, गहो हाथ

हार गया जीवन–रण

छोड़ गये साथी जन

एकाकी नैश–क्षण।

कण्टक–पथ, विगत पाथ।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना पृ0 – 34

देखा है, प्रात किरण,

फूटी है मनो रमण

कहा तुम्हीं को अशरण

शरण एक तुम्हीं साथ।[1]

भक्ति दर्शन की विपुल परम्परा में निराला जी का विश्वास अटूट था। वे व्यक्तिगत जीवन में परम्परा विरोधी थे, फलस्वरूप नई स्थापनाएं प्रतिफलित हुई। सम्पूर्ण जीवन–जगत, सम्पूर्ण जाति–जीवन की निरामयता की उनकी आकांक्षा उनकी मौलिक स्थापना है। लेकिन इस कथ्य के आधार पर यह कहना की निराला काव्य शरणागति की पारम्परिक स्थापनाओं एवं सिद्धान्तों को वहन नहीं करता अनुँचित और असत्य होगा।

शरणागति का अर्थ है शरण में जाना। "शरण गृहरक्षित्रोंः" "अमरकोष" के इस कथन के अनुसार शरण का अर्थ, रक्षक। शरण का व्युत्पत्तिगत अर्थ है "श्रृणाति दुःख अनेन" अर्थात दुख को नष्ट कर देने वाला। बोलचाल में शरण शब्द का प्रयोग रक्षा, आड़, ओट, सम्बल आश्रय स्थल, घर, रक्षक आदि अर्थों में किया जाता है।[2] प्रायः भक्ति साधना के क्षेत्र में इसे आश्रय स्थली के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। "श्वेताश्वतर उपनिषद् में ऋषि की विनीत उक्ति है –

यो ब्रहमाणं विद्धाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै

तहं देवमात्मबुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुवैं शरणमहं प्रपद्ये।[3]

अर्थात जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है, और जो समस्त वेदों का ज्ञान प्रदान करता है, मैं मुमुक्षु आत्मज्ञान विषयक बुद्धि के प्रकाशक उसी देव की शरण में जाता हूँ।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 22
2. विष्णुकान्त शास्त्री – भक्ति और शरणागति – पृ0 93
3. श्वेताश्वतर उपनिषद् – 6/18

शरणागति के अंगों के बारे में अब तक जो कुछ भी कहा गया, उनमें सबसे प्रामाणिक और सर्व प्रथम विभाजन "अहिर्बुधन्य संहिता" में देखने को मिलता है। इस संहिता के अनुसार शरणागति के प्रमुख छः प्रकार हैं, जिनको माध्यम बनाकर भक्त शरणागति प्राप्त करता है।

आनुकूल्यस्य संकल्प. प्रतिकूल्यस्य वर्जनम्
राक्षेष्यतीत विश्वासः गाप्तृत्ववरंण तथा
आत्मानिक्षेप कार्पण्ये षड्विद्या शरणागतिः।[1]

उपनिषदों में अंकुरित षड्- विद्या शरणागति की महत्ता का प्रतिपादन "बाल्मीकीय रामायण" , "श्री भगवत्गीता" आदि में भी दिखाई देता है। "बाल्मीकि रामायण" में स्वयं प्रभु श्रीराम ने अनके स्थलों पर इस साधना की सर्वोत्कृष्टता एवं महत्ता पर प्रकाश डाला है। श्री राम विभाषण की शरणागति के प्रसंग में कहते है कि –

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति चयाचते
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्ये तद्वतममा ।[2]

अर्थात मेरा यह व्रत है, कि एक बार भी "मै तुम्हारा हूँ, यह कहने वाले प्रपन्न (शरणागत) को मैं सब प्राणियों से अभय दे देता हूँ। इसी प्रकार गीता के 18वें अध्याय के 66वें श्लोक में भगवान श्री कृष्ण ने सम्पूर्ण धर्मों का त्याग करके अपने शरण में आने वालों को अभय एवं मुक्ति प्रदान करने का वचन दिया।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।[3]

---

1. अहिर्बुधन्य संहिता – 2/27/30
2. बाल्मीकीय रामायण – 6/18/33
3. भगवद् गीता – 18/66

शरणागतों को आश्वस्त करने वाले ये मंत्र प्रभु की प्रतिज्ञा होने के कारण भावुक भक्तों द्वारा चरम मंत्र कहे जाते हैं। शरणागति की यह परम्परा अहिर्बुधन्य संहिता, लक्ष्मी संहिता, भारद्वाज संहिता आदि वैष्णव आगमों एवं अलवार भक्तों के पदों के साथ ही समस्त मध्य युगीन भक्तों–संन्तों एव भक्ति सम्प्रदाय के आचार्यों में शीर्षस्त स्थान पाती रही। श्री रामानुजाचार्य ने तो इसके आधार पर एक नवीन मार्ग "प्रपत्ति मार्ग" का निरूपण ही कर दिया। इनके अनुसार ज्ञान, कर्म और भक्ति में जैसे भक्ति श्रेष्ठ है उसी प्रकार भक्ति में भी सबसे सुगम मार्ग प्रपत्ति का है। इस मार्ग के पथिक को न ज्ञान की आवश्यकता है, न विद्याभ्यास और योग–साधना की फिर भी यह मार्ग सर्व सुगम और सबसे छोटा मार्ग है। जो मनुष्य सर्वतोभावेन भगवान की शरण में आता है, उसे भगवान अविलम्ब अपना लेते हैं।[1] श्रीयुत् हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का कथन है कि भक्ति में श्रवण, कीर्त्तन आदि प्रकार तो केवल उपलक्षण भर ही हैं। भक्ति के लिए केवल एक ही बात आवश्यक है अनन्य भाव से भगवान की शरणागति, अहैतुक प्रेम, बिना शर्त आत्मसमर्पण।[2]

हिन्दी साहित्य का भक्ति काल तो पूरा का पूरा ही इस शरणगति एवं अहैतुकी प्रेम से भरा हुआ है। आधुनिक काल में भी ये धारा सूखी नहीं हाँ क्षीण रूप में अवश्य दिखाई देती है।

अहो हरि बस अब बहुत भई।
अपनी दिसि बिलौके करूनानिधि कीजै नहि नई।
जो हमरे दोसन को देखो तो न निबाह हमारौ।
करिकै सुरत अजामिल गज की हमरे करम बिसारौ
अब नहिं सही जात कोउ विधि धीर सकल नहिं धारी
हरिचन्द को बेगि धाइ कै भुज भरि लेहु उबारी।[3]

---

1. रामधारी सिहं दिनकर – संस्कृति के चार अध्याय – पृ0 381
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी – कबीर – पृ0 146
3. ब्रजरत्न दास (सं0) – भारतेन्दु ग्रंथावली – पृ0 577

यह आत्मसमर्पण कवि की अनन्य श्रद्धा का परिचायक हैं। पंडित प्रताप नारायण मिश्र तो सूर और तुलसी का अनुकरण करते हुए यहां तक कहते हैं कि–

प्रभु तजि शरण काको जाऊँ
आशकरिये योगजन के एक ही तो ठांऊ।[1]

तो मैथिली शरण जी ने राम के चरण शरण की अनन्यता का वर्णन लक्षण के माध्यम से व्यक्त किया है। राम के अनन्य भक्त लक्षण जी गुह राज से कहते है कि राम के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पित करके मैं तो कभी का इस भवसागर से पार उतर चुका हूँ।

मैं तो निज भव -सिन्धु कभी का तर चुका
राम चरण में आत्म समर्पण कर चुका।[2]

शरणागति और प्रपत्ति :–

महाकवि निराला की सम्पूर्ण गीत रचना का एक बड़ा हिस्सा शरणागति या प्रपत्ति भाव के गीतों से भरा हुआ है। सच तो ये है भक्ति कालीन विस्तृत क्षितिज पर उन्मुक्त प्रसार में फैली यह भाव धारा रीतिकाल में अत्यन्त क्षीण हो गयी, और आधुनिक काल में भी बहुत कम भाव–सरिताएं इस दिशा की तरफ बढ़ी, लेकिन इस विवेचन क्रम में जब निराला काव्य का दर्शन किया तो स्पष्ट हुआ कि निराला जी एक मात्र ऐसे प्रपन्न भक्त है जिनमें शरणागति के सभी अंगों का पूर्णरूपेण विकास देखा जा सकता है।

1. **आनुकूलस्य संकल्पः –**

शरणागति का प्रथम सोपान अनुकूलता का संकल्प है इस सोपान पर पहुँचकर भक्त को यह विश्वास होता है कि सम्पूर्ण त्रैलोक्य में अगर कोई सार वस्तु है, तो वह है प्रभु। बिना उसकी कृपा के भवसागर से उद्धार संभव नहीं निराला जी अपने भक्ति गीतों में प्रभु के महत्व का प्रतिपादन तो करते ही है। साथ ही ईश्वर से यह प्रार्थना भी करते हैं कि

---

1. नारायण प्रसाद अरोड़ा (सं0) – प्रताप लहरी (प्रेम पुष्पावली) – पृ0 145
2. मैथिली शरण गुप्त – साकेत – पंचम सर्ग – पृ0 142

हे प्रभु मुझे अपने शरण में स्थान दो और अग–जग के तम को विनष्ट कर सर्वत्र ज्योति विकीर्ण कर दे, और अपनी करूणा दृष्टि से व्यष्टि और समष्टि सबका कल्याण कर दे। हे ईश्वर मेरे पापों का शमन करों। मेरा हाथ पकड़ो। अब मैं आपकी शरण में हूँ मेरा जीवन आपको पाकर ही "पूर्ण विराम" पा सकेगा।

(क) जग को ज्योतिर्मय कर दो।
प्रिय कोमल पद गामिनी! मन्द उतर
जीवन्मृत तरू–तृण–गुल्मों की पृथ्वी पर
हँस हँस निज पथ आलोकित कर
नूतन जीवन भर दो
जग को ज्योतिर्मय कर दो।[1]

(ख) तुम्हारे काम, तुम्हारे नाम ।
तुम्हारे लिए सही संग्राम
तुम्हीं जीवन की घाटी पर
विजय की तरणी खेते हो,
तुम्हीं अपनी पाटी भर कर
लिखाते हो लिख लेते हो,
तुम्हीं जीवन में पूर्ण विराम।[2]

भक्त शरणागति में जाने के लिए उद्यत होकर संकल्प करता है कि अब मैं प्रभु की इच्छा के अनुकूल रह कर ही जीवन यापन करूँगा । ईश भजन ही एक मात्र मेरा उद्देश्य होगा–

(क) भजन कर हरि के चरण मन ।
पार कर मायावरण मन ।
कलुष के कर से गिरे है
देह–क्रम तेरे फिरे हैं

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल प्रार्थना (प्रारम्भ गीत)

विपथ के रथ से उतर कर
बन शरण का उपकरण मन ।[1]

(ख) उन चरणों में मुझे दो शरण
इस जीवन को करो हे मरण
बोलूं अल्प, न करूँ जल्पना
सत्य रहे, मिट जाय कल्पना।[2]

(ग) आये नतवदन शरण
जग के उद्धत जनगण
कठिन समर के कारण
शत–शत वारण–वारण
गृह के खुल गये काज
अपनो से मिटी लाज,
मंगल के साजे साज।[3]

अपनी जीवन–यात्रा में अनेकों बाधाओं के कारण कवि बेहद थका महसूस करता है। अब भवसागर पार करना उसे कठिन लग रहा है। "अर्चना" में कवि विश्व भरण का आश्रय टटोलता हुआ कहता है –

पतित को सित हाथ गह कर
जो चलाती है सुपथ पर
उन्हीं का तू मनन कर–कर
पकड़ निश्शर विश्व–तरणा।[4]

2. **प्रतिकूलस्य वर्जनम्** :–

प्रभु की अनुकूलता के संकल्प का पूरक है, उनके प्रतिकूल, विरूद्ध विमुख बनाने

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 94 – गीत–78
2. सूयकान्त त्रिपाठी निराला – अणिमा – पृ0 12
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – बेला – पृ0 86

वाले व्यक्तियों विचारों, पदार्थों आदि का वर्जन-परित्याग।[1] निराला जी ने अनेक कविताओं में भक्ति मार्ग में आने वाले बाधक तत्वों का खण्डन किया है। इन बाधा उत्पन्न करने वाले तत्वों को संतो ने षट्विकार की उपाधि दी। इन षट्विकारों से निराला भी दूर जाना चाहते हैं और समस्त मानव को भी इससे मुक्त रखना चाहते है। अतः प्रभु से उनकी प्रार्थना है कि –

मानव का मन शान्त करो हे
काम, कोध, मद, लोभ, दंभ से
जीवन को एकान्त करो हे।
× × ×
रूखे मुख की रेखा सोये
फूट फूट कर माया रोये
मानस-सलिल मलिनता धोये,
प्रति मग से आक्रान्त करो हे।[2]

षट्विकारों से मुक्ति तो आवश्यक है ही उससे भी आवश्यक है दुर्जनों से छुटकारा, क्योंकि दुःसंग आदि के कारण ही मन में काम, क्रोध, अभिमान आदि दुर्भाव पैदा होते हैं। इसलिए कवि प्रभु से याचना करता है कि दुर्जनों एवं हरि विमुखों का संगन हो। हे प्रभु आप मुझे दे सको तो –

(क) दो सदा सत्संग मुझको
अनृत से पीछा छुटे,
तन हो अमृत का रंग
दो सदा सत्संग मुझको।[3]

(ख) वही चरण शरण बने
कटे कलुष गहन घने
लगे है तुम्हीं से मन।[4]

---

1. विष्णुकान्त शास्त्री – भक्ति और शरणागति – पृ0 106
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी – निराला – अर्चना – गीत 48 – पृ0 64
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – गीत 21 – पृ0 37
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – गीत 60

(ग) काम रूप, हरो काम

जपूं नाम, राम, राम।[1]

(घ) तुमसे लाग लगी जो मनकी

जग की हुई वासना बासी

गंगा की निर्मल धारा की

मिली मुक्ति, मानस की काशी

हारे सकल कर्म बल खोकर

लौटी माया स्वर से रोकर।[2]

प्रभु की अनुकूलता ग्रहण करने और प्रतिकूलता के वर्जन का भाव भक्त के हृदय में साथ–साथ उदित होना चाहिए शरणागति का यह सिद्धान्त भी निराला काव्य में व्यक्त हुआ है। भक्त कवि एक ओर प्रभु से यह प्रार्थना करता है कि "मन चंचल न करो" अर्थात चंचलता को दूर करो तो दूसरी तरफ " ज्योतिर्मयि स्वरूप में उतरने की प्रार्थना करता है।

मन चंचल न करो।

प्रतिपल अंचल से पुलकित कर

केवल हरो–हरो–(मन0)

तुम्हें खोजता मैं निर्जन में

भटकूँ जब धन जीवन–वन में,

भेद गहन तम मनो गगन में

ज्योतिर्मयि, उतरो।[3]

रक्षिष्यतीति विश्वासः

यह शरणागति सिद्धान्त का तीसरा अंग है। इसके अन्तर्गत भक्त यह विश्वास करता है कि प्रभु मेरी रक्षा करेंगे। जब तक भक्त में इस पूर्ण आस्तिकता का प्रवर्तन नहीं होता,

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – गीत – 14
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीत – 50
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 – 16

और वह प्रभु पर रक्षिष्यतीति विश्वास नहीं करता तब तक उसकी भक्ति सफल नहीं होती। क्योंकि जीव को भगवान ने तो स्वीकार कर ही रखा है, केवल विश्वास की ही देर है।[1] अतः स्पष्ट है कि शरणागति की भूमिका में प्रभु के प्रति पूर्ण भरोसा का होना अनिवार्य है। भक्त कवि निराला भी अपने आराध्य पर पूर्णभरोसा करते दिखाई देते हैं निराला जी में एक ओर ज्ञानी की उदात्त आकांक्षा है तो दूसरी ओर आर्त्त की विह्वल प्रणति का भाव। अतएव अपने आराध्य को छोड़कर इस जग में उन्हें किसी की आशा नहीं रहती। इसीलिए अनन्य विश्वास के साथ प्रार्थना करते है कि –

भवसागर से पार करो हे। गह्वर से उद्धार करो हे
विपुल काम के जाल बिछा कर, जीते हैं जन जन को खा कर
रहूँ कहाँ मैं ठोर न पाकर, माया का संहार करो हे।[2]

क्योंकि एक मात्र प्रभु ही ऐसे हैं जो मेरे विपदा को हर सकते हैं। कवि इस विश्वास के साथ प्रार्थना करता है –

विपदा-हरण हार हरि हे करो पार।
प्रणव से जो कुछ चराचर तुम्ही सार।[3]

प्रभु मैं आश्रय हीन हो गया हूँ, तन भग्न और मन रूग्ण हो गया है, तथा जीवन विषण्ण वन बन गया है। अब कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है, ऐंसी अवस्था में सभी सगे–सम्बन्धियों ने मेरा साथ छोड़ दिया है। कोई साथ नहीं है। हे प्रभु ऐसी अवस्था से उबारने वाले एक मात्र आप ही हैं कोई दूसरा नहीं –

भग्न तन, रूग्ण मन,
जीवन विषण्ण वन
क्षीण क्षण–क्षण देह
जीर्ण सज्जित गेह,

---

1. भक्ति सर्वस्व – पृ0 – 35
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – गीत – 7
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 – 21

घिर गये हैं मेह,

प्रलय के प्रवर्षण

चलता नहीं हाथ

कोई नहीं साथ,

उन्नत, विनत माथ,

दो शरण, दोषरण।[1]

अपने आराध्य पर निराला जी को पूर्ण विश्वास है, तभी तो वे कहते हैं –

तुम ही हुए रखवाल तो उसका कौन न होगा?

फूली–फली तरू डाल तो उसका कौन न होगा?[2]

प्रभु अशरण–शरण हैं उन्होंने शबरी, गज और गणिका आदि की रक्षा की है, वह अवश्य मेरी भी रक्षा करेंगे –

शबरी, गज, गणिकादि की

हुए कृष्ट प्रसारिक

पारिक, मैं सांसारिक

अविधा हो व्यंग्य नाम

गणता मेरी न गई

आई फिर ज्योति नई,

तेरे दिव्यता उनई,

तेरी मेरी प्रकाम।[3]

निराला जी भी गोस्वामी तुलसीदास की भाँति "कहाँ जाऊँ कासों कहौं और ठौर न मेरे" की भाँति ईश्वर की अनन्यता पर विश्वास रखते हुए कहते है कि –

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – गीत – 62
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निरला – अर्चना – पृ0 – 65
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – गीत – 14

कोई नहीं और
एक तुम हो ठौर
दूर सब जन पौर
भव से करो पार।[1]

गोप्तृत्व वरणं –

अपने रक्षक के रूप में एक मात्र प्रभु का वरण ही शरणागति का चौथा अंग है। यह सर्वविदित है कि जब व्यक्ति किसी परेशानी में घिरता है तब ऐसी सत्ता का स्मरण करता है, जो उसे बचाने में पूर्णरूपेण समर्थ होता है। जिसमें परत्व और सौलभ्य ये दो गुण परिपूर्ण मात्रा में हो। ऐसे गुण को धारण करने वाला प्रभु के अतिरिक्त और कौन है, क्योकि ईश्वर न केवल सर्वपर है, वे सर्वसुलभ भी है वही कण–कण में समाया हुआ है जो सौशिल्य, वात्सल्य, करूणा, मार्दव, आर्जव, सौहार्द, औदार्य, कृतज्ञता आदि गुणों की धारणा किये हुए है हुए कवि निराला ऐसे गुणों के पुंज प्रभु पर अपना सर्वस्व अधीन कर देते है जब उनकी जीवन नैया भवसागर के मध्य में जाकर डोलने लगती है, प्रखर धार उसे तोड़ने लगती है, तब इस भयंकर स्थिति में भक्त निराला का "अहं" छूट जाता है, तब वह अपना सर्वस्व प्रभु पर छोड़ जीवन नैया को संभालने के लिए आमंत्रित करते है–

डोलती नाव प्रखर है धार, सँभालो जीवन–खेवन हार।
तिर तिर फिर फिर
प्रबल तरंगों में
घिरती है,
डोले पग जल पर
डगमग डगमग
फिरती है,
टूट गई पतवार –
जीवन–खेवन हार।[2]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – गीत–46
2. सूर्यकान्त निराला – परिमल – पृ0 30

(ख) भज भिखारी, विश्व भरणा।

सदा अशरण–शरण शरणा ।[1]

अपनी असमर्थ अवस्था का वर्णन कर भक्त कवि प्रभु के चरणों में जाने की कामना व्यक्त करते हुए प्रार्थना करता है कि –

हार गया जीवन रण,

छोड़ गए साथी–जन

एकाकी, नैश–क्षण

कण्टक–पथ, विगत पथ ।[2]

ऐसी दशा में प्रभु को वरण करता हुआ कहता है –

दूरित दूर करो नाथ,

अशरण हूँ गहो हाथ।[3]

5. **आत्मनिक्षेप :–**

आत्मनिक्षेप का अर्थ है आत्मसमर्पण इसे शरणागति का सबसे महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। क्योंकि यह अवस्था ऐसी है जिसमें हम शेष सभी अंगों को समाहित देख सकते हैं। आत्मसमर्पण करने वाला भक्त उसी दशा में अपना समर्पण करेगा जब वह निर्मल चित्त धारण करते हुए काम, क्रोध आदि मनोविकारों को त्याग कर प्रभु में अनन्य विश्वास के साथ इसका वरण करेगा। आचार्य वेदान्तदेशिक ने "न्यासदशकम्" में लिखा है कि–

अहं, मद्रक्षणभरो, मद्रक्षणफलं तथा।

नमम श्रीपतेरेवेत्यात्मानं निक्षियेद् बुधः ।[4]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 19
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 22
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 22
4. आचार्य वेदान्तदेशिक – न्यासदशकम् – 1

अर्थात मैं स्वयं, मेरा रक्षण भार और मेरा रक्षण फल, मेरा न होकर प्रभु का ही है, इसे स्वीकार कर इन सबको प्रभु को समर्पित कर देना ही आत्मनिक्षप है।[1] भक्त निराला भी ''तवदीय वस्तु गोविन्दं तुभ्यमेव समर्पयेत्'' की भावना लेकर करूण कातर स्वर में सर्वस्व समर्पित कर प्रभु को पुकारते है –

कितने बार पुकारा, खोल दो द्वार, बेचारा।
मैं बहुत दूर का थका हुआ, चल दुखकर श्रमपथ रूका हुआ,
आश्रय दो आश्रम वासिनी, मेरी हो तुम्हीं सहारा।[2]

इसी प्रकार ''परिमल'' में परमाराध्या भगवती के चरणों में अपने काव्य सुमनों को अर्पित करते समय वे भाव विगलित हो जाते हैं, और अश्रुपूरित नेत्रों से कहते हैं माँ मैं तुम्हें क्या दूँ मेरा क्या है, जो कुछ भी है वह तो सब आपका ही है, मेरे पास तो बस एक विफल रोदन का हार है वह भी आपको उपहार स्वरूप भेंट कर रहा हूँ।

(क) देवि, तुम्हें मैं क्या दूँ?
क्या है कुछ भी नहीं, ढो रहा व्यर्थ साधना–भार,
एक विफल रोदन का है, यह हार एक उपहार।
भरे आंसुओं में है, असफल कितने विफल प्रयास,
झलक रही है मनोवेदना करूणा पर–उपहास
क्या चरणों पर ला दूँ?
और तुम्हें मैं क्या दूँ?[3]

(ख) तन, मन, धन वारे हैं,
परम–रमण, पाप–शमन,

---

1. विष्णुकान्त शास्त्री – भक्ति और शरणागति – पृ0 115
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – गीत–58
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 95

स्थावर जंगम–जीवन,

उद्दीपन, सन्दीपन,

सुनयन रतनारे हैं ।

भक्तों के आशुतोष ।[1]

6. **कार्पण्य :–**

कार्पण्य अर्थात दैन्य शरणागति के आदि, मध्य और अंत में उपस्थित उसका महत्व–पूण और शरणागति का अन्तिम अंग है। बोलचाल में कृपण का अर्थ कंजूस है, किन्तु कृपण का विशिष्ट अर्थ है, गरीब, दयनीय, अभागा या असहाय।[2] भक्ति के क्षेत्र में प्रभु के समक्ष दैन्य निवेदन अत्यन्त प्रशस्त एवं शरणागतों के लिए अनिवार्य माना जाता है।

त्यागो गर्वस्य कार्पण्य श्रुतशीलादिजन्मनः।

अंग सामग्र्यसम्पत्तेरशक्तैरपि कर्मणाम्

अधिकारस्य चासिद्धे देशकालगुणक्षयात्।

उपाया नैव सिद्धय्यन्ति ह्नयाया बहुलास्त था ।।

इतिया गर्वहानिस्तद् दैन्यं कार्पण्यमुच्यते।[3]

लक्ष्मीतंत्र के इस श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान, शील आदि से उत्पन्न गर्व का त्याग कार्पण्य है। साधन भूत अंग सामग्री की असमपन्नता, तदनुकूल कर्म करने की असमर्थता, अधिकारहीनता आदि को भी कार्पण्य कहते हैं। बल्लभाचार्य जी ने तो यहाँ तक कह दिया कि साधन सम्पन्न व्यक्ति प्रभु को प्रसन्न नहीं कर सकता। उनकी तुष्टि तो भक्तों की दीनता–निस्साधनता ही है।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 62
2. विष्णुकान्त शास्त्री – भक्ति और शरणागति – पृ0 118
2. लक्ष्मी तंत्र – 17/68–70

न हि साधन सम्पत्या   हरिस्तुष्यति कस्यचित्
भक्तानां दैन्यमेवेकं हरितोषण साधनम् ।[1]

निराला के क़ाव्य में उनकी असमर्थता असम्पन्नता, गर्व का त्याग विभिन्न स्थलों पर दिखाई देता है। इसलिए उनके काव्य में शरणागति का कार्पण्य भाव भी दिखाई देता है। कुछ विवेचकों का कहना है कि "प्रपत्ति का एक अंग है, कार्पण्य जिसका. उदाहरण निराला के काव्य में नहीं मिलता है।[2] विवेचकों का यह कथन उनके सतही दृष्टिकोण का परिचायक है। निराला ने अपनी काव्य यात्रा में एक बार नहीं अनकों बार अपनी असमर्थता व्यक्त की है। और प्रभु के समक्ष अपने उद्धार की भावना से अपनी दीनता व्यक्त की है। अपनी कार्पण्य या दीनता दिखाकर प्रभु की सर्वमयता एवं मायावृत्त आत्मा की अहंकारिता की उद्घोषणा करते हुए भक्त निराला कहते हैं –

तुम्हीं गाती हो अपना गान,
व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान।[3]

जीवन में निराश कवि अपने "अहं" को व्यागकर प्रभुचरण की कामना करता है। प्रभु पतित–पावन, अशरण–शरण है इसलिए प्रभु के समक्ष वह अपने आपको पतित कहने में भी कोई संकोच कर अनुभव नहीं करता।

(क) पतित हुआ हूँ भव से तार,
दुस्तर दव से कर उद्धार
तू इंगित से विश्व अपरिमित
× × ×
मैं बस होता हूँ बलि हार।[4]

---

1. श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला पंचम पुष्प – पृ0 211
2. डा0 उर्मिला सिहं – भक्ति परम्परा में निराला – पृ 178
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – गीत 44
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 111

(ख) भज भिखारी विश्व भरणा

सदा अशरण–शरण शरणा ।[1]

निराला केवल अपनी ही एकांत मुक्ति के आकांक्षी नहीं वे तो –

दलित जन पर करो करूणा

दीनता पर उतर आए

प्रभु, तुम्हारी शक्ति अरूणा ।[2]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि निराला के गीतों में भक्ति के सारे सिद्धान्त और सारी विशेषताएं उपलब्ध हैं। शरणागति और प्रपत्ति के छवों अंगों (आनुकूल्यस्य संकल्पः, प्रतिकूल्यस्य वर्जनम् रक्षियिष्यति विश्वासः, गोप्तृत्ववरणम् आत्मनिक्षेप और कार्पण्य) का सम्यक् निरूपण दिखाई देता है। जिसके केन्द्र में निराला की यह ध्वनि गूंज रही है।

रहा तेरा ध्यान,

जग का गया सब अज्ञान

गगन घन, विटपी, सुमन नक्षत्र–ग्रह–विज्ञान

बीच में तू हंस रही ज्योत्सना–वसन–परिधान

देखने को तुझे बढ़ता विश्व पुलकित प्राण

सकल चिंता–दुरित–दुख अभिमान करता दान।[3]

निराला एक उदार उन्मुक्त भक्त भी हैं। वे अपने उपास्य के रूप में अनेक देवि देवताओं के नाम गिनाते हैं और अपनी समन्वयात्मक भक्ति का पुष्ट परिचय देते हैं। वस्तुतः इस समन्वयात्मक भक्ति का आधार उनका अद्वैत दर्शन है। एक अगोचर सर्वव्यापी ब्रह्म

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 19
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – पृ0 14
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 62

की सत्ता में विश्वास रखने वाले निराला अगर विश्व के नानात्व में एकत्व की स्थापना करते हैं तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। "एकोऽहं बहुस्याम" में विश्वास रखने वाले निराला एक स्थल पर सभी देवताओं की एक ही स्थान पर वन्दना करते है।[1]

निराला काव्य में विविध प्रभाव :-

उन्नसवीं शताब्दी में आधुनिकता की लहर भारत वर्ष में बड़े तीव्र आवेग से उठी और जहां तक उसके मूल तत्व यानी बुद्धिवाद का सम्बन्ध है, हमारे महापुरूषों ने उसे स्वीकार भी किया। इन महापुरूषों में भगवान श्री रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, महर्षि अरविन्द, रवीन्द्र नाथ टैगोर, गांधी आदि के प्रादुर्भाव से आधुनिक हिन्दी के कवियों को प्रेरणा मिली, जिसमें सर्व श्री "निराला" की रहस्य भावना पर शंकराचार्य व स्वामी विवेकानन्द का गम्भीर प्रभाव पड़ा। सिद्धान्तः निराला अद्वैतवादी थे। उनकी "तुम और मैं" कविता इस वर्ग की कविताओं का प्रतिनिधित्व करती है। "कण" नामक कविता में भी उनका अद्वैत भाव स्पष्ट परिलक्षित होता है -

तुम हो अखिल विश्व में
या यह अखिल विश्व है तुममें,
अथवा अखिल विश्व तुम एक
यद्यपि देख रहा हूँ तुममें भेद अनेक ?
विन्दु। विश्व के तुम कारण हो
या यह विश्व तुम्हारा कारण ?[2]

निराला की ये जिज्ञासा कोई नई जिज्ञासा नहीं है। आत्मा और परमात्मा को अद्वैत रूप में देखने की यह परम्परा बहुत ही प्राचीन काल से चली आ रही है। छायावादी कवि निराला ने वेदान्त दर्शन का सहारा लिया , किन्तु वेदान्त दर्शन के सभी तत्वों को भावाभिव्यक्ति का माध्यम नही बनाया। उन्होंने वेदान्त दर्शन के उसी स्वरूप को ग्रहण किया, जिसका प्रतिपादन

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - आराधना - गीत 67
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - परिमल - पृ0 171

स्वामी विवेकानन्द ने किया था। निराला द्वारा प्रतिपादित दर्शन अद्वैत है, और उसका मूल उपनिषदों में उपलब्ध है। निराला ने समस्त चराचर में एक ही अखण्ड ज्योति की कल्पना की है। उन्होंने सर्वप्रथम अध्यात्म दर्शन की बात "पंचवटी–प्रसंग" कविता में की –

जिस प्रकाश के बल से
सौर ब्राह्माण्ड को उद्भासमान देखते हो
उससे नहीं वंचित है एक भी मनुष्य भाई।
व्यष्टि और समष्टि में समाया वही एक रूप
चिद्धन आनन्द कन्द ।[1]

प्रभाव स्रोत की दृष्टि से निराला के व्यक्तित्व और उनके काव्य पर विवेकानन्द का व्यापक प्रभाव दिखाई देता है। ऐसे तो स्वामी रामकृष्ण परमहंस का प्रभाव भी पड़ा लेकिन, स्वामी विवेकानन्द जी का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक दिखाई देता है। डा० सुषमा पाल का कथन है कि "श्री रामकृष्ण परमहंस को ईश्वर एवं ईश्वर का अवतार मान लेने पर भी निराला ने उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव को अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष रूप में ग्रहण किया।[2] अपने में तथा स्वामी विवेकानन्द में गहरे साम्य का अनुभव कर स्वयं निराला ने इस बात की घोषण की है कि "जब मैं इस प्रकार बोलता हूँ तो यह मत समझों कि निराला बोल रहा है तब समझो कि मेरे भीतर से विवेकानन्द बोल रहे हैं। यह क्रम जानते ही हो कि मैंने विवेकानन्द का सारा वर्क हजम कर लिया है।[3] पद्म सिहं शर्मा "कमलेश" का तो विचार है, कि निराला जी में इस भक्ति भावना के प्रबल होने का कारण उनका स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव में आता है।[4] यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है क्योंकि युवावस्था में जब वे काव्य रचना कर रहे थे उनका संबंध रामकृष्ण मिशन और वहाँ के साधुओं से था। उम्र का बत्तीस साल बंगाल में बीता आध्यात्मिक साहित्य

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ० 250
2. डा० सुषमा पाल – छायावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि – पृ० 173
3. निराला अभिनन्दन ग्रंथ – पृ० 114

के अभिज्ञ अध्येता थे, यह उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है।[1] ऐसी स्थिति में बंगाल और स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव से निराला को पृथक नहीं रखा जा सकता है। ऐसे प्रभाव निर्देश के लिए वीणा शर्मा के उस विचार की ओर हमारा ध्यान जाता है जहाँ निराला "अभिनन्दन ग्रंथ" का सहारा लेकर उन्होंने निराला को "विवेकानन्द का साहित्यक प्रतिनिधि" कहा है।[2]

स्वामी विवेकानन्द के सेवा एवं करूणा के सिद्धान्त से प्रभावित निराला जी सेवा परायणता में ब्रह्म तत्व की उपलब्धि का मार्ग देखते हैं। जन सेवा में ही "हरि" को देखने वाले निराला का तत्संबंधी दृष्टिकोण उनकी कविता "सेवा प्रारम्भ" और "अधिवास" में दिखाई देता है। विवेकानन्द की ही भांति निराला भी मनुष्य को विधाता की सुन्दर सृष्टि में सर्वोत्तम मानते है।[3] यही स्वामी विवेकानन्द का नवीन मानवतावाद है, इसमें हिन्दू मुस्लिम, सिख और ईसाई सभी समान महत्व रखते हैं,तथा एक दूसरे से अभिन्न हैं।

तोल तू उच्च नीच समतोल
एक तरू केसे सुमन अमोल
सकल लहरों में एक उठान
उठा मां तन्त्री के से गान।[4]

मानव जीवन की महानता में निराला जी को पूर्ण विश्वास है।

तुम हो महान, तुम सदा हो महान
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – चतुरी चमार – पृ0 52
2. वीणा शर्मा – निराला की काव्य साधना – पृ0 54
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अनामिका (दान) – पृ0 24
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 35

ब्रह्म हो तुम,

पदरज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व भार।[1]

निराला काव्य में गीता का निष्काम कर्म–योग भी चित्रित है। मानवतावादी दृष्टिकोण के विकास के कारण "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना को बल प्रदान किया है। उनके काव्य में युग–दर्शन के रूप में सामाजिक चेतना भी समाहित हो गयी है, और स्वातन्त्र्य संग्राम के कारण उद्भुत राष्ट्रीय जागरण को भी दार्शनिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया है।[2] ज्ञान–भक्ति कर्म और योग की समन्वय चेष्टा "पंचवटी प्रसंग" कविता में उपलब्ध है।

भक्ति–योग–कर्म–ज्ञान एक ही है

यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते हैं।

एक ही है दूसरा नहीं है कुछ –

द्वैत भाव ही है भ्रम।[3]

यद्यपि द्वैत भाव भ्रम है, क्योंकि जीव ही ब्रह्म है। निराला ने ज्ञान–भक्ति–कर्म–योग का समन्वय स्वीकार करते हुए प्रेमतत्व की महत्ता पर प्रकाश डाला है। यह प्रेमतत्व निराला को मानव प्रेम की भूमि पर ले जाता है। वेदान्त की सीमा में ये तीनों समाहित हो जाते हैं। मैं समझता हूँ, निराला काव्य के मूल में अद्वैतवादी जीवन दर्शन है संक्रमणशील जावन अनुभूति की प्रमाणिकता और ईमानदारी वह सूत्र है जो उनके पूरे काव्य से होकर गुजरती है।[4] गीता के निष्काम कर्म का प्रभाव निराला की कविता "रे कुछ न हुआ तो क्या" में स्पष्ट दिखाई देता है।

रे, कुछ न हुआ तो क्या?

जग धोका, तो रो क्या?

सब छाया से छाया

नभ नीला दिखलाया ।[5]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 205
2. चौथी राम यादव – छायावादी – एक दृष्टि – पृ0 163
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 253
4. धनज्जय वर्मा – निराला काव्य पुनर्मूल्यांकन – पृ0 40

विवेकानन्द के अद्वैत का प्रभाव ग्रहण करके ही कवि निराला एक सच्चे दार्शनिक और भक्त का रूप ग्रहण करते है। उनके द्वारा प्रणीत कई अद्वैतवादी गीत ऐसे हैं, जहां आभासित द्वैत में भी अद्वैत देखा गया। सम्पूर्ण जड़ और चेतन में एक ही तत्व की प्रधानता मानी गयी है।

जग का देखा एक तार।
कण्ठ अगणित, देह सप्तक,
मधुर स्वर–झंकार ।
बहुसुमन, बहुरंग, निर्मित एक सुन्दर हार
एक ही कर से गुँथा, उर एक शोभा–भार ।
गन्ध–शत अरविन्द–नन्दन विश्व–वन्दन–सार,
अखिल–उर–रंजन निरंजन एक अनिल उदार।[1]

इसे हम निर्गुण कहें अथवा अद्वैत दर्शन यह निराला के विवेकानन्दी अद्वैत दर्शन का साहित्यिक संस्करण है। इसी अद्वैत का रूप ''पास ही रे हीरे की खान'' में भी दिखाई देता है।

स्वामी विवेकानन्द ने अद्वैत दर्शन को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया है, जिसके परिणाम स्वरूप सदा ही उन्होंने मानव जीवन की समस्याओं को ध्यान में रखकर उसे सरस रूप देने का सन्देश दिया है। निराला ने भी इस विषय पर विचार किया।

सरल गति स्वच्छन्द
जीवन, प्रात से लघु पात से
उत्थान–पतनाघात से
रह जाए चुप, निर्द्वन्द्व।[2]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – गीतिका – पृ0 22
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 29

विवेकानन्द जी से प्रभावित होने का ही परिणाम है कि निराला ने उनकी कविताओं (काली माता, चौथी जुलाई के प्रति) का अनुवाद किया, और उनके अनुभूतिवाद, शक्ति पूजा, सर्वधर्म समभाव को अपने साहित्य में महातें स्थान प्रदान किया। "राम की शक्ति पूजा" भी विवेकानन्द और रामकृष्ण परमहंस के प्रभाव ग्रहण का ही परिणाम है। ऐसे प्रभाव के सन्दर्भ में श्री सुमित्रानन्दन पंत ने यह कहा है कि "वह विवेकानन्द के चैतन्य से नहीं उनके विचार दर्शन से प्रभावित रहे।[1]

निराला के मानवतावादी विचारधारा में भी विवेकानन्द का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रभाव का परिणाम है, कि दलितों एवं उपेक्षितों के अस्तित्व की रक्षा के लिए निराला बार–बार भगवान से प्रार्थना करते दिखाई देते हैं –

(क) दलित जन पर करो करूणा
दीनता पर उतर आये
प्रभु तुम्हारी शक्ति अरूणा ।[2]

(ख) मानव मानव से नहीं भिन्न
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक
हो कोई सर ।[3]

(ग) दूर हो अभिमान, संशय
वर्ण–आश्रम–गत–महाभय

---

1. सुमित्रा नन्दन पंत – छायावाद का पनुर्मूल्यांकन
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अणिमा – पृ0 6
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अनामिका – पृ0 19

जाति जीवन हो निरामय

वह सदाशयता प्रखर दो।[1]

जिस तरह मानव कल्याण के लिए विवेकानन्द जी ने स्वार्थ त्याग की बात की, उसी प्रकार निराला ने "नर जीवन का स्वार्थ सकल" शक्ति के चरणों में अर्पित कर देने की कामना की।

निराला के ऊपर स्वामी विवेकानन्द के अतिरिक्त स्वामी रामकृष्ण, प्रेमानन्द महाराज स्वामी सारदानन्द आदि का भी प्रभाव पड़ा। जिसका उल्लेख "अणिमा" की प्रशस्तियों में हुआ है। इन महापुरूषों में रामकृष्ण परमहंस को निराला ने ईश्वर का अवतार माना है –

जागे पराशक्ति के वैभव

स्व प्रकाश तव

आर पार के बिना तार के

नाद अनाहत ।[1]

परमहंस रामकृष्ण की भाव–तल्लीनता भी निराला के काव्य में मिलती है। निराला ने "तुलसीदास" का ऊर्ध्वगमन चित्रकूट के वातावरण में दिखाया है। तुलसीदास के मन में विस्मय भर जाता है, प्रकृति के प्रति जिज्ञासा का भाव नेत्रों में चिंता की रेखा खिंचती है, और प्रकृति उन्हें परिचित सा जान पड़ती है। निराला का यह अद्वैतवादी संस्कार ही है कि वे लता, गुल्म आदि को देखकर वे निर्निमेष हो जाते हैं। मन ऊपर की ओर उठने लगता है और संस्कार की सतहें पार कर जाता है। जैसे सन्ध्या में सूर्य की आभा एक के बाद क्रमशः दूसरे रंग बदलती है उसी प्रकार कवि का मन भी एक बाद दूसरे संस्कारों को छोड़ता हुआ ऊर्ध्वगमन करता है। (यह ऊर्ध्वगमन अरविन्द दर्शन के ऊर्ध्वगन से प्रभावित है) और माया का आवरण पार कर सत्य के द्वार तक पहुँचता है।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – नये पत्ते – पृ 86

करना होगा यह तिमिर पार –
देखना सत्य का मिहिर–द्वार–
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय–
लड़ना विरोध से द्वन्द्व–समर,
रह सत्य मार्ग पर स्थिर–निर्भर–
जाना, भिन्न भी देह, निज घर निःसंशय।[1]

ऐसा ही ऊर्ध्वगमन ''तुलसीदास'' के अन्त में दिखाई देता है। ये ऊर्ध्वगमन ''धिक् धाए तुम यो अनाहूत'' के पश्चात होता है। जब रत्नावली के रूप में तुलसी को मां शारदा देवी की मूर्ति दिखाई देती है। फलतः तुलसी का मन ऊर्ध्वलोक में चला जाता है, उसे यह नहीं समझ में आता कि उस शून्याकाश ऊर्ध्व (चरम ऊंचाई) क्या है, जहां समस्त शून्य घुमड़ते हुए धुंए के अनन्त समुद्र सा प्रतीक होता हैं जहाँ चन्द्र तारे भी डूबते से है क्या ऊपर क्या नीचे कुछ समझ में नहीं आता। समस्त सीमाओं का अवसान होता है, और आनन्द की अवस्था में समस्त द्वन्द मिट जाता है। ऊर्ध्वगमन की यह अवस्था दार्शनिक कवि अरविन्द के ''सावित्री'' काव्य में भी कुछ–कुछ इसी प्रकार की है।[2] ऐसे स्थल पर अरविन्द दर्शन का स्पष्ट प्रभाव नकारा नहीं जा सकता।

रवीन्द्रनाथ की भक्ति (जिसमें कर्मयोग और मानव सेवा का भाव निहित है कि अभिव्यक्ति भी निराला के काव्य में हुई है। यहाँ साधना किसी मंदिर में नहीं बल्कि संसार के व्यापार में प्रतिष्ठित है।

साधना आसन हुई
संसार के व्यापार में.
सत्य की अनवद्यता से

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – तुलसीदास – छन्द 35
2. धनञ्जय वर्मा – निराला काव्यःपुनर्मूल्यांकन – पृ0 160

आ गये विस्ता में ।[1]

रवीन्द्र ने इसी स्वर्ण तुल्य भारत भूमि पर मरना चाहा (मारिते चाइना आमि सुन्दर भुवने) तो निराला ने भी इस भूमि को धन्य कहा और स्वर्ग की उपमा दी। रवीन्द्र नाथ टैगोर भी मानवतावादी थे, उनकी मानवतावादी दृष्टि से निराला ने भी प्रकाश ग्रहण किया। यह निर्विवाद सत्य है। क्योंकि रवीन्द्र जहाँ "मानुषेर चेये बड किछु नाई" कहते है तो निराला "तुम हो महान, तुम सदा हो महान" कहते हुए मानव की श्रेष्ठता का उद्घोष किया है–

तुम हो महान, तुम सदा हो महान
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता
ब्रह्म हो तुम
पद–रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व–भार।[2]

निराला ने इस मानवतावादी दृष्टिकोण में रवीन्द्र के प्रभाव की स्वीकृति में युग के प्रभाव को अस्वीकृति नहीं दी जा सकती। रवीन्द्र ने "नवजातक" में कहा था, कि वास्तविक जगत के सारे रास्ते उनके जाने पहचाने है, वे उसके ऋण का बोध करते हैं, उसके आह्वान को मानते है, जहाँ दुख है, व्याधि है, कदर्यता है, वहां वे रामांस की चादर फेंकर लौह कवच धारण करते हैं। निराला में भी यह लौह कवच धारण करने की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही रही।[3] "नर्गिस" की रोमांटिक भाव–धारा में भी जगत के सौन्दर्य का आख्यान हुआ। "वह तोड़ती पत्थर" की श्रमिका से निराला का भाव तादात्म्य भी इसी समाजिक चेतना का परिणाम है। यह कहना न होगा कि रवीन्द्र नाथ की रचनाओं से प्रभावित होकर उन्होंने मानव और प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण करने की प्रेरणा प्राप्त की है।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – बेला – पृ0 74
2. सूर्यकान्त निराला – परिमल – पृ0 205
3. धनञ्जय वर्मा – निराला काव्य पुनर्मूल्यांकन – पृ0 227

निराला ने तुलसीदास का पर्याप्त गंभीर अध्ययन किया था। और वे उनकी भक्ति और उनके दार्शनिक चेतना से प्रभावित थे। जिस प्रकार तुलसीदास जी ने भक्ति के क्षेत्र में काम,क्रोध, मद, लोभ आदि विकारों को "नरक का पंथ" कहा उसी प्रकार निराला भी प्रभु से इन विकारों को दूर करने की प्रार्थना करते है।

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ
सब परिहरि रघुवीरहि भजहु भजहि जेहि संत।[1]
× × × ×
मानव का मन शान्त करो हे
काम, क्रोध, मद, लोभ दंभ से
जीवन को एकान्त करो हे।[2]

ऐसे ही प्रभाव ग्रहण के सम्बन्ध में डा0 वचनदेव कुमार ने कहा कि तुलसी और निराला प्रवृत्या एवं मूलतः भक्त हैं। ----- दोनों के अधिकांश गीतों में भक्ति की मंदाकिनी प्रवाहित दीखती है।[3] इस सन्दर्भ में नरेश मेहता का कथन है कि "अर्चना" आज के तुलसीदास को "विनय गीतिका" है और निराला नये युग की "अरूणा" की अर्चना कर रहे हैं। कोई खींचतान नहीं है युक्ति युक्त ही है।[4]

"गीत गुंज" और "सान्ध्य काकली" के गीतों में बंगला कवि चण्डीदास, गोविन्द दास संस्कृत कवि जयदेव, मैथिली के कवि शेखर विद्यापति और हिन्दी के सूरदास, मीरा और अन्य कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों और गीतकारों की छायाध्वनियां हैं। "अर्चना" संग्रह की गीत संख्या 105 में "घन आये घनश्याम न आयें" की ध्वनि सुनाई देती है। इसी प्रकार "आराधना" के गीत 70 में "बांसुरी बजी लाज कुल तजी" का ध्वनि व्याप्त है।

---

1. गोस्वामी तुलसीदास – सुन्दरकाण्ड – दोहा संख्या 38
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – अर्चना – गीत–48 – पृ0 64
3. प्रेमनारायण टण्डन (सं0) – रसवंती – पृ0 181
4. ओंकार शरद – निराला स्मृति ग्रंथ – पृ0 157

इस प्रकार मध्ययुग के मर्मियों भक्तों एवं संतों की भूमिका का उन्होंने आधुनिक युग की भूमिका पर पूरा निर्वाह किया है। निराला के सामने भी भक्तिकालीन परिवेश की भांति दो–दो संसार है।(1)राग, द्वेष, अर्थ, काम, लोभ, मोह से भरा प्रपंचात्मक संसार और (2) उच्चत्तर नैतिक और अध्यात्मिक मूल्यों का संसार।

निराला के सामने भी यही दोनों संसार थे कवि आस्थावान है, और दृढ़ भी इसलिए वह उच्चत्तर नैतिक और अध्यात्मिक मूल्यों के संसार को वरण करता है, और प्रपंचात्मक जग के पार जाने का उद्घोष – 'हमें जान है जग के पार'

भक्ति द्वैत भाव पर आधारित है और द्वैतवाद को उपनिषदों में भ्रम कहा गया है श्रुतियों में कहा गया है कि –

नेह नानास्ति किंचन
मृत्योः मृत्युमाप्नोतिय इह नानेव पश्यति ।[1]

छान्दोग्य उपनिषद भी "एकमेवाद्वितीयमस्ति" कहकर इसी तथ्य का समर्थन करता है। निराला भी इसे ही अपना समर्थन देते हुए कहते है –

एक ही है, दूसरा नहीं है कुछ –
द्वैव भाव ही है भ्रम।
तो भी प्रिये,
भ्रम के ही भीतर से
भ्रम के पार जाना है।[3]

निष्कर्षतः निराला ने विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी सारदानन्द, अरविन्द, रवीन्द्र से तो प्रभाव ग्रहण किया ही, उपनिषदों के भी ऋणी रहे। मध्यकालीन भक्त एवं संत कवियों से प्रभाव ग्रहण करने में भी वे नहीं हिचके। इन समस्त प्रभावों के सामंजस्य से

---

1. वृह – 4/4/19
2. छान्दोग्य उपनिषद् – 6/2/1
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 253

उनका काव्य निस्संकोच ही उदात्त बन सका है। इसमें कोई शक नहीं।

समाहार –

भक्ति हमें लोक चेतना से जोड़ती है। अर्थात भक्ति चेतना में लोकोन्मुखता होती है। भक्ति मूलतः संवेदना का ही रूप है। छायावादी भक्ति विशेषकर निराला की भक्ति संवदेना की इसी गहराई की बात करती है। निराला पूर्व भक्ति का स्वरूप वैयक्तिक ही रही। भारतेन्दु युग तक भक्ति के क्षेत्र में कोई नया तत्व जुड़ता नहीं दिखाई देता, लेकिन द्विवेदी युग में भक्ति को आधुनिक सन्दर्भ से जोड़ा गया। यह नया तत्व है, मानवतावादी मूल्य इस मूल्य को ग्रहण करते हुए भक्ति सामाजिक मूल्यों के प्रति खड़ी हुई। निराला के काव्य में भक्ति की यह सार्वजनिकता विशेष रूप से फलित दृष्टिगोचर होती है।

भक्ति मानव जीवन की वह विशेष धारा है, जिसकी आर्द्र–शीलता को ज्ञान रश्मियों से कभी उष्मित नहीं किया जा सकता । इसलिए इसकी अप्रहित धारा भारतीय मानव की प्रथम भावाभिव्यक्ति वेदों के साथ अन्तःपृक्त मिलती है। इस अप्रतिहत धारा के प्रवाह में कवि निराला के काव्य का भी भक्ति प्रवाह घुला–मिला दिखाई देता है। निराला की दार्शनिक पृष्ठभूमि मध्यकालीन भक्ति काव्य के सदृश ही है। उनकी रहस्यवादी धारा निर्गुण भक्ति के नूतन वसन वलियत स्वरूप सिर्फ ये है कि निर्गुण का रहस्यवाद जहाँ साधनात्मक हैं वहाँ निराला में भावात्मक हो गया है। इस प्रकार निराला के काव्य में जैसे कबीर जायसी की परम्परा का सम्यक निर्वाह है, उसी प्रकार सगुण मार्गी तुलसी और मीरा की तन्मयता और अनन्यता भी परिलक्षित है।

विकास क्रम की दृष्टि से निराला के काव्य में भक्ति भावना का विकास उत्तरोत्तर बढ़ते हुए रूप में देखा जा सकता है। अपनी प्रारम्भिक रचना संग्रह "परिमल" के "प्रार्थना" शीर्षक कविता में "जग को जयोतिर्मय कर दो" की प्रार्थना करते हुए निराला ऐसे दिखाई देते है मानों वह अपने काव्य रचना का अभिप्राय प्रस्तुत कर रहे हैं। क्योंकि उनकी "नाव डोलने लगी" प्रखर धार के तोड़ने से "संभालो जीवन–खेवन हार" को पुकारने लगे।

इसके बावजूद भी इस प्रकार की भक्ति परक रचनाओं की संख्या में कोई विशेष वृद्धि नहीं दिखाई देती। इसके पीछे भी एक महत्वपूर्ण कारण था। वह ये कि समाज में असुर प्रवृत्ति के लोगों की वृद्धि हो रही थी, जनसाधारण के प्रति अन्याय एवं शोषण का बोल बाला बढ़ रहा था इसलिए निराला इन दुष्प्रवृत्तियों की ओर झुके, और स्वयं वह अपने काव्य अस्त्र से ही इस पर प्रहार नहीं किये बल्कि असुर विनासिनी मां दुर्गा का भी आह्वान किया ।

एक बार बस और नाच तू श्यामा ।
सामान सभी तैय्यार
कितने ही हैं असुर, चाहिए कितने तुझको हार।[1]

उनकी यह भक्ति भावना हमेशा बनी रही, कभी आत्ममुक्ति के रूप में तो कभी सार्वजनिक मुक्ति के रूप में अभिव्यक्ति पाती रही। उनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में वैयक्तिकता की प्रधानता है और परवर्ती रचनाओं में उनकी यही भक्ति भावना काफी सान्द्रता लिए हुए है। जो अपने रूप में समस्त जीव एवं जीवेतर की मुक्ति की प्रार्थना करता है। साथ ही साथ विपथ गामिय़ों को भी यह शिक्षा देता है।

रहते दिन दीन शरण भज ले
जो तारक सत वह पद रज ले।[2]
× × ×
हरि भजन करो भू–भार हरो।[3]

निराला की इस भक्ति भावना में रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त का प्रभाव तो है ही गोस्वामी तुलसीदास का प्रपत्ति भाव भी मुखरित हुआ है। निर्गुण संत कबीर की भांति इनके काव्य में ब्रह्म और जगत, माया आदि पर विचार भी किया गया है।

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – परिमल – पृ0 150
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 68
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – आराधना – पृ0 51

इस प्रकार भक्ति की परम्परा में महाकवि निराला ऐसे कवि हैं जिन्हें हम आधुनिक युग में छायावाद का सफल भक्त कह सकते हैं। जिसने अपनी भक्ति भावना से प्रभु के चरण में नित्य दास की भाँति "अर्चना" निवेदित की और "अराधना" के गीत गाये। और अन्त में वे अपने भक्त हृदय की कामना पूर्ण कर सकने में सफल हुए। जीवन के सान्ध्य बेला में भक्त निराला ने इसकी स्वीकृति भी दी। यावत् जीवन विरोध और संघर्ष से जूझने वाले निराला जब असहाय हो शय्याशायी हो गये, तब उन्हें श्याम के दर्शन हो गये –

जिधर देखिये, श्याम विराजे ।[1]

* * * * *

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – सान्ध्य काकली – पृ0 24

षष्ठ अध्याय

::: उपसंहार :::

:– उपसंहार –:

आधुनिक हिन्दी काव्य में भक्ति–चेतना विभिन्न परिवर्तित स्वरूपों के बीच से उभरी वह भावना है, जो मध्यकालीन साम्प्रदायिक भावना से दूर इष्ट के लोकव्यापी ओर चिरकालिक रूप की मान्यता प्रदान करती है। इस युग में कृष्ण और राम परम्परागत अवतारों या परब्रह्म स्वरूप में अवतरित न होकर परोपकारी, राष्ट्रोद्धारक जनहितकारी, लोकपालक, लोकरंजक रूप में उपस्थित हुए हैं।

आधुनिक कवि यद्यपि युग के प्रभाव से प्रभावित हुआ, फिर भी अपनी वैष्णवी भावना को नहीं छोड़ सका। फलतः आधनिक युग में ब्रह्मत्व की संकल्पना से सम्बद्ध अलौकिक रूप और महा मानवरूप दोनों ही दिखाई देते हैं। इस भाव भूमि पर कवि भक्ति का पारम्पारिक गायन तो करता ही है, साथ ही संकल्पनाओं को भी जोड़ता जाता है।

भारतेन्दु–युग प्राचीन और नवीन का संगम है। इस युग के कवियों की विचारधारा में प्राचीनता के प्रति मोह कम दिखाई देता है, लेकिन जहां तक भक्ति–चेतना का सम्बन्ध है, वही पुरानी मध्यकालीन भक्ति भावना, नवधा भक्ति के आधार पर उपास्य देव के प्रति श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण आदि के रूप में व्यक्त होती रही। पूर्व की ही भांति बहुदेवों पासना के भी दर्शन होते हैं। अवतारवाद, मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड में भी नवीनता का विशेष आग्रह दिखाई नहीं देता, वही परम्परागत रूप ही दृष्टिगोचर होता है। इस युग के अग्रणी कवि भारतेन्दु जी परम वैष्णव भक्त थे। इन्होंने भगवान् श्री कृष्ण को ही अपना उपास्य माना। उन्ही के चरण–शरण में अपनी भक्ति लता को हरी भरी की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अवतारवाद के प्रशंसक हैं, उन्होंने अपने एक पद में दशावतार का एक ही साथ वर्णन प्रस्तुत किया है –

जयति वेणुधर चक्रधर शंखधर
पद्मधर गदाधर श्रृंगधर वेत्रधारी ।
मुकुटधर क्रीटधर पीतपट–कटिनधर,
कंठ–कौस्तुभ–धरन दुखहारी।

मत्स को रूप धरि वेद प्रगटित करन,

कच्छ को रूप जल मथन कारी।

दलन हिरनाच्छ वाराह को रूप धरि,

दत्त के अग्रधर पृथ्वि भारी।

रूप नरसिहं धर भक्त रच्छा–करन,

हिरनकश्यप–उदर नरव बिदारी।

रूप बावन धरन छलन बलिराज को,

परसुधर रूप छत्री संहारी।

राम को रूप धर नास रावन करन,

धनुषधर तीरधर जित सुरारी।

× × ×

जयति दशरूप धर कृष्ण कमलानाथ,

अतिहि अज्ञात लीला बिहारी ।[1]

इन समस्त अवतारों के गुणों के गायक भारतेन्दु कृष्ण के ही अनन्य भक्त थे। राधा और कृष्ण के सन्दर्भ में अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए भारतेन्दु जी कहते है कि –

''सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के।[2]

भारतेन्दु के इस कथन में उनका सख्य और दासत्व स्पष्ट हो जाता है। भारतेन्दु युग के अन्य कवियों ने भी दास्य और विनय भावनाओं से प्रेरित होकर शिव, काली, दुर्गा, गणेश आदि देवी देवताओं की उपासना की।

भारतेन्दुयुग नवजागरण का काल था। जहाँ प्राचीन रूढ़ियों में परिष्कार एवं नवीनता की आवश्यकता महसूस की जाने लगी थी। फलस्वरूप भक्ति चिंतन का स्वरूप समाजोन्मुख

---

1. कल्याण (संतवाणी अंक) – पृ0 512
2. ब्रजरत्न दास (सं0) – भारतेन्दु ग्रंथावली – पृ0 56

होता दिखाई देता है। भक्ति के इस दिशा परिवर्तन के पीछे तत्कालीन स्थितियों का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। आधुनिक युग में अंग्रजों का अत्याचार जब सीमा का अतिक्रमण करने लगा तब भारतवासियों ने अपना विरोध प्रकट किया।साथ ही साथ भारतेन्दु युग के कवियों ने भगवान का भी आह्वान किया कि –

"कहाँ करूणानिधि केशव सोये।
जगत नेक न जदपि बहुत विधि भारतवासी रोयें।[1]

भारतेन्दु युगीन भक्ति का आलम्बन राम, कृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवी देवता भी हैं। भगवान की लीलाओं के साथ ही साथ इस युग के भक्त कवियों ने प्रभु की लीला भूमि जैसे वृन्दावन, मथुरा, काशी, अयोध्या आदि के प्रति भी अपनी श्रद्धा प्रकट की है। इस युग की भक्ति में राम एवं कृष्ण के निर्गुण तथा सगुण दोनों रूपों की व्याख्या की गयी है। इस युग के कवियों ने भी ब्रह्म की सत्ता के प्रति अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए, उसे अलख, अनादि, अजेय अचिंत्य, अगम्य आदि कह कर उसकी उपसना की है निर्गुण संत कवियों की भांति ही इस युग के कवियों ने सद्‌गुरू की महत्ता, आत्मा–परमात्मा पर विचार, सत्संग की सर्वश्रेष्ठता तथा हरिनाम महिमा पर प्रकाश डाला है। सगुण भक्ति में राम और कृष्ण दोनों को मान्यता मिली, लेकिन भक्ति परक रचनाओं में कृष्ण काव्य तथा मधुरोपासना का बहुलांश है।

इस प्रकार भारतेन्दु युग की भक्ति में राम और कृष्ण के निर्गुण तथा सगुण दोनों रूपों की व्याख्या की गयी है। यहां एक तरफ कबीर की सी वैराग्यमूलक अक्खड़ता है, तो दूसरी तरफ मीरा की सी तमन्यता, तो तीसरी तरफ तुलसी और सूर की सी दीनता भी स्पष्ट दृष्टिगोचर है। कुल मिलाकर इस युग में भक्ति चेतना का स्वरूप परम्परागत ही दिखाई देता है। भारतेन्दु युग नवजागरण का युग था, जिसमें जीवन और समाज में नई चेतना का प्रादुर्भाव हुआ, फिर भी काव्य जगत में नवोन्मेष मुख्य न होकर गौण रूप में दिखाई देता है। इस युग की नवीन चेतना राजभक्ति और देशभक्ति के रूप में प्रकट हुई

---

1. ब्रजरत्नदास (सं0) – भारतेन्दु ग्रंथावली – पृ0 633

है। राजभक्ति का स्वर देशभक्ति की तुलना में अधिक भास्वर है। यही कारण है कि इस युग में आशावादिता का अभाव दिखायी देता है। भारतेन्दु युग की भक्ति स्वान्तः सुखाय न होकर बहुजन हिताय की भावना का पोषण करती है। भक्ति का यही बहुजन हिताय वाला रूप इस युग में जन्म लेता है, जो परम्परागत भक्ति से अपनी पृथकता सिद्ध करती है और आगे बढ़ती हुई द्विवेदी युग की नींव बन जाती है।

द्विवेदी युग में आते ही धार्मिक कट्टरता में युगान्तकारी परिवर्तन हुआ। •इस युग में धार्मिक भावना का प्रमुख आधार मानवतावादी विचारधारा बनी। अब राम और कृष्ण के परम्परागत स्वरूप में परिवर्तन हो गया। उन्हें ईश्वर की कल्पना की ऊँचाई से उतार कर धरती की यथार्थता पर प्रतिष्ठित किया गया और उनमें मानवीय गुणों की प्रतिस्थापना कर मनुष्यों के निकट लाने का अदम्य साहस किया गया। इस काल में पुरतन विचारों का परित्याग तथा नवीन भावनाओं की प्रतिष्ठापना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इस युग में दो महाकाव्यों की रचना हुई, इन महाकाव्यों "साकेत" और "प्रिय प्रवास" में ऐसा ही प्रयोग किया गया है। स्वयं हरिऔध जी ने "प्रिय प्रवास" की भूमिका में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि "मैने श्री कृष्णचन्द्र को इस ग्रंथ में एक महापुरूष करके अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं।" इस प्रकार द्विवेदी युग के काव्य में युग बोध स्पष्ट मुखरित है। तत्कालीन परिदृश्य में ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसोफिकल सोसायटी आदि सुधारवादी संस्थाएं जनसाधरण के हृदय से मनोमलिन्य, ऊँच–नीच, छुआ–छूत आदि की भावनाओं को दूर करके सहृदयता एकता, मानव प्रेम, विश्व–बन्धुत्व आदि का प्रचार कर रही थी। हरिऔध जी ने युग की मांग के अनुरूप ही अपने चरित्रों की सृष्टि की। कृष्ण लोकोपकारी जीवन–चरित्र की भांति ही राधा के चरित्र में भी प्राणि मात्र की हितसंवर्द्धना को प्रमुखता प्रदान की। स्पष्ट है कि उपासना की पुरातन प्रणाली में पर्याप्त परिवर्तन उपस्थित हो गया। निवृत्ति की जगह प्रवृत्ति ने ले ली, जिससे कर्म को प्रधानता मिली। इतना ही नहीं ईश्वर की वास्तविक प्रतिच्छाया मनुष्य में देखी जाने लगी। मानव सेवा ही परम कर्तव्य समझा जाने लगा। कोरी और व्यक्तिगत साधना निर्मूल घोषित कर दी गयी। सामूहिक जनकल्याण की भावना को प्रश्रय दिया गया। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों में ही वास्तविक अध्यात्मिकता का दर्शन किया जाने लगा।

जो ईशकर्ता है हमारा दूसरों का भी वही,
है कर्म भिन्न परन्तु सबसे तत्व समता हो रही।

कहकर मानव से मानव की समानता का भाव व्यक्त किया गया।

द्विवेदी युग में भारतेन्दु युगीन राजभक्ति का स्वर मंद पड़ गया। इस युग में देश भक्ति का स्वर प्रमुख रूप से उभरा, जिससे द्विवेदी युग में राष्ट्रीय काव्य की आशातीत अभिवृद्धि हुई। भारतेन्दु काल जागरण काल था, उस समय जनता के समाने राष्ट्रीयता का जो स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सका था, वही द्विवेदी युग में प्रवेश करते ही बिलकुल स्पष्ट हो गयी।

भारतेन्दु-युगीन सुधारात्मक आन्दोलनों से प्रेरणा प्राप्त कर कवियों ने अपने काव्य मे जीवन को अधिक महत्व प्रदान किया। यही कारण है कि इस काल के साहित्य में प्राचीन रूढ़ियों और निरर्थक परम्पराओं का वर्जन दिखाई देता है। रीतिकालीन श्रृंगार–भावना जो भारतेन्दु युग में यत्र–तत्र दिखाई दे जाती है, उसका भी पूर्णरूपेण बहिष्कार कर दिया गया। इस युग के कवियों की दृष्टि जीवन के नवीन मूल्यों और आदर्शों के प्रति उन्मुख हुई। इस युग में आकर धार्मिक चेतना भी व्यापकता और विशदता को ग्रहण करती है। यहाँ भगवान के कारे गुणगान और सिद्धान्तों के आख्यान कम दिखाई देते है इसकी जगह पर अध्यात्मिकता और मानवता आदि के आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई। क्योंकि इस युग के कवियों का विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति मानव प्रेम से संभव है। इस प्रकार कवि का ईश्वर प्रेम, मानव प्रेम अथवा विश्व प्रेम में संक्रमित हो गया। बौद्विक युग होने के कारण इस युग में राम और कृष्ण का आदर्श मानव के रूप में चित्रण किया गया। अब राम और कृष्ण केवल साकार अवतारी रूप में न रहकर विश्वव्याप्त दृष्टिगोचर होते हैं।

भक्ति के क्षेत्र में वर्णित परम्परागत नवधा भक्ति की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की गयी।[1] इस नवीन व्याख्या के आलोक में इन्सानियत ही भागवत चेतना का प्रतिरूप है।

---

1. अयोध्यासिहं उपाध्याय हरिऔध – प्रियवास – षोड्श सर्ग – पृ0 217, 258

अतः द्विवेदी युग में उपासना की पुरानी परिपाटी में आमूल–चूल परिवर्तन दिखाई देता है। इन पर्याप्त परिवर्तनों के बावजूद भी जब कल्याण का कोई भी मार्ग नहीं दिखाई देता, जीवन नैया मझधार में डूबती प्रतीत होती है तब इस युग का कवि समस्त बौद्धिक प्रभाव को नकारते हुए यह स्वीकारने में संकोच नहीं करता कि – "सकल भांति हमें अब अम्बिके, चरणपंकज ही अवलम्ब है।"

अतः द्विवेदी युगीन कवियों में एक ओर जहाँ परम्परा का विरोध है, वहीं वे अपने अतीत के प्रति अटूट श्रद्धा, विश्वास व अनन्त प्रेम से जुड़े भी दिखाई देते है। ईश्वर की सर्वमयता में अपना विश्वास भी प्रकट करते हैं। द्विवेदी युग के कवियों ने शक्ति की आराधना भी की है। जिसमें मां भगवती, दुर्गा के रूप को प्रधानता दी गयी है। क्योंकि मां दुर्गा ही कलुष–नाशिनी और दुष्ट निकंदिनी के साथ ही साथ जगत की जननी भी है। इस प्रकार द्विवेदी युग में भक्ति की नवीन व्याख्या के साथ ही परम्परागत भक्ति–भावना को भी स्थान मिला है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

आधुनिक हिन्दी कविता का छायावाद युग तीन महापुरूषों विवेकानन्द, महात्मा गांधी और अरविन्द के व्यक्तित्व से प्रभावित था। इस युग के कवि प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी – शैवदर्शन, अद्वैत और भक्ति वेदान्त तथा अरविन्द दर्शन का आधार ग्रहण कर सामाजिक चेतना को एक नवीन दिशा प्रदान करते हैं। महाकवि निराला का चिन्तन स्वामी रामकृष्ण की साधना से अनुप्राणित है, जहां नवीन मानववाद का दर्शन है। जिसके अनुसार हिन्दू, मुस्लिम, सिख और इसाई सभी समान महत्व रखते है। तथा एक दूसरे से अभिन्न है इसी प्रेरणा को ग्रहण करते हुए निराला मां से ये प्रार्थना करते हैं कि "तोल तू उच्च नीच समतोल।" छायावादी कवियों की दृष्टि में सभी मानव परस्पर समान हैं, क्योंकि ईश्वर एक ही है – आत्मा भी परमात्मा से पृथक नहीं। उसे द्वैत मानना कोरी मूढ़ता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अतः मानव के प्रति मानवता एवं सौहार्दपूर्ण व्यवहार ही वास्तविक भक्ति, आराधना एवं अर्चना है।

द्विवेदी युग के कवि ईश्वर को मानवता के स्तर पर प्रतिष्ठित तो किये, लेकिन उनके मन में संकोच का भाव बना रहा।[1] इस कमी को या ये कहें कि इस संकोच को छायावाद के कवियों ने दूर कर दिया। इस युग के कवि मानव को "तुम हो महान, तुम सदा हो महान, है नश्वर यह दीनभाव आदि कह कर मानव में ईश्वरत्व की कल्पना को साकार कर दिया। फलस्वरूप भक्ति साधना इस युग में किसी मन्दिर में नहीं बल्कि संसार के व्यापार में प्रतिष्ठित हुई।

साधना आसन हुई
संसार के व्यापार में
सत्य के अनवद्यता से
आ गये विस्तार में।

छायवादी कवि मानव की महत्ता प्रतिस्थापित करते हुए निस्संकोच यह कहता है कि "मानव को समझों हे, देवों के आराधक, मानव के भीतर ईश्वर ही अविरत साधक।" क्योंकि जीवन के प्रतिश्रद्धा, मानव के प्रति आदर, जीवों के प्रति स्नेह यही प्रभु का पूजन है।

इस युग में भक्ति का आलम्बन सगुण साकार न होकर सगुण निराकार है। इस युग की भक्ति लोकोन्मुखी है। भक्ति की यही लोकान्मुखता समय के बदलते हुए मांग को पूरा करती है। इस प्रकार छायावादी काव्य विशेषकर निराला का काव्य अन्तः तथा बाध्य प्रभावों से सम्पृक्त होकर उच्चतम संस्कृति के साथ भक्ति की एक ऐसी पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। जिसमें वेदों की ईश्वर भावना, उपनिषदों का ब्रह्मवाद, वेदान्त की चिन्तनधारा तथा विवेकानन्द का व्यवहारिक वेदान्त एक साथ दिखाई देता है।

छायावाद के प्रादुर्भाव में निराशा, कुंठाग्रस्त परिस्थितियां ही उत्तरदायी हैं। फिर भी छायावादी कवि संसारिक क्रूरता एवं विष्णताओं से ऊबकर पलायन के मार्ग का पथिक नहीं बनता, बल्कि विराट शक्ति का आशिर्वाद पाने के लिए उससे अपना तादात्म्य स्थापन का श्लाध्य सानिध्य प्राप्त करता है। छायावादी काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि में मध्यकालीन भक्ति काव्य की प्रेरणा स्पष्ट परिलक्षित होती है। क्योंकि निर्गुण, सगुण की आराधना का

---

1. "राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं क्या" – मैथिली शरण गुप्त – साकेत

छायावादी स्वरूप भक्ति काल के ही अनुरूप है।

इस प्रकार छायवादी कवियों ने दार्शनिक तत्वों की सुरक्षा के साथ ही साथ सर्व प्रमुख धारा ''अद्वैत'' को एक ओर जीवन्त रूप प्रदान किया तो दूसरी ओर ''सर्वात्मवाद'' की पुर्नास्थापित करने का प्रयास किया। हमारे विवेच्य कवि निराला ने भी भक्ति की तात्विक सुरक्षा की, आर उन्होंने पूरे वैष्णव भाव से तुलसी की परम्परा में एक ओर शतशः भक्ति गीतों की रचना कर नवधा भक्ति और शरणागति के छवों अंगो की व्याख्या प्रस्तुत की है तो दूसरी ओर शक्ति की आराधना में अपने भाव सुमनों को अर्पित किया।

अतः छायावादी काव्य में विशेषकर निराला के काव्य में परम्परागत भक्ति का अनुपालन तो हुआ ही, विशेष बात ये है कि धर्म और ईश्वर की आध्यात्म से आगे मनुष्य और समाज को जोड़ने के उपक्रम में भी एक ओर ''दलित जन पर करो करूणा'' जैसी प्रार्थना व्यक्त हुई तो दूसरी ओर ''भगवान बुद्ध के प्रति'' संबोधन गीत है जो विश्व जीवन में करूणा की ज्योति फैलाने का जागरण निरूपित करता है।

निराला की आध्यात्मिक भावना में आत्मिक प्रेम की अनुभूति विशेष रूप से निहित है। आत्मिक–प्रेम की अनुभूति ही व्याक्ति में औदार्य की भावना प्रसूत और विकसित करती है, और जीवन को आस्थामयी स्वरूप प्रदान करती है। निराला के काव्य में इस आस्था का दर्शन एकाधिक कविताओं जैसे–''भगवान बुद्ध के प्रति'', ''सुन्दर हे सुन्दर'', ''जन जन के जीवन के सुन्दर'', ''धूलि में तुम मुझें भर दो'' तथा '' राम की शक्ति पूजा आदि में बड़ी ही निष्ठा के साथ प्रकट हुई है। व्यापक संवेदना और मानववादी विचारों के कवि निराला ने वेदान्तिक अद्वैतवादी और पौरूष –विद्रोही अपने व्यक्तित्व से स्वच्छ–न्दतावादी काव्य शास्त्र को एक अभिनव दृष्टि प्रदान की है। ''परिमल'' से लेकर ''सांन्ध्यकाकली'' के गीतों के प्रणयन तक विविध और व्यापक आयाम लेती हुई उनकी कविता स्वयं में पूर्णता अर्जित करती है। जो एक श्रेष्ठ कलाकार की निस्संगता का आख्यान तो है ही भाव और शिल्प प्रभाव और परिणति में भी वह हमारी सांस्कृतिक, साहित्यिक विरासत का एक नूतन परिवेश निश्चित करती है।

निराला का स्वर कभी भी एकतान नहीं रहा न काव्य में और न ही गद्य में। प्रत्येक संग्रह में उनके स्वर के विवध आयामों को देखा जा सकता है। उनके प्रथम संग्रह ''परिमल'' में ही एक तरफ '' जूही की कली'' का उन्मुक्त प्रणय आख्यान है तो दूसरी तरफ ''विधवा'' तथा ''भिक्षुक'' जैसी यथार्थ वादी, करूणा पूरित मर्मभेदी स्वर। तीसरी तरफ ''यमुना के प्रति'' कविता की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है, तो चौथी तरफ ''जागों फिर एक बार'' तथा ''बादल राग'' जैसी कविताओं में क्रांन्ति का तुमुल उद्घोष ''शिवाजी के पत्र'' के माध्यम से राष्ट्रीय भावना को जागृत करता दिखाई देता है। सबसे महत्वपूर्ण स्वर भक्ति का है जिसकी शुरूआत कवि अपनी प्राराभिक रचना में ही करता है और प्रभु को जीवन नैया के खेवन हार के रूप में वरण करता है तथा अपना विश्वास प्रकट करता हैं।

निराला यद्यपि स्वच्छन्दता वादी कवि हैं तथपि वे स्वच्छन्दतावादी कल्पना विलासी, स्वप्न दृष्टा न होकर एक चिन्तक के रूप में दिखाई देते हैं। उनके चिन्तन में सर्वोच्च भागवद् चिन्तन तो है ही जन साधारण का चिन्तन भी यथेष्ठ मात्रा में सम्मिश्रित है। इसी सम्मिश्रण के कारण उनका काव्य सुरूचि पूर्ण एवं दार्शनिक सत्य के साक्षात्कार के अधिक निकट है।

निराला के पूर्ववर्ती और परवर्ती सभी काव्य संग्रहो में उनके विविध विचार धाराओं का सम्मिश्रण व्याप्त है। इसी परिपाक से उनके काव्य की पृष्ठभूमि में एक नवीन दार्शनिक सांस्कृतिक काव्य का जन्म होता है। जो चिन्तन की विविधताओं को आत्मसात करके मुख्य रूप से राष्ट्रीय संस्कृति के रूप में व्यक्त होती है।

निराला का आध्यात्म संबंधी काव्य सामान्यतः अद्वैतवाद की भूमि पर प्रतिष्ठित है। जिसमें विवेकानन्द की सम्पूर्ण शिक्षाओं का प्रकाशन स्पष्ट है। ''परिमल'' की ''जागरण'' कविता में उनका विवेकानन्दी अद्वैतवादी रूप ही प्रकट हुआ है। लेकिन ''खेवा'' में कवि ईश्वर से जीवन-गत कठिन संघर्षे से उद्धार की याचना करता है।

सर्व साधन हीनस्य परा धीनस्य सर्वथा।
पाप पीनस्य दीनस्य कृष्ण एव गतेभर्म।

आगे कवि उस प्रकाशमयी सत्ता से सम्पूर्ण जीवन में छवि, मधु और सुरभि भर देने की याचना करता है।

> मेरे गगन मगन मन में, अयि
> किरण मयी विचरो
> तरू–तोरण–तृण–तृण की कविता
> छवि मधु सुरभि भरो –

इस प्रकार उनका अद्वैतवाद भी विशुद्ध अद्वैतवाद न होकर भक्ति भावना से समन्वित है। अपने परवर्ती परिवेश में निराला एक भक्त एवं साधक कवि के रूप में दिखाई देते हैं। यह उनकी कला का पुनः एक विकास है। एक अर्थ में यह कहना अनुचित न होगा कि यह मंत्रों और श्लोकों, भगवद् गीतों की कला का पुनरूत्सर्जन है। इस प्रकार पूरे काव्य विकास में निराला के काव्य का सर्वप्रमुख रूप क्रान्ति का है, विद्रोह का है, लेकिन उनका विद्रोह भी विध्वंसात्मक नहीं है, बल्कि नव निर्माणात्मक है। वे असुर निकंदनी माँ श्यामा का आवाहन भी नव निर्माण की वांछा से करते हैं। जहाँ असुर प्रकृति के लोगों का नाश हो और सद्वृत्ति का प्रसार हो, निराला का युग असुर प्रवृत्ति के वृद्धि का ही युग था। निराला एक भक्त है। अतः स्वाभाविक है कि उनकी वैयक्तिक और सामाजिक संवेदना में गहरी पीड़ी और व्यंग्य का समावेश हुआ। मानव को महत्ता प्रदान करते हुए निराला उसे "स्पर्शमणि" की संज्ञा देते हैं। जिसके स्पर्श से हृदय में चेतन प्रकाश फैल सकता है।

> स्पर्श मणि तू ही, अमल अपार–––
> व्यष्टि में सकल सृष्टि का सार–[1]

मानव के ऐसे महत्व निर्धारण के कारण निराला में जन–जन के प्रति व्यापक सहानुभूति का भाव है। ऐसी ही सहानुभूति की चरम पराकाष्ठा वहाँ दिखाई देती है जहाँ अशांत मानव के मन को शांत करने के लिए कवि प्रभु से प्रार्थना करता है।

---

1. निराला –गीतिका –पृ0 – 29

मानव का मन शांत करो हे।

इस प्रकार की भावना रखने वाला कवि निस्संदेह भारतीय चिंतन धारा का आस्तिक एवम् आस्थावान् भक्त होगा। विविध धर्मिक सम्प्रदायों में ब्रह्म और जगत को लेकर चाहे जितने मतभेद रहे हों, लेकिन निराला की उदात्त मानवीय मूल्य स्वीकार्य थे। भारतीय वेदान्त भी यही उद्घोष करता है कि सृष्टि ब्रह्म की अभिव्यक्ति है "ब्रह्म" ही एक से "बहु" हो गया। मानव आत्मा उसी का अंश है। महाकवि निराला ने इस सिद्धान्त का सम्पोषण किया, और व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों रूपों में ईश्वर के प्रति अपनी आस्था और विश्वास को निवेदित किया तथा जीवन के अन्तिम क्षणों में "जिधर देखिए श्याम बिराजे" जैसी अभिव्यक्ति की।

निराला की प्रार्थना कहीं भी व्यष्टि के लिए निवेदित नहीं है, वरन् प्रत्येक स्थल पर उनकी समष्टि भावना ही देखने को मिलती है। "परिमल" में भक्त कवि समस्त जग को ही ज्योतिर्मय करने का प्रार्थना करता है। निराला का व्यक्तित्व ध्वंस, सृजन, विनाश, निर्माण, प्रलय, सृष्टि के ताने बाने से बना हुआ है। यदि निराला "गीतिका" में वीणावादिनी से "नवगति" "नवलय" की कामना करते हैं तो "आराधना" में रूद्र से जीर्ण–शीर्ण, साज सज्जा के विनाश और नव–प्रकीर्ण की कामना व्यक्त करते हैं। इस प्रकार के उदात्त नैतिक, सर्वजन कल्याण की भावना को धारण करने वाले निराला निस्संन्देह एक निष्काम सृजनात्मक भक्त हैं।

× × × × × × × ×

परिशिष्ट

:: **परिशिष्ट** ::

प्रतिनिधि काव्य रचनाएँ

1.	अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध	–कल्पलता	–गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ
2.	अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध	–वैदेही वनवास	–हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस
3.	अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध	–कृष्ण शतक	
4.	अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध	–परिजात	–हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस
5.	अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध	–प्रियप्रवास	–हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस
6.	जयशंकर प्रसाद	–चित्राधार	–भारती भण्डार, इलाहाबाद
7.	जयशंकर प्रसाद	–काननकुसुम	–भारती भण्डार, इलाहाबाद
8.	जयशंकर प्रसाद	–करूणालय	–भारती भण्डार, इलाहाबाद
9.	जयशंकर प्रसाद	–झरना	भारती भण्डार, इलाहाबाद
10.	जयशंकर प्रसाद	–स्कन्दगुप्त	–भारती भण्डार, इलाहाबाद
11.	जयशंकर प्रसाद	चन्द्रगुप्त	भारती भण्डार, इलाहाबाद
12.	मैथिलीशरण गुप्त	–साकेत	साहित्य सदन चिरगांव, झाँसी–2021 वि0
13.	मैथिलीशरण गुप्त	–भारत भारती	–साहित्य सदन, झाँसी–2048 वि0
14.	मैथिलीशरण गुप्त	–द्वापर	साकेत प्रकाशन, चिरगांव, झाँसी
15.	मैथिलीशरण गुप्त	–यशोधरा	–साकेत प्रकाशन, चिरगांव, झाँसी
16.	मैथिलीशरण गुप्त	–झंकार	–साहित्य सदन, चिरगांव झाँसी
17.	मैथिलीशरण गुप्त	–शक्ति	–साकेत प्रकाशन, झाँसी
18.	मैथिलीशरण गुप्त	–जयभारत	–साहित्य सदन, झाँसी
19.	मैथिलीशरण गुप्त	–गुरूकुल	–साहित्य सदन, झाँसी
20.	मैथिलीशरण गुप्त	–नहुष	–साहित्य सदन, झाँसी
21.	मैथिलीशरण गुप्त	–विष्णुप्रिया	–साहित्य सदन, झाँसी
22.	मैथिलीशरण गुप्त	–पंचवटी	–साहित्य सदन, झाँसी
23.	मैथिलीशरण गुप्त	–हिन्दू	–साहित्य सदन, झाँसी
24.	मैथिलीशरण गुप्त	–सिद्धराज	–साहित्य सदन, झाँसी
25.	मैथिलीशरण गुप्त	–रंग में भंग	–साहित्य सदन, झाँसी
26.	मैथिलीशरण गुप्त	–स्वदेश–संगीत	–साहित्य सदन, झाँसी
27.	महादेवी वर्मा	–नीहार	–साहित्य भवन, प्रा0लि0, इलाहाबाद
28.	महादेवी वर्मा	–रश्मि	–साहित्य भवन, प्रा0लि0, इलाहाबाद
29.	महादेवी वर्मा	–नीरजा	–भारती भण्डार, इलाहाबाद
30.	महादेवी वर्मा	–सान्ध्यगीत	–भारती भण्डार, इलाहाबाद
31.	महादेवी वर्मा	–दीपशिखा	–भारती भण्डार, इलाहाबाद

32.	महादेवी वर्मा	–यामा	–किताबिस्तान, इलाहाबाद
33.	डा0 रामकुमार वर्मा	–कृत्तिका	–चन्द्रलोक प्रकाशन, इलाहाबाद
34.	सुमित्रानन्दन पंत	–वीणा	–इण्डियन प्रेस, प्रयाग
35.	सुमित्रानन्दन पंत	–पल्लव	–राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
36.	सुमित्रानन्दन पंत	–ज्योत्सना	–भारती भण्डार, इलाहाबाद
37.	सुमित्रानन्दन पंत	–युगांत	–लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद चतुर्थ स
38.	सुमित्रानन्दन पंत	–युगवाणी	–भारती भण्डार, इलाहाबाद
39.	सुमित्रानन्दन पंत	–ग्राम्या	–भारती भण्डार, इलाहाबाद
40.	सुमित्रानन्दन पंत	–स्वर्णकिरण	–राजकमल, प्रकाशन, दिल्ली–1971
41.	सुमित्रानन्दन पंत	–स्वर्णधूलि	–राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
42.	सुमित्रान्दन पंत	–उत्तरा	–राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
43.	सुमित्रानन्दन पंत	–रजतशिखर	–भारती भण्डार, इलाहाबाद
44.	सुमित्रानन्द पंत	–ज्योत्सना	–भारती भण्डार, इलाहाबाद
45.	सियारामशरण गुप्त	–आर्द्रा	–साहित्य सदन झाँसी
46.	सियारामशरण गुप्त	–नकुल	–साहित्य सदन झाँसी
47.	सियारामशरण गुप्त	–आत्मोत्सर्ग	
48.	सियारामशरण गुप्त	–उन्मुक्त	–साहित्य सदन झाँसी
49.	सियारामशरण गुप्त	–अनुरूपा	–सेतु प्रकाशन, झाँसी
50.	सियारामशरण गुप्त	–बापू	–साहित्य सदन चिरगांव, झाँसी 2004वि0
51.	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–अनामिका प्रथम	–भारती भण्डार, प्रयाग
52.	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–परिमल	–गंगा पुस्तक माला, लखनऊ
53.	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–गीतिका	–भारती भण्डार, प्रयाग
54.	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–अनामिका द्वितीय	–भारती भण्डार, प्रयाग
55.	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–तुलसीदास	–भारती भण्डार, प्रयाग
56.	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–कुकुरमुत्ता	–युगमन्दिर, उन्नाव
57	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–अणिमा	–युगमन्दिर, उन्नाव
58.	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–बेला	–हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स प्रयाग
59.	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–नये पत्ते	–हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, प्रयाग
60.	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–अर्चना	–निरूपमा प्रकाशन, इलाहाबाद
61.	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–आराधना	–साहित्यकार संसद, प्रयाग
62.	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–गीतगुंज	–हिन्दी प्रचारक पुस्तकमाला, काशी
63.	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–सान्ध्य काकली	–राजकमल प्रकाशन 1981, दिल्ली
64.	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–प्रबन्ध पद्म	–गंगा पुस्तक माला, लखनऊ
65.	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	–प्रबन्ध प्रतिमा	–गंगा पुस्तक माला, लखनऊ

66. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला —चतुरी चमार —किताब महल, इलाहाबाद
67. श्रीधर पाठक —भारत गीत —गंगा पुस्तक माला, लखनऊ 1985 वि0

:: सहायक ग्रन्थ ::

1. इन्द्रनाथ मदान – आधुनिक हिन्दी कविता का मूल्यांकन – हिन्दी भवन, इलाहाबाद 1962
2. डा0 उदयभानु सिंह – महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग – हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ
3. उषा मिश्र – प्रसाद का पूर्ववर्ती काव्य – साहित्य भवन – इलाहाबाद 1970
4. डा0 उर्मिला सिंह – भक्ति परम्परा में निराला – अभिनव भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
5. डा0 उर्मिला सिंह – छायावादी काव्य में भक्ति–तत्व – अभिनव भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
6. रमाशंकर सिंह – महाकवि निराला का निरालापन –
7. ओंकार शरद – निराला स्मृति ग्रन्थ – रचना प्रकाशन, इलाहाबाद 1969
8. डा0 कामिल बुल्के – रामकथा – हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
9. डा0 केसरी नारायण शुक्ल – आधुनिक काव्यधारा – सरस्वती मन्दिर, बनारस
10. डा0 केसरी नारायण शुक्ल – आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत, सरस्वती मन्दिर, बनारस
11. डा0 किशोरी लाल गुप्त – भारतेन्दु और उनके पूर्ववर्ती कवि – नागरी प्रचारिणी पत्रिका, बनारस
12. डा0 किशोरी लाल गुप्त – भारतेन्दु और उनक अन्य सहयोगी – हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय बनारस–1956
13. डा0 कमला प्रसाद पाण्डेय – छायावाद प्रकृति और प्रयोग – साहित्य वाणी, इलाहाबाद
14. डा0 कमला कान्त पाण्डेय – मैथिलीशरण गुप्त व्यक्ति और काव्य – रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली 1960
15. कल्याणमल लोढ़ा संपादित – बालमुकुन्द गुप्त:एक मूल्यांकन – अमिताभ प्रकाशन, कलकत्ता
16. कपिलदेव पाण्डेय – मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद – विद्या भवन, चौखम्भा, वाराणसी
17. श्री कृष्ण लाल (सं0) – ठाकुर जगमोहन सिंह – नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
18. ठाकुर गोपाल शरण सिंह – संचिता – इण्डियन प्रेस लि0 – प्रयाग 1939
19. गोविन्द त्रिगुणायत – कबीर का अभिव्यंजना कौशल –
20. गणपतिचन्द्र गुप्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – भारतीय भवन चण्डीगढ़ 1964
21 गंगाप्रसाद पाण्डेय – छायावाद और रहस्यवाद – राम नरायण लाल एण्ड सन्स, इलाहाबाद 1950
22. गंगाप्रसाद पाण्डेय – महीयसी महादेवी – लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1969
23. गंगाप्रसाद पाण्डेय – महाप्राण निराला – लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
24. गोपीनाथ कविराज – भारतीय संस्कृति और साधना – बिहार राज्य भाषा परिषद पटना 1969
25. गंगाधर मिश्र – युगाराध्य निराला – राष्ट्रभाषा विद्यालय, त्रिमोचन, काशी 1967
26. चौथी राम यादव – छायावादी काव्य एक दृष्टि –
27. डा0 चक्रवर्ती – प्रसाद की दार्शनिक चेतना – ग्रन्थम प्रकाशन, कानपुर 1965
28. आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय – तसव्वुफ या सूफीमत – नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, काशी

29. डा0 जितराम पाठक – आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय चेतना का विकास – राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद 1976
30. जयशंकर प्रसाद – काव्य कला तथा अन्य निबन्ध – भारती भण्डार, इलाहाबाद
31. जयदयाल गोयन्दका – नवधा भक्ति – गीता प्रेस, गोरखपुर
32. झाबरमल शर्मा (सं0) – बालमुकुन्द निबन्धावली – गुप्त स्मारक ग्रंथ प्रकाशन समिति – कलकत्ता 2007
33. प्रो0 तेज नारायण सिंह – निराला जीवन और साहित्य – राज प्रकाशन, पटना 1964
34. दूधनाथ सिंह – निराला: आत्महन्ता आस्था – नीलाम प्रकाशन, इलाहाबाद 1972
35. डा0 धनज्जय वर्मा – निराला काव्य और व्यक्तित्व – विद्या प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली 1960
36. डा0 धनज्जय वर्मा – निराला काव्य पुर्नमूल्यांकन – विद्या प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली 1973
37. डा0 नगेन्द्र – रीतिकाल की भूमिका – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
38. नगेन्द्र – आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियां – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1951
39. डा0 नगेन्द्र – हिन्दी साहित्य का इतिहास – नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली 1973
40. नन्ददुलारे बाजपेयी (सं0) – सूरसागर – नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
41. नन्ददुलारे बाजपेयी – आधुनिक साहित्य – भारती भण्डार, इलाहाबाद
42. नन्ददुलारे बाजपेयी – हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी – लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
43. नन्ददुलारे बाजपेयी – कवि निराला – मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली 1979
44 नारायण प्रसाद अरोड़ा (सं0) – प्रताप लहरी – भीष्म एण्ड ब्रदर्स, कानपुर
45. डा0नामवर सिंह– छायावाद ऐतिहासिक, सामाजिक विश्लेषण – सरस्वती प्रेस, बनारस 1955
46. डा0 नामवर सिंह – छायावाद युग – सरस्वती प्रेस, बनारस 1955
47. नरेश मेहता – आलोचना–2
48. डा0 पारस नाथ तिवारी – कबीर ग्रन्थावली – हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इला0 1961
49. डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल – गोरखवानी – हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सं0 2003 वि0
50. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल – हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय – हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ
51. परशुराम चतुर्वेदी – सूफी काव्य संग्रह – हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1951
52 परशुराम चतुर्वेदी – सुफी साधकों की भक्ति – गीता प्रेस, गोरखपुर (कल्याण भक्ति अंक) 2014 वि0
53. परशुराम चतुर्वेदी – हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक – हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर प्रा0 लि0 बम्बई 1962
54. परशुराम चतुर्वेदी – मीराबाई की पदावली – हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
55. डा0 परशुराम शुक्ल विरही – आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद – ग्रन्थम प्रकाशन कानपुर 1966
56. प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय – प्रेमघन सर्वस्व – हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
57. डा0 प्रभात दुबे – आधुनिक हिन्दी कृष्ण काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि – प्रगति प्रकाशन, आगरा 1984
58. डा0 प्रकाश चन्द्र गुप्त – आधुनिक हिन्दी साहित्य एक दृष्टि – आलोक प्रकाशन, बीकानेर 1952
59. पट्टाभिसीता रमैया – गांधी और गांधीवाद – शिव एण्ड कम्पनी, आगरा 1956
60. डा0 प्रेमशंकर – प्रसाद का काव्य – भारती भण्डार, इलाहाबाद 2012 वि0
61. प्रेम प्रकाश रस्तोगी – छायावाद और वैदिक दर्शन – आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली 1971

62. पद्म सिंह शर्मा, कमलेश – निराला – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1969
63. डा0 परमानन्द श्रीवास्तव – निराला – साहित्य अकादमी, दिल्ली 1988
64. डा0 बेनी प्रसाद – हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता – हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद 1931
65. बिनोबाभावे – गीता प्रवचन – ग्राम सेवा मंडल, वर्धा 1960
66. डा0 ब्रजेश्वर वर्मा – सूरदास – हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इला0 1950
67. ब्रजरत्नदास (सं0) – भारतेन्दु ग्रन्थावली – हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
68. ब्रजरत्नदास – भारतेन्दु हरिश्चन्द्र – हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
69. डा0 बच्चन सिंह – क्रांतिकारी कवि निराला – नन्दकिशोर एण्ड संस, वाराणसी 1961
70. डा0 वीणा शर्मा – निराला की काव्य साधना – हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली
71. बुन्द्धसेन नीहार – विश्व कवि निराला – रीगल बुक डिपो, दिल्ली 1975
72. विष्णुकान्त शास्त्री – भक्ति और शरणागति – लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1992
73. वियोगी हरि – सन्त सुधासार – सस्ता साहित्य मण्डल – दिल्ली 1953
74. बालकृष्ण शर्मा नवीन – उर्मिला – उत्तरचन्द कपूर एवं सन्स, दिल्ली 1957
75. वल्लभाचार्य – तत्वदीप निबन्ध – ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई
76. भगवान दास तिवारी – मीरा की भक्ति और उनकी काव्य साधना का अनुशीलन – साहित्य भवन 1974
77. डा0 भगीरथ मिश्र – हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास – लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 2015 वि0
78. डा0 भोलानाथ तिवारी – कवि प्रसाद – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1958
79. डा0 माता प्रसाद गुप्त – कबीर ग्रन्थावली – लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
80. महावीर प्रसाद द्विवेदी – रसज्ञ रंजन – साहित्य रत्न भण्डार, आगरा 1963
81. महादेवी वर्मा – पथ के साथी – राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 1992
82. डा0 मलिक मोहम्मद – वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1971
83. डा0 माताप्रसाद गुप्त – पद्मावत – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद 1963
84. महेन्द्र नाथ राय – नवजागरण और छायावाद – राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
85. यशोदानन्द अखौरी (सं0) – बालमुकुन्द गुप्त (स्फुट कविता) – भारत जीवन प्रेस, कलकत्ता 1976
87. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास – नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी
88. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – चिन्तामणि – इण्डियन प्रेस, प्रयाग
89. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – जायसी ग्रन्थावली – ना0प्र0 सभा, काशी 1949
90. डा0 रामचन्द्र मिश्र – श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व स्वच्छन्दतावादी काव्य – रणजीत प्रिन्टर्स, दिल्ली
91. डा0 रामकुमार सिंह – निराला और उनका तुलसीदास – पुस्तक संस्थान, कानपुर 1976
92. रामधारी सिंह दिनकर – संस्कृति के चार अध्याय – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
93. रामधारी सिंह दिनकर – आधुनिक बोध – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1973
94. रामवृक्ष सिंह, उमाशंकर सिंह – भारतीय धार्मिक पुनर्जागरण 1957
95. रामविलास शर्मा –निराला की साहित्य साधना – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

96. रामविलास शर्मा -- निराला – जन प्रकाशन गृह, बम्बई 1948
97. डा0 रामरतन भटनागर – कवि निराला – किताब महल, इलाहाबाद 1947
98. डा0 रामरतन भटनागर – निराला और नवजागरण – साथी प्रकाशन, सागर 1965
99. डा0 रामकुमार वर्मा – हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास 1958
100. रामनरेश त्रिपाठी (सं0) – कविता कौमुदी भाग–2 – हिन्दी मन्दिर, प्रयाग 1983
101. डा0 रतिभान सिंह नाहर – भक्ति आन्दोलन का अध्ययन – किताब महल, इलाहाबाद 1965
102. डा0 रमन नागपाल – आधुनिक हिन्दी काव्य में पलायनवाद – विभु प्रकाशन, साहिबाबाद 1977
103. डा0 रंजन – भारतेन्दु युगीन काव्य में भक्ति धारा – रचना प्रकाशन, इलाहाबाद 1975
104. रामेश्वर लाल खण्डेलवाल – आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
105. डा0 राजेश्वर दयाल सक्सेना – छायावाद स्वरूप और व्याख्या – अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर
106. शान्तिप्रिय द्विवेदी – युग और साहित्य – इण्डियन प्रेस, प्रयाग 1941
107. श्याम सुन्दर दास (सं0) – राधाकृष्ण ग्रन्थावली – इण्डियन प्रेस, प्रयाग
108. डा0 शिवपूजन सहाय – हिन्दी साहित्य और बिहार भाग–2 – बिहार राज्य भाषा परिषद, पटना
109. डा0 शुभलक्ष्मी – आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय चेतना – नचिकेता प्रकाशन, दिल्ली 1986
110. डा0 शम्भूनाथ सिंह – छायावाद युग – संरस्वती मन्दिर, जतनवर, वाराणसी 1952
111. डा0 शम्भूनाथ चतुर्वेदी – नया हिन्दी काव्य और विवेचना – नन्दकिशोर एण्ड संस, वाराणसी 1964
112. डा0 श्याम बहादुर वर्मा – श्री अरविन्द साहित्य दर्शन – अरविन्द प्रकाशन, दिल्ली 1974
113. डा0 सावित्री सिन्हा – ब्रजभाषा के कृष्ण काव्य में अभिव्यंजना शिल्प – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1961
114. सावित्री शुक्ल – संत साहित्य की सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि – विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ
115. डा0 सी0एल0 प्रभात – मीराबाई – हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई 1965
116. सिद्धनाथ तिवारी – निर्गुण काव्य दर्शन – अजन्ता प्रेस, पटना
117. डा0 सुषमा नारायण – भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति – हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली 1966
118. डा0 सुषमा पाल – छायावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि
119. डा0 सुरेशचन्द्र शुक्ल – प्रताप नारायण मिश्र जीवन और साहित्य – अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर
120. डा0 सी0पी0 राजगोपालन नायर – राम का स्वरूप – लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1991
121. डा0 सुधीन्द्र – हिन्दी कविता में युगान्तर – आत्मराम एण्ड सन्स, दिल्ली 1957
122. स्वामी सारदानन्द – भारत में शक्तिपूजा – रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर
123. डा0 सुरेन्द्र मोहन प्रसाद – शाक्त दर्शन और हिन्दी के वैष्णव कवि – अनुपम प्रकाशन, पटना 1981
124. सुमित्रानन्दन पंत – छायावाद का पुनर्मुल्यांकन – लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1965
125. डा0 हरवंश लाल शर्मा – भागवत दर्शन – भारत प्रकाशन, अलीगढ़
126. हरिभाऊ उपाध्याय – भागवत धर्म – सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली
127. हजारी प्रसाद द्विवेदी – कबीर – हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई
128. हरिशंकर शर्मा (सं0) – गर्भरण्डा रहस्य – अलीगढ़ 1976

129. हरिशंकर शर्मा (सं0) – शंकर सर्वस्व – गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
130. त्रिलोकी नारायण दीक्षित – हिन्दी संत साहित्य – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1963
131. डा0 श्रीपाल सिंह क्षेम – छायावाद की काव्य साधना –
132. ऋग्वेद – गीता प्रेस, गोरखपुर
133. यजुर्वेद – गीता प्रेस, गोरखपुर
134. छान्दोग्य उपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
135. श्वेताश्वतर उपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
136. मुण्डकोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
137. ईशोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
138. वृहदारण्यकोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
139. शांडिल्य भक्ति सूत्र – गीता प्रेस, गोरखपुर.
140. नारद भक्ति सूत्र – गीता प्रेस, गोरखपुर
141. विष्णु पुराण – गीता प्रेस, गोरखपुर
142. श्रीमद्‌भागवत गीता – गीता प्रेस, गोरखपुर
143. कूर्म पुराण – गीता प्रेस, गोरखपुर
144. अहिर्बुध्न्य संहिता – गीता प्रेस, गोरखपुर
145. दुर्गासप्तशती –
146. रामचरित मानस – गीता प्रेस, गोरखपुर

पत्र–पत्रिकाएँ

1. आनन्द कादम्बिनी – नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी (संग्राहलय से)
2. सरस्वती – बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पटना
3. मतवाला – नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
4. कल्याण भक्ति अंक – गीता प्रेस, गोरखपुर
5. कल्याण – संतवाणी विशेषांक – गीता प्रेस, गोरखपुर
6. नागरी प्रचारिणी पत्रिका – नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
7. ब्राह्मण – नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
8. नई धारा –